जैमिनीय-मिमांसा-भाष्यम्

आर्षमत-विमर्शिन्या हिन्दी-व्याख्यया सहितम्

(सप्तमो भाग)

व्याख्याकार :-

युधिष्ठिरो मीमांसकः

आचार्य-शबरस्वामि-विरचितम्

जैमिनीय-मीमांसा-भाष्यम्

आर्षमत-विमर्शिन्या हिन्दी-व्याख्यया सहितम्

[सप्तमो भागः]

व्याख्याकारः—
युधिष्ठिरो मीमांसकः

प्रकाशकः—
रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

प्रथम सस्करण—८००
संवत् २०५०; सन् १९९३
मूल्य— ५०.००

मुद्रकः—
नरेन्द्र कुमार कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

प्राप्ति-स्थान—
रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़-१३१०२१
(सोनीपत-हरयाणा)

भूमिका

शास्त्रीय वाङ्मय के हिन्दी और प्रान्तीय भाषाओं में अनुवाद की दृष्टि से मराठी और बंगाला भाषा का प्रमुख स्थान है। हिन्दी का क्षेत्र विस्तृत होने पर भी अनुवाद की दृष्टि से उच्च ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद स्वल्प हुआ है। महाभाष्य का शक संवत् १८७५ में सम्पूर्ण मराठी अनुवाद छप चुका था परन्तु हिन्दी में फुटकर आह्निकों का ही हिन्दी अनुवाद (जो शास्त्री आदि परीक्षाओं में नियत था) हुआ था। अतः मैंने विक्रम संवत् २०२९ में महाभाष्य का हिन्दी अनुवाद करने का निश्चय किया। इस दशा में दो अध्याय तक तीन भागों में प्रकाशित हुआ। उस समय विचार उत्पन्न हुआ कि व्याकरण तो चालू विषय है, पूर्वमीमांसा का विशेष परीश्रम से अध्ययन किया है और इसका प्रचलन भी बहुत स्वल्प है, इसलिये, महाभाष्य के हिन्दी अनुवाद के स्थान पर यदि मीमांसा शाबर भाष्य का अनुवाद किया जाय तो ज्यादा लाभकारी होगा। पर एक संशय मन में रहता था कि मीमांसा का अध्ययन करने के पश्चात् फुटकर रूप में थोड़ा बहुत अध्यापन कराया है, इस पर विशेष परिश्रम नहीं किया। अतः विगत चालीस वर्षों में बहुत कुछ भूल चुका होगा। परन्तु हिन्दी अनुवाद प्रारम्भ करने पर यह ज्ञात हुआ कि शास्त्रतत्त्व अभी मुझे यथावत् विदित हैं, बहुत आश्चर्य हुआ। इस पर मैंने मीमांसा के उपलब्ध सर्व प्राचीन व्याख्याकार शबर स्वामी के भाष्य की हिन्दी व्याख्या करने का विचार किया।

छहों दर्शनों में मीमांसा सबसे बड़ा दर्शन है, इसका क्षेत्र समस्त वैदिक वाङ्मय में व्याप्त है। अतः इसकी क्लिष्टता कुछ बढ़ जाती है। इसमें बारह अध्याय हैं, नौ अध्यायों में चार-चार पाद हैं और **तीसरे, छठे और दसवें** अध्यायों में आठ-आठ पाद हैं। इनके अतिरिक्त चतुरध्यायात्मक संकर्ष काण्ड है जिसे द्वादशाध्यायात्मक पूर्वमीमांसा का परिशिष्ट कहा जा सकता है। पूर्वमीमांसा के बारह अध्यायों में प्रतिपादित विषय संक्षेपतः निम्न प्रकार है—

१, प्रथम अध्याय **'प्रमाणलक्षण'** कहा गया है। इसके प्रथम पाद में विधि वाक्यों का प्रामाण्य, द्वितीय पाद में अर्थवाद एवं मन्त्र का प्रामाण्य, तृतीय पाद में मन्वादि स्मृतियों का प्रामाण्य और चतुर्थपाद में उद्भिद् आदि की नामधेयता (संज्ञा) का प्रामाण्य प्रतिपादित है।

२. द्वितीय अध्याय **'नानाकर्मलक्षण'** कहा गया है जिस के प्रथम पाद में अपूर्व आदि उपोद्घात, द्वितीय पाद में कर्म के भेद, तीसरे पाद में कर्मभेद प्रामाण्य के अपवाद और चतुर्थपाद में नित्य-काम्य प्रयोगों का भेद निरूपित किया गया है।

३. तृतीय अध्याय 'शेषविनियोगलक्षण' कहा गया है। इसके प्रथमपाद में अङ्गत्व के बोधक छह प्रमाणों में से श्रुति, द्वितीय पाद में लिङ्ग, तृतीय पाद में वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्या का विवेचन, चतुर्थ पाद में श्रुति आदि का परस्पर विरोध-अविरोध, पञ्चम पाद में प्रतिपत्तिकर्म, षष्ठ पाद में अनारभ्याधीत, सप्तम पाद में प्रधानोपकारक कर्म और अष्टम पाद में यजमान के कर्मों पर विचार किया गया है।

४. चतुर्थ अध्याय 'प्रयोजकाप्रयोजकलक्षण' कहा गया है। इसके प्रथम पाद में प्रधान का प्रयोजकत्व, द्वितीय पाद में अप्रधान का प्रयोजकत्व, तृतीय पाद में द्रव्य-संस्कार-कर्मों का फलादि और चतुर्थ पाद में मुख्य-गौण अङ्गत्वादि का विवेचन किया गया है।

५. पञ्चम अध्याय 'क्रमनियमलक्षण' कहा गया है। इसके प्रथम पाद में श्रुति-अर्थ-पाठ का क्रम, द्वितीय पाद में क्रमविशेष, तृतीय पाद में वृद्धि-अवृद्धि आदि और चतुर्थ पाद में श्रुति आदि में पूर्व-पूर्व प्राबल्य का निरूपण है।

६. षष्ठ अध्याय के प्रथम पाद में कर्मानुष्ठान में अधिकारी, द्वितीय पाद में अधिकारी के धर्म, तृतीय पाद में मुख्य के अभाव में प्रतिनिधि का ग्रहण, चतुर्थ पाद में कर्म का लोप, पञ्चम पाद में कालादि की विगुणता में प्रायश्चित्त, षष्ठ पाद में सत्र के अधिकारी, सप्तम पाद में पित्रादि का अदेयत्व और अष्टम पाद में लौकिक अग्नि में होम का निरूपण है।

७. सप्तम अध्याय के प्रथम पाद में प्रत्यक्ष वचनों से अतिदेश, द्वितीय पाद में पूर्वोक्त अतिदेश का शेष, तृतीय पाद में अग्निहोत्र नाम से अतिदेश और चतुर्थ पाद में लिङ्ग का अतिदेश प्रतिपादित है।

८. अष्टम अध्याय के प्रथम पाद में स्पष्ट लिङ्गों से अतिदेश, द्वितीय पाद में अस्पष्ट लिङ्गों से अतिदेश, तृतीय पाद में प्रबल लिङ्ग से अतिदेश और अतिदेश के अपवादों का निरूपण किया गया है।

९. नवम अध्याय के प्रथम पाद में ऊह का आरम्भ, द्वितीय पाद में साम का ऊह, तृतीय पाद में मन्त्र का ऊह और चतुर्थ पाद में मन्त्रोह पर प्रासङ्गिक विवेचन है।

१०. दशम अध्याय के प्रथम पाद में बाध के हेतु द्वार-लोप, द्वितीय पाद में द्वार-लोप का विस्तार, तृतीयपाद में बाध के कारण कार्यसम्बन्धी समानता, चतुर्थ पाद में बाधकारण के अभाव में समुच्चय, पञ्चम पाद में बाध के प्रसङ्ग से ग्रहादि, षष्ठ पाद में बाध के प्रसङ्ग से साम सम्बन्धी विचार, सप्तम पाद में बाध सम्बन्धी सामान्य विचार और अष्टम पाद में नञर्थ सम्बन्धी विचार है।

११. एकादश अध्याय के प्रथम पाद में तन्त्र का आरम्भ, द्वितीय पाद में तन्त्र एवं आवाप, तृतीय पाद में तन्त्र का विस्तार और चतुर्थ पाद में आवाप का विस्तार निरूपित किया गया है।

१२. द्वादश अध्याय के प्रथम पाद में प्रसङ्ग, द्वितीय पाद में तन्त्रियों (=साधारण धर्मियों) का निर्णय, तृतीय पाद में समुच्चय और चतुर्थ पाद में विकल्प का विवेचन है।

पूर्वमीमांसा के उपर्युक्त विषय विस्तार से पाठक इसके गुरुत्व का अनुमान कर सकते हैं। अनेक वर्षों से शारीरिक बाधाओं और दुःस्वास्थ्य के बावजूद मैंने इस कार्य का निर्वाह किया है। पिछले एक वर्ष से स्वास्थ्य की स्थिति दिन-प्रति-दिन बिगड़ती जा रही है। यथा कथञ्चित् नवम अध्याय की व्याख्या लिखी गई और अब मुद्रित होकर पाठकों के सामने आ गई है। भविष्य में यदि प्रभु की अनुकम्पा रही तो कार्य करूंगा। मैं ने सदा भगवान् कृष्ण के इस वचन को स्मरण रख कर कार्य किया है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ भगवद्गीता २।४०॥

इस वचन के अनुसार मैंने इस गुरुतम कार्य में से जितना भी सम्पन्न कर लिया, उसी से मुझे परम सन्तोष है। मुझे ऋषि-ऋण से उऋण होने में सहायता मिली, मैं अपना अहोभाग्य मानता हूं।

मुद्रण का कार्य मेरी अनुपस्थिति में ही हुआ है, मैंने प्रूफ भी नहीं देखे हैं। रामलाल कपूर ट्रस्ट स्थित संशोधकों ने मनोयोग से प्रूफ-शोधन किया है, एतदर्थ उनके लिए शुभ कामना करता हूं।

मार्गशीर्ष सं० २०५० — विदुषां वशंवदः—
दिसम्बर सन् १९९३ — **युधिष्ठिर मीमांसक**

मीमांसा-शाबरभाष्य-व्याख्या के नवम अध्याय की अधिकरण-सूची

प्रथमः पादः

द्वितीयः पादः

तृतीयः पादः

चतुर्थः पादः

मीमांसा-शाबर-भाष्यम्

(हिन्दी-व्याख्या-सहितम्)

नवमाध्याये प्रथमः पादः

[धर्माणामपूर्वप्रयुक्तत्वाधिकरणम् ॥१॥]

अष्टमाध्याये विशेषातिदेशलक्षणं वृत्तम्। इदानीमूहलक्षणं वर्तयिष्यामः। त्रिविधश्चोहः—मन्त्रसामसंस्कारविषयः। स इह प्राधान्येन वक्ष्यते। अन्यदपि किञ्चिदुपोद्घातेन प्रसंगेन च।

आदितस्त्वयमर्थश्चिन्त्यते लक्षणसिद्ध्यर्थम्। अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ ज्योतिष्टोमश्चोदाहरणम्। तत्र पृथग्धर्माः समाम्नाताः। तेषु संशयः—किं तेऽपूर्वप्रयुक्ता

व्याख्या—अष्टमाध्याय में विशेषातिदेश का लक्षण कहा गया है। अब ऊह का लक्षण कहेंगे। ऊह तीन प्रकार का है—मन्त्रविषयक, सामविषयक तथा संस्कारविषयक। वह यहां प्रधानरूप से कहा जायेगा। अन्य कुछ विषय भी उपोद्घातरूप से और प्रसङ्ग से कहे जायेंगे।

विवरण—अष्टमाध्याये विशेषातिदेशलक्षणम्—सप्तम अध्याय में सामान्यातिदेश लक्षण कहकर अष्टम अध्याय में विशेषातिदेशलक्षण कहा गया है। ऊह अतिदेश उपजीवी है अर्थात् अतिदेश प्राप्त होने पर ही ऊह किया जा सकता है। इसलिये अतिदेशनिरूपण के अनन्तर ऊह का निरूपण किया जाता है। त्रिविधश्चोहः—वस्तुतः तर्कणारूप ऊह एक प्रकार का ही है। अतः यहां ऊह के तीन भेद का तात्पर्य विषयभेद से तीन प्रकार का कहा गया है। मन्त्रसामसंस्कारविषयः—द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद के सूत्र ३५, ३६, ३७ सूत्रों में मन्त्र के ही ऋक् साम यजुः भेद कहे हैं। अतः साम का मन्त्र के अन्तर्गत होने से उसका पृथक् परिगणन नहीं करना चाहिये। यह सत्य है परन्तु साममन्त्रों में गीतिषु सामाख्या (मी० २।१।३६) के अनुसार गीतिधर्म के विशेष होने से गोबलीवर्दन्याय से साम का पृथक् ग्रहण जानना चाहिये।

व्याख्या—[अध्याय के] आरम्भ में लक्षण की सिद्धि के लिये यह [पूर्व विचारित अंश पुनः] विचारा जाता है। यहां अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास और ज्योतिष्टोम उदाहरण हैं। इन में पृथक्-पृथक् धर्म कहे गये हैं। उनके विषय में संशय होता है—क्या वे [अग्निहोत्रादि में

उत यजिप्रयुक्ता इति ? अपूर्वप्रयुक्तेषु सत्सूहः सिध्यति। यजिप्रयुक्तेषु तु संकरो धर्माणाम्। कथमिव ? सर्वे हि ते यजतयः। यजतिसामान्ये यजतिशब्दवाक्ये धर्मा विधीयमानाः सर्वत्र भवितुमर्हन्ति। अपूर्वप्रयुक्तत्वे तु तदीयविशेषे विधीयमाना अन्यस्मिन्नपि तदीयविशेषापन्ने भविष्यन्ति। तस्मात् तत्रोहः सिद्धो भवति।

विधीयमान] धर्म अपूर्व प्रयुक्त हैं अथवा यजि (याग) प्रयुक्त हैं ? धर्मों के अपूर्व प्रयुक्त होने पर ही ऊह सिद्ध होता है। यजि (=याग) प्रयुक्त होने पर तो धर्मों का सांकर्य प्राप्त होता है। कैसे ? वे [अग्निहोत्रादि] सभी याग हैं। यागसामान्य होने पर यागविधायक वाक्य में विधीयमान धर्म सर्वत्र हो सकता है। अपूर्व प्रयुक्त होने पर तो उस अपूर्वविशेष में [अर्थात् उस अपूर्वविशेष की उत्पत्ति के लिये] विधीयमान धर्म अन्य में भी उसके विशेष अपूर्व के [प्राप्त] होने पर होंगे [अर्थात् अन्य विशेष अपूर्वों की सिद्धि के लिये धर्म अपेक्षित हैं]। इससे वहां (=अन्य विशेष अपूर्वों में) ऊह सिद्ध होता है।

विवरण—अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ ज्योतिष्टोमश्चोदाहरणम्—अग्निहोत्र होमों की प्रकृति है, दर्शपूर्णमास इष्टियों की और ज्योतिष्टोम सोमयागों की। ज्योतिष्टोम से यहां अग्निष्टोम विवक्षित है। इन प्रकृतिरूप तीनों में कहे गये पृथक्-पृथक् धर्म अन्य होमों, अन्य इष्टियों और अन्य सोमयागों में प्रवृत्त होंगे या नहीं, यह प्रकृत में विचार करते हैं। **उत यजिप्रयुक्ताः**—इस प्रकरण में 'यजि' और 'यजति' शब्दों का बहुधा प्रयोग हुआ है। इन दोनों शब्दों में **'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे'** (महाभाष्य ३।३।१०८) वार्तिक से धातु के निर्देश में क्रमशः 'इक्' और 'श्तिप्' प्रत्यय जानना चाहिये। इसलिये **यजिप्रयुक्ताः** का अर्थ है—यज् =याग से प्रयुक्त। यही अर्थ **यजतिप्रयुक्ताः** का भी है। **सर्वे हि ते यजतयः**—यद्यपि अग्निहोत्र यजति= याग नहीं है, होम है। होमों का 'जुहोति' से निर्देश किया जाता है, पुनरपि **द्रव्य देवतात्यागः** (कात्या० श्रौत० १।२।२) यह यागलक्षण सामान्यरूप से होमों में भी देखा जाता है। लोक में भी होम और याग में 'देवता के उद्देश्य से हवि का त्याग' लक्षण के समान होने पर दोनों का सामान्यरूप से प्रयोग होता है। **सर्वत्र भवितुमर्हन्ति**—इस वाक्य से 'अग्निहोत्रादि तीनों के पृथक्-पृथक् धर्मों को यजि (याग) प्रयुक्त मानने पर सब धर्मों का साङ्कर्य कैसे प्राप्त होता है', इसका निरूपण करते हैं। 'यजति' शब्दवाले यागविधायक वाक्य में धर्मों का विधान माना जाये तो जैसे **दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत** में **यजिना यागेन स्वर्गं भावयेत** में **कथं भावयेत** ? इस आकाङ्क्षा की निवृत्ति के लिये समीप पठित इतिकर्तव्यता का सम्बन्ध दर्शपूर्णमास में होता है, उसी प्रकार विकृतियागों में भी जहां इतिकर्तव्यता पठित नहीं है, वहां भी उद्देश्यमान का विशेषण अविवक्षित होता है, इससे दर्शपूर्णमास याग को उद्देश्य करके कही गई इतिकर्तव्यता में विशेषण 'दर्शपूर्णमास' के अविवक्षित होने से तत्सम्बन्धी इतिकर्तव्यता का संबन्ध सर्वत्र होता है, उसी प्रकार करणरूप यजति को उद्देश्य करके यदि धर्मों का विधान माना जाये तो वे (दर्शपूर्णमासप्रकरणस्थ) धर्म भी इतिकर्तव्यता के समान सर्वत्र होंगे। **अपूर्वप्रयुक्तत्वे तु**—भाव्यमान स्वर्गादि से करण और इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा होती

नन्वेतत् सर्वं सप्तमे[1] विचारितं, निर्णीतं च। उच्यते—पुनस्तदेव स्मार्यते, उत्तरचिन्ताविवक्षया। अथवा, तत्र योऽर्थो नोक्तः, तद्विवक्षयेदमुच्यते। कश्चासौ ?

यज्ञकर्म प्रधानं तद्धि चोदनाभूतं तस्य द्रव्येषु संस्कारस्तत्प्रयुक्त-स्तदर्थत्वात् ॥१॥

है—स्वर्गादिकं कथं भावयेत। इस स्थिति में विशिष्टभाव्य विशिष्ट करण से भाव्य होता है। जैसे यहां विशिष्टभाव्य स्वर्ग दर्शपूर्णमास यागविशेष करण से भाव्य है अर्थात् विशिष्टभाव्य के लिये यागरूप करण अपेक्षित होता है। धर्मों का करण रूप यजि=याग से सम्बद्ध नहीं होता अपितु करण इतिकर्तव्यता का संबन्ध होता है, यह अरुणाधिकरण (मी० ३।१। अधि० ६) में कह चुके। इस कारण दर्शपूर्णमास प्रकरण में जो धर्म कहे गये हैं वे अन्यत्र नहीं होंगे, प्रमाणाभाव से अर्थात् तादृश=दर्शपूर्णमाससदृश भाव्य के न होने से। विकृतिरूप सौर्ययाग में भाव्य ब्रह्मवर्चस है—**सौर्यं चरुं निर्वपेत ब्रह्मवर्चसकामः** उस विशिष्ट भाव्य ब्रह्मवर्चस का प्रत्यक्षविहित करण 'सौर्ययाग' विद्यमान है। यह विशिष्ट भाव्यमान करण के अनुग्रह के लिये धर्मों की आकाङ्क्षा करता है—'सौर्ययाग से भाव्य ब्रह्मवर्चस को कैसे प्राप्त करे'। उस अवस्था में '**यथा दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गो भावितस्तथैव सौर्ययागेन ब्रह्मवर्चसं भावयेत्** की यजि-सामान्यता से प्रतीति होती है। परन्तु सौर्ययाग के समीप तादृश यजि करण के अनुग्राहक धर्म पठित नहीं हैं। इस कारण वाक्य के साकांक्ष होने से चोदना सामान्य (=विधायक वाक्य की समानता) से दर्शपूर्णमासस्थ आग्नेय धर्म सौर्ययाग में अतिदिष्ट होते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे धर्मविशेषों से आग्नेय याग को उपकृत किया वैसे सौर्ययाग को भी उपकृत करना चाहिये। आग्नेय याग में अग्नि देवतावाले मन्त्र से भाव्यमान की देवता अग्नि को कहा, वैसे ही सौर्ययाग में भी सौर्यदेवताक मन्त्र से भाव्यमान ब्रह्मवर्चस की देवता का प्रकाश (=कथन) करना चाहिये। यह कार्य ऊह के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार सम्पन्न नहीं हो सकता। इससे धर्मों के अपूर्व प्रयुक्त मानने पर ही ऊह सिद्ध होता है, अर्थात् ऊह की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—(आक्षेप) यह सब सप्तम अध्याय में विचारा है और निर्णय किया है। (समाधान) पुनः उसे ही (=जो पहले कहा गया है) स्मरण कराया है, अगली चिन्ता (=विचार) की विवक्षा से अथवा जो अर्थ वहां नहीं कहा गया, उसकी विवक्षा से कहा है।

वह कौन सा अर्थ है [जिसे पूर्व नहीं कहा है] ?

यज्ञकर्म प्रधानं तद्धि चोदनाभूतं तस्य द्रव्येषु संस्कारास्तत्प्रयुक्तस्तदर्थत्वात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(यज्ञकर्म) याग कार्य अपूर्व (प्रधानम्) इतिकर्तव्यता के प्रति प्रधान है। (हि) यतः (तत्) वह अपूर्व (चोदनाभूतम्) चोदना=विधान से प्राप्त होता है। अतः (तस्य) उस अपूर्व के (द्रव्येषु) द्रव्यों में (संस्कारः) अवघात आदि संस्कार अर्थात् उपलक्षण से सब धर्म (तत्प्रयुक्तः) उस अपूर्व से प्रयुक्त है (तदर्थत्वात्) धर्मों के अपूर्व के लिये होने से।

---

१. 'सप्तमे एव' इति पाठान्तरम्।

तस्य द्रव्येषु संस्कारस्तत्प्रयुक्तस्तदर्थत्वादिति। एतेन चेह प्रयोजनमूहो[1] विवक्षितः। एवं हि स सिध्यति। तत्रैतन्नोक्तम्। नैतेन तत्र प्रयोजनमिति। तत्रत्यैतावती चिन्ता—किं प्रतिप्रकरणं नियता धर्मा उत सर्वे सर्वत्रेति? तदपूर्वप्रयुक्तत्वे यजिप्रयुक्तत्वे च सिध्यन्ति, न द्रव्यसंस्कारस्यापूर्वार्थत्वम्। तत्त्विह सिद्धम्। तत्रापूर्वप्रयुक्तत्वसिद्धौ व्यवहारार्थमसूत्रितमुपादीयते। तस्मादपुनरुक्तम् ॥१॥

अथवा अन्यामेव चिन्तामिह वक्ष्यामः। किं यजिनिमित्ता धर्मा अपूर्वप्रयुक्ता उतापूर्वनिमित्ता अपूर्वप्रयुक्ताश्चेति?

इदानीं तु, यजिप्रयुक्ता अपूर्वप्रयुक्ता वा इति चिन्त्यते। किं तावत् प्राप्तम्? यजिप्रयुक्ता इति। कुतः? यजिशब्देनेतिकर्तव्यताया अभिसंबन्धात्। एवं यागं कुर्यादिति। एवं यागेन कुर्यादिति।

व्याख्या—उस यज्ञ कार्य अपूर्व के द्रव्यों में संस्कार (=अवघातादि सब धर्म) उस अपूर्व से प्रयुक्त हुए उस (=अपूर्व) के लिये होने से [उस अपूर्व से अन्यत्र प्राप्त नहीं होते] और उससे [अर्थात् संस्कार से] यहां [विकृतियागों में] प्रयोजन है। इससे ऊह विवक्षित है [अर्थात् ऊह की आवश्यकता है]। इसी प्रकार वह (=विकृतिरूप याग) सिद्ध होता है। [अर्थात् ऊह से ही धर्मों की अन्यत्र प्राप्ति सम्भव है]। वहां (=पूर्वत्र) यह नहीं कहा है। [क्योंकि] वहां इससे प्रयोजन नहीं था। वहां की चिन्ता (=विचारणा) इतनी ही है—क्या प्रतिप्रकरण धर्म नियत हैं अथवा सब धर्म सर्वत्र होते हैं। वे धर्म अपूर्व से प्रयुक्त होने और यजि से प्रयुक्त होने पर सिद्ध होते हैं, द्रव्यों के संस्कार अपूर्वार्थत्व नहीं हैं। वह (=द्रव्य के संस्कारों=धर्मों का अपूर्वप्रयुक्तत्व) यहां सिद्ध होता है। वहां अपूर्वप्रयुक्तत्व सिद्ध होने पर भी सूत्र द्वारा वहां अकथित के व्यवहार के लिये उपादान किया जाता है [अर्थात् सूत्र से अकथित उसी सिद्ध अर्थ का सूत्र द्वारा कथन किया जाता है]। इस कारण पुनरुक्त नहीं है ॥१॥

व्याख्या—अथवा अन्य ही विचार यहां करेंगे—क्या यजिनिमित्त धर्म अपूर्वप्रयुक्त हैं अथवा अपूर्वनिमित्त और अपूर्वप्रयुक्त हैं?

अब यह विचारा जाता है कि [धर्म] यजिप्रयुक्त हैं अथवा अपूर्वप्रयुक्त? क्या प्राप्त होता है? [धर्म] यजि से प्रयुक्त हैं। किस हेतु से? यजि शब्द के साथ इतिकर्त्तव्यता का संबन्ध होने से। इस प्रकार याग करे, इस प्रकार याग से करे।

विवरण—यहां विचार यह है कि व्रीहि में जो अवघात आदि संस्कार किये जाते हैं, वे यजिप्रयुक्त हैं अथवा अपूर्वप्रयुक्त। अपूर्व के साध्यरूप से गम्यमान होने के कारण अवघातादि धर्मों के अनुष्ठान में अपूर्व की निमित्तता युक्त नहीं है। एवं यागं कुर्यात्—यजेत में

---

१. 'प्रयोजनमूहं' इत्यपपाठः क्वचित्। वस्तुतस्त्वत्र उपरि मुद्रितोऽपि पाठो न स्पष्टार्थः। अस्माभिस्तु यथाकथञ्चित् स्पष्टतायै प्रयतितम्।

अथवाऽन्यामेव चिन्तां वर्तयिष्यामः—अपूर्वार्था धर्मा इति स्थिते सप्तमे, नवमे निमित्तं परीक्ष्यते, किमपूर्वं निमित्तमुत याग इति ? न चानिमित्ता प्रवृत्तिः, येन विचार एव न स्यात् । तत्र भाव्यमानत्वाद् दर्शपूर्णमासापूर्वं निमित्तं न भवति । अनेनैव कारणेन फलमपि न निमित्तम् । परिशेषाद् यागो निमित्त, निष्पन्नरूपत्वात् ।

ननु यागस्य फल उपादीयमानत्वान्निमित्तवेलायां[1] चोद्दिश्यमानत्वाद् विवक्षाभेदः स्यात् । उच्यते । दर्शपूर्णमासपदं निमित्तम्[2], अकिंचित्करत्वात्[3] । प्रकृतयागाद् दर्शपूर्णमासपदाभावेऽपि विधीयन्त एव तेन[4] । यद्येतन्निमित्ततां न प्रतिपद्येतानर्थकमेव स्यात् ।

कथं यजेत' इसकी आकाङ्क्षा होने पर उसका इतिकर्तव्यता के साथ सम्बन्ध होता है । अवघातादि इतिकर्तव्यता से याग को सिद्ध करे । इसमें याग की सिद्धि में अवघातादि के साधक होने से वे याग से प्रयुक्त हैं । अथवा **यागेन कुर्यात्** में यजि=याग के करणतया सिद्ध रूप से गम्यमान होने पर अवघातादि का निमित्तत्व युक्त है । उभयथापि अवघातादि के याग से प्रयुक्त होने पर उनका अपूर्वप्रयुक्तत्व सिद्ध न होने से सब धर्म सर्वत्र होंगे । **एवं यागेन कुर्यादिति**—यह पाठ लिखित पुस्तकों में नहीं है । यह पुणे संस्करण के सम्पादक ने टिप्पणी दी है । हमारे विचार में इसकी आवश्यकता भी नहीं है । **यजिशब्देन** इत्यादि पूर्ववाक्य से यह अर्थ संबद्ध भी नहीं है । यदि भाष्यकार को यह पाठ विवक्षित होता तो 'अथवा' शब्द का पूर्व में वे प्रयोग करते । प्रतीत होता है किसी ने कुतूहलवृत्ति में **यागस्य तु करणतया** इत्यादि चतुर्थ वर्णकान्तर में इस वाक्य का यहां प्रक्षेप किया है ।

व्याख्या—अथवा अन्य ही चिन्ता का वर्तन (=अन्य ही विचार) करेंगे । 'अपूर्व के लिये धर्म हैं' ऐसा सप्तम अध्याय में स्थित (=निर्णीत) होने पर नवम अध्याय में [धर्मों के] निमित्त की परीक्षा की जाती है । क्या [उनका] अपूर्वनिमित्त है अथवा याग ? और प्रवृत्ति निमित्त के बिना नहीं होती, जिस से विचार ही न होवे । इसमें दर्शपूर्णमास का अपूर्व भाव्यमान (=भविष्यत् में होनेवाला) होने से निमित्त नहीं होता । इसी कारण (=भाव्यमान होने से) फल भी निमित्त नहीं है । परिशेष से याग निमित्त है निष्पन्नरूप होने से ।

(आक्षेप) याग का फल में [करणरूप से] उपादीयमान होने से [अर्थात् यागेन फलं कुर्याद् वचनव्यक्ति होने से] और निमित्तवेला (=धर्मों के निमित्तत्व समय) में [याग के] उद्दिश्यमान होने से [अर्थात् 'यागमुद्दिश्य धर्मा विधीयन्ते' वचनव्यक्ति होने से] विवक्षाभेद (=वाक्यभेद) होवे । (समाधान) दर्शपूर्णमास पद [धर्मों में] निमित्त [का प्रतिपादन करता] है अकिञ्चित्कर (=अन्य प्रयोजन न) होने से । प्रकृत याग से दर्शपूर्णमास पद के बिना भी [धर्म] उस (=यजि) से विधान किये ही जाते हैं । यदि यह [दर्शपूर्णमास पद] निमित्तभाव को प्राप्त न होवे [अर्थात् निमित न होवे] तो अनर्थक ही होवे ।

---

१. उपादीयमानत्वादिति—करणत्वेनोपादीयमानत्वादित्यर्थः ।
२. निमित्तमिति—प्रतिपादयतीति शेषः ।
३. अकिंचित्करत्वात्—दर्शपूर्णमासपदस्य प्रयोजनान्तराभावादित्यर्थः ।
४. तेनेति—यजिनेत्यर्थः ।

ननु सप्तम्यन्तं निमित्तं भवति 'भिन्ने जुहोति'[1] इति, तृतीयान्तं चेदम्। उच्यते। **निमित्तफलहेतेषु सर्वासां प्रायदर्शनम्**[2] इति द्रष्टव्यम्। अपि च उद्दिश्यमानत्वात् करणविभक्तेरविवक्षैव। तस्माद् विकृतावपूर्वमस्ति दर्शपूर्णमासयोगो नास्ति[3]। तदभावे धर्माणामप्यभावः। यथा भेदनाभावे होमाभावः। सौर्ये च साकाङ्क्षत्वादपूर्वस्यातिदेशेनानुषङ्गेण[4] वा प्राकृतैरङ्गैरङ्गवान् सौर्ययागः सिध्यति। ऊहाभावस्तु[5]।

(आक्षेप) सप्तम्यन्त निमित्त होता है [यथा] 'भिन्ने जुहोति' (=कपाल के टूटने का निमित्त प्राप्त होने पर होम करे)। और यह [दर्शपूर्णमासाभ्याम्] तृतीयान्त है। (समाधान) 'निमित्त फल और हेतु में प्रायः सब विभक्तियों का दर्शन होता है' यह जानना चाहिये। और भी—उद्दिश्यमान होने से करणविभक्ति की अविवक्षा ही है। इससे विकृति में अपूर्व है, दर्शपूर्णमास पद का संबन्ध नहीं है [अर्थात् निमित्तभूत दर्शपूर्णमास का संबन्ध अपूर्व के साथ नहीं है]। उस [दर्शपूर्णमास का योग न होने] से धर्मों का भी अभाव है। जैसे [कपाल के] भेदन न होने पर होम का अभाव होता है। सौर्य याग में साकाङ्क्ष होने से अपूर्व का अतिदेश से अथवा अनुषङ्ग से प्राकृत (=प्रकृति=दर्शपूर्णमास के) अङ्गों से अङ्गवान् सौर्ययाग सिद्ध होता है। ऊह का अभाव है [अर्थात् ऊह नहीं होता है]।

विवरण—ऊहाभावस्तु—इसका तात्पर्य है—जैसे सिद्धान्त पक्ष में अपूर्वविशेष निमित्त धर्म अपूर्वान्तर में अतिदेश से होते हैं, उसी प्रकार यागविशेष निमित्त धर्मों की यागान्तर में प्रवृत्ति अतिदेश से सिद्ध होती ही है। ऊह सिद्ध नहीं होता। किस प्रकार? जैसे याग के अनुग्राहक धर्मों का याग निमित्त होता है, उसी प्रकार मन्त्रों का तथा अवघात आदि का अग्न्यादि देवता और व्रीहि आदि द्रव्य निमित्त होवें। इससे सौर्य आदि विकृतियागों में और प्रतिनिधिभूत नीवार आदि निमित्त के अभाव से धर्मों की प्राप्ति न होने से ऊह सिद्ध नहीं होता। अतः ऊह के उपोद्घातरूप से यहां यह विचार करणीय है।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—बौधा० श्रौत २०।२३॥

२. द्र०—महाभाष्य—'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम्'। २।३।२३॥ महाभाष्यपाठ एव शबरस्वामिना प्रकरणानुकूलमूहितं स्यात्।

३. तस्मादिति—यस्मादेव दर्शपूर्णमासपदवाच्यो यजिर्निमित्तं, तस्माद् यद्यपि विकृतावपूर्वमस्ति, तथाऽपि निमित्तभूतो दर्शनपूर्णमासयोगो नास्तीत्यर्थः।

४. 'अतिदेशेन वाऽनुषङ्गबलात्प्रकृतै०' इति पाठान्तरम्।

५. ऊहाभावस्त्विति—अयमभिप्रायः। यथा सिद्धान्तेऽपूर्वविशेषनिमित्ता धर्मा अपूर्वान्तरेऽतिदेशेन भवन्ति, तथा यागविशेषनिमित्तानां धर्माणां यागान्तरे प्रवृत्तिरतिदेशात् सिध्यत्येव। ऊहस्तु न सिध्यति। कुतः? यथा यागानुग्राहकाणां यागो निमित्तं भवति, एवं मन्त्राणामवघातादीनां चाग्न्यादयो व्रीह्यादयश्च निमित्तं भवेयुः। ततश्च सौर्यादौ नीवारादौ च निमित्ताभावाद्धर्माणामप्राप्तेरूहो न सिध्यति। अत ऊहोपोद्घाततयाऽत्रैवेयं चिन्ता करणीयेति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

यज्ञकर्म प्रधानं तद्धि चोदनाभूतं तस्य द्रव्येषु संस्कारस्तत्-प्रयुक्तस्तदर्थत्वात् ॥१॥

यजत्यर्थस्य यत्कार्यं तत्प्रधानम् । तद्धि कर्तव्यतया चोद्यते । यत्र कर्तव्यता, तत्रैवेतिकर्तव्यता । अथ यदुक्तं, यजतिशब्देनाभिसंयोगो धर्माणामिति । तदुच्यते । तस्य द्रव्येषु यजतौ च यः संस्कारः, स तत्प्रयुक्तः—अपूर्वप्रयुक्तः, तदर्थत्वात् । यज-

---

विशेष—हम शाबरभाष्य-व्याख्या के प्रथम भाग के आदि में निबद्ध 'शास्त्रावतार' निबन्ध में भाष्यकार शबरस्वामी के प्रकरण में 'पातञ्जल महाभाष्य और शाबरभाष्य' शीर्षक सन्दर्भ में लिख चुके हैं कि "यद्यपि शबरस्वामी ने महाभाष्य की शैली का भरसक अनुकरण किया है, तथापि महाभाष्य की शैली जितनी प्राञ्जल एवं स्पष्टार्थक है, उतनी प्राञ्जलता और स्पष्टता शाबरभाष्य में नहीं है। अनेक स्थानों पर वाक्यरचना लड़खड़ाती है तथा अनेक स्थानों पर भाष्यकार क्या कहना चाहते हैं, यह स्पष्ट नहीं होता। कुछ अंश अन्तर्मुख ही रहता है।" (द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४३, तथा प्रथम संस्करण पृ० ३९ में यह अंश है)। इस अधिकरण में तो अस्पष्टता या अन्तर्मुखता अत्यधिक है। इससे भाष्य के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये स्थान-स्थान पर [ ] कोष्ठक में 'अर्थात्' निर्देश करके अभिप्राय को स्पष्ट करना पड़ा है। पूणे संस्करण के सम्पादक को भी इसी प्रकरण के अन्तिम सन्दर्भ में अनेक स्थानों पर टिप्पणियां देकर भाष्यकार का तात्पर्य स्पष्ट करना पड़ा है। उसकी कुछ टिप्पणियां हमने नीचे संगृहीत कर दी हैं।

व्याख्या—ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

यज्ञकर्म प्रधानं तद्धि चोदनाभूतं तस्य द्रव्येषु संस्कार-स्तत्प्रयुक्तस्तदर्थत्वात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(यज्ञकर्म) 'यजति' अर्थ का जो कार्य अपूर्व है, (प्रधानम्) प्रधान है, क्योंकि (तद्धि) वही (चोदनाभूतम्) करने को कहा गया है। (तस्य) उस अपूर्व के (द्रव्येषु) द्रव्यों में जो (संस्कार) कहा है, वह (तत्प्रयुक्तः) उस अपूर्व से प्रयुक्त है (तदर्थत्वात्) उसके लिये होने से।

व्याख्या—'यजति' (=याग) अर्थ का जो कार्य है, वह प्रधान है वही कर्त्तव्यरूप से कहा जाता है। जहां कर्तव्यता है, वहां ही इतिकर्तव्यता होती है [अर्थात् उसी के साथ इति-कर्तव्यता का सम्बन्ध होता है]। (आक्षेप) जो हमने कहा कि यजति शब्द से (यजति शब्द के साथ) धर्मों का संयोग होता है। (समाधान) उस विषय में कहते हैं—उस (यजति= याग) के द्रव्यों में याग करते हुए जो संस्कार होते हैं वे तत्प्रयुक्त अर्थात् अपूर्व प्रयुक्त हैं, उस

तैर्द्रव्याणां च तदीयत्वेन धर्मैरभिसंबन्धो, न स्वेनाऽऽत्मना न हि धात्वर्थस्य च धर्माणां च परस्परेणाऽऽकाङ्क्षा विद्यते। प्रत्ययार्थेन हीतिकर्तव्यताऽऽकाङ्क्ष्यते, कर्तव्यं कथमिति, न याजः कीदृश इति ? तस्माद् यत् कर्तव्यं, तस्यैवेतिकर्तव्यतया संबन्धः। अपूर्वं च तत्। तस्मादपूर्वयुक्ता इति ॥१॥

एवं वा—

एतेष्वेवोदाहरणेष्विति चिन्त्यते। किं यजिनिमित्ता धर्मा अपूर्वप्रयुक्ता उतापूर्वं प्रयोजकं निमित्तं चेति ? किं प्राप्तम् ? यजिर्निमित्तम्, अपूर्वं प्रयोजकमिति। कुतः ? नैकस्य प्रयोजकत्वं निमित्तभावश्चोपपद्यते। यदर्थं हि क्रियन्ते धर्मास्तत्प्रयोजकम्। यस्मिन् सति क्रियन्ते, तन्निमित्तम्। न चैकस्मिन् शब्द अपूर्वार्था[1] एते, अपूर्वे[2] च सति भवन्तीति शक्यं वदितुम्। अन्या हि वचनव्यक्तिरपूर्वार्थेषु, अन्या

(=अपूर्व) के लिये होने से। यजति (=याग) के द्रव्यों का उस (यजति=याग) के होने से धर्मों के साथ संबन्ध है। वह (सम्बन्ध) अपने स्वरूप से नहीं है और धात्वर्थ की तथा धर्मों की परस्पर आकाङ्क्षा भी नहीं है। प्रत्ययार्थ से ही इतिकर्तव्यता आकाङ्क्षित होती है—कैसे करना चाहिये [इस रूप में]। यजि (याग) कैसा है, यह आकाङ्क्षा नहीं होती। इससे जो कर्तव्य है, उसी का इतिकर्तव्यता के साथ संबन्ध होता है। और वह (=कर्तव्यरूप) अपूर्व है। इससे [धर्म] अपूर्व से प्रयुक्त हैं।

विवरण—प्रत्ययार्थेन हि—'यजेत' चोदना में दो अंश हैं—धातु और प्रत्यय। धातु 'यज्' धात्वर्थ याग को कहता है और विधिलिङ् चोदना प्रेरणा रूप 'कुर्यात्' अर्थ को। इस कुर्यात् प्रत्ययार्थ को ही आकाङ्क्षा होती है कथं कुर्यात्। इस आकाङ्क्षा की पूर्ति याग के समीप पूर्व पर में पठित इतिकर्तव्यता करती है—प्रकरणपठितयाऽनया इतिकर्तव्यतया यागं कुर्यात् (=प्रकरणपठित इस इतिकर्तव्यता के द्वारा याग करे) उसे यह आकाङ्क्षा नहीं होती कि 'याग कैसा है' ॥१॥

व्याख्या—एवं वा—अथवा इस प्रकार विचारणा है—

उक्त उदाहणों में ही विचार किया जाता है—क्या यजिनिमित्तवाले धर्म हैं अथवा अपूर्व प्रयुक्त, अथवा अपूर्व [धर्मों का] प्रयोजक और निमित्त है ? क्या प्राप्त होता है ? यजि [धर्मों का] निमित्त है और अपूर्व प्रयोजक है। किस हेतु से ? एक का प्रयोजकत्व और निमित्त भाव उपपन्न नहीं होता है। जिस [अपूर्व] के लिये धर्म किये जाते हैं वह प्रयोजक (=प्रेरक) होता है। जिस के होने पर किये जाते हैं वह निमित्त होता है। एक [अपूर्व] शब्द होने पर ये [धर्म] अपूर्व के लिये नहीं हो सकते। अपूर्व होने पर ये [धर्म] होते हैं, यह कह सकते हैं।

---

१. 'अपूर्वाय एते' इति पाठान्तरम्।

२. 'अपूर्वे च भवन्तीति' इति पाठान्तरम्।

चापूर्वे सतीति। यजिनिमित्तत्वे तु शब्दोऽवकल्पते। एवं यागेन कुर्यादिति। यागे सति, अपूर्वस्योपकारकाणि, असत्यनुपकारकाण्यङ्गानीति। तस्माद्यजिर्निमित्तम्, अपूर्वं तु प्रयोजकमिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

यज्ञकर्म प्रधानं तद्धि चोदनाभूतं तस्य द्रव्येषु संस्कारस्तत्प्रयुक्तस्तदर्थत्वात् ॥१॥

यज्ञकर्म प्रधानं, यजतेः कार्यम्। तद्धि फलवच्चोद्यते। तदीयेषु द्रव्येषु यजतौ च यः संस्कारः सोऽपूर्वप्रयुक्तः। तदर्थास्त इति कृत्वा क्रियन्ते, न यज्यर्थेन तेषामभिसंबन्धः। प्रयोगवचनेनैते प्रत्ययार्थेन संबध्यते। स हि साकाङ्क्षो न धात्वर्थः। तस्मादपूर्वप्रयुक्ता अपूर्वनिमित्ताश्च। यदुक्तम्, अपूर्वस्य प्रयोजकत्वं निमित्तभावश्च नोपपद्यते, वचनव्यक्तिभेदादिति। तत्रोच्यते—प्रयोजकत्वं वाचनिकम्। निमित्तभावश्च नैव वचनाद् भविष्यतीति। यद्धि येन प्रयुज्यते, भवति तत्तस्य निमित्तम्।

'अपूर्वार्थों में' वचनव्यक्ति अन्य है और 'अपूर्व होने पर' में वचनव्यक्ति अन्य है (अर्थात् दोनों अर्थों को प्रकट करनेवाले दो शब्द होने चाहियें, परन्तु 'यजेत' एक ही शब्द है)। यजि के निमित्तत्व में तो शब्द समर्थ होता है—इस प्रकार याग से (अर्थात् याग जिन धर्मों का निमित्त है उस याग से) करे। याग होने पर [धर्म] अपूर्व के उपकारक होंगे। याग न होने पर उपकारक नहीं होंगे। इससे [धर्मों में] यजि निमित्त है, और अपूर्व तो उनका प्रयोजक है।

यज्ञकर्म प्रधानं तद्धि चोदनाभूतं तस्य द्रव्येषु संस्कारस्तत्प्रयुक्तस्तदर्थत्वात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(यज्ञकर्म) यज्ञरूपी कार्य ही (प्रधानम्) प्रधान है, क्योंकि वही यजति का कार्य है और (तद् हि) वह याग ही (चोदनाभूतम्) फलयुक्त वचन से कहा जाता है। (तस्य द्रव्येषु) उस याग के द्रव्यों में (संस्कारः) जो संस्कार है वह (तत्प्रयुक्तः) अपूर्व से प्रयुक्त है (तदर्थत्वात्) अपूर्व के लिये होने से।

व्याख्या—'यजति' का कार्य यज्ञकर्मप्रधान है और वह फलयुक्त कहा जाता है। उसके द्रव्यों में और यजन में जो संस्कार है वह अपूर्वप्रयुक्त है। उस (=अपूर्व) के लिये वे हैं, इसलिये किये जाते हैं। उन का यजि के अर्थ (=याग) के साथ सम्बन्ध नहीं है। प्रयोजनवचन से वे (=धर्म) प्रत्ययार्थ के द्वारा सम्बद्ध होते हैं। वह (=प्रत्ययार्थ) ही साकाङ्क्ष है, धात्वर्थ साकाङ्क्ष नहीं। इसलिये [धर्म] अपूर्व से प्रयुक्त और अपूर्व निमित्तवाले हैं। और जो कहा—'अपूर्व का प्रयोजकत्व और निमित्तभाव उपपन्न नहीं होता, वचन के व्यक्तिभेद से', इस विषय में कहते हैं—प्रयोजकत्व वाचनिक (वचन से गम्यमान) है और निमित्तभाव वचन से नहीं होगा। जो जिसके द्वारा प्रयुक्त होता है, वह उसका निमित्त होता

यथा, आरामपोषकस्याऽऽरामो वेतनदाने प्रयोजको निमित्तं च। आरामे सति तस्मै वेतनं दीयते। वेतनेन सम्बद्धो[1] भवत्यारामं रक्षितुम्। तस्माद्धर्माणामपूर्वमेव प्रयोजकं निमित्तं चेति ॥१॥

—:०:—

[वाक्यविनियुक्तेषु प्रोक्षणादिसंनिपत्योपकारकेष्वपूर्वप्रयुक्तत्वाधिकरणम् ॥२॥]

दर्शपूर्णमासौ प्रति समामनन्ति प्रोक्षिताभ्यामुलूखलमुसलाभ्यामवहन्ति। प्रोक्षिताभ्यां दृषदुपलाभ्यां पिनष्टीति। तत्रायमर्थः सांशयिकः। किं प्रोक्षणं हन्ति-पिषिप्रयुक्तमुतापूर्वप्रयुक्तमिति। किं प्राप्तम् ?

है। जैसे बाग के पोषक (=रक्षक) का वेतन देने में बाग प्रयोजक और निमित्त होता है। बाग होने पर उसे वेतन दिया जाता है। [बाग का रक्षक] बाग की रक्षा के लिये वेतन के द्वारा सम्बद्ध होता है। इसलिये धर्मों का अपूर्व ही प्रयोजक और निमित्त होता है।

विवरण—पुणे मुद्रित संस्करण में 'वेतनेन समर्थो भवति' पाठ है। उसका अर्थ होगा—'वेतन से [आरामरक्षक] आराम की रक्षा के लिये समर्थ होता है।'

व्याख्या—दर्शपूर्णमास के प्रति पढ़ते हैं—प्रोक्षिताभ्यामुलूखलमुसलाभ्यामवहन्ति (=जल से धोए हुए ऊखल और मूसल से व्रीहि को कूटता है), प्रोक्षिताभ्यां दृषदुपलाभ्यां पिनष्टि (=प्रोक्षित शिला और लोढ़ी से पीसता है)। इस विषय में यह अर्थ संशयवाला है—क्या [ऊखल मूसल और शिला लोढ़ी का] प्रोक्षण कूटना पीसना क्रियाओं से प्रयुक्त है अथवा अपूर्व से प्रयुक्त ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—पूर्व अधिकरण से धर्म अपूर्व से प्रयुक्त हैं यह स्थित होने पर अवहनन पेषण-रूप संस्कार प्रयुक्त प्रोक्षण है। यह पक्ष ही उपपन्न नहीं होता। यह ठीक है,किन्तु श्रुति लिङ्ग वाक्यों से संयुक्त संस्कार वे अपूर्व के लिये सम्भव नहीं होते, ऐसा माननेवाला तीन अधिकरणों से पूर्वपक्ष उपस्थापित करता है। यद्यपि प्रोक्षण ऊखल,मूसल,दृषद् और उपल का किया है, परन्तु वह ऊखल मूसल आदि से प्रयुक्त नहीं है अपितु अवहनन और पेषण से प्रयुक्त है। जैसे लोक में कोई कहे—धुले हाथ से भोजन करो। इसमें धोनारूप संस्कार हाथप्रयुक्त नहीं है अपितु भोजन क्रिया प्रयुक्त है। यह लोकविदित है। ऐसे ही वैदिक वाक्यों में भी प्रोक्षण संस्कार अवहनन पेषणप्रयुक्त है। इसीलिये कहा है—लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः (सांख्य ५।४०)। लोकव्यवहार में व्युत्पन्न=कुशल व्यक्ति को वेद के अर्थ का यथावत् ज्ञान होता है।

---

१. 'वेतनेन समर्थो भवति' इति पुणेसंस्करणे पाठः।

संस्कारे युज्यमानानां तादर्थ्यात्तत्प्रयुक्तं स्यात् ॥२॥ (पू०)

संस्कारे—हन्तिपिष्याख्ये, प्रयुज्यमानस्य प्रोक्षणस्य तत्प्रयुक्तता स्यात्। संस्कारप्रयुक्तता। संस्कारौ हि हन्तिपिषी। कुत एतत्प्रयुक्ततेति। तादर्थ्यात्। यद्धि येन कर्तव्यं भवति, तत्तस्य प्रयोजकम्। यद्यपूर्वमनेन क्रियते, ततोऽस्यापूर्वं प्रयोजकम्। यदि हन्तिपिषी, ततस्तौ प्रयोजकौ। प्रकरणाच्चापूर्वं कर्तव्यं गम्यते। वाक्याद्धन्तिपिषी। वाक्यं च प्रकरणाद् बलीय इति।

ननु हन्तिपिष्योः क्रियमाणमपूर्वार्थं भविष्यति। तत्र प्रकरणं च वाक्यं चोभयमप्यनुग्रहीष्यते। उच्यते। न शक्यमुभयमनुग्रहीतुम्। न प्रकरणसमाम्नायमात्रेण[1] प्रकरणवतोऽर्थेन समाम्नातमिति गम्यते। प्रकरणसमाम्नानात्[2] प्रकृतेनैकवाक्यता भवति। ततस्तादर्थ्यमवगम्यते। इह तु प्रत्यक्षाभ्यां हन्तिपिषिभ्यां प्रोक्षणस्यैकवाक्यता। सा प्रकृतेनैकवाक्यतां परोक्षां बाधेत। न च द्वाभ्यामपि सहैकवाक्यता

संस्कारे युज्यमानानां तादर्थ्यात् तत्प्रयुक्तं स्यात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(संस्कारे) अवहनन और पेषणरूप संस्कार में (युज्यमानानाम्) प्रयुक्त हुए प्रोक्षण का (तत्प्रयुक्तत्वम्) अवहनन और पेषणरूप संस्कार प्रयुक्तत्व (स्यात्) होवे (तादर्थ्यात्) उनके लिये होने से।

व्याख्या—अवहनन और पेषणरूप संस्कार में प्रयुज्यमान प्रोक्षण उससे प्रोक्त होवे। संस्कार प्रयुक्तत्व होवे। अवहनन पेषण संस्कार हैं। (आक्षेप) अवहनन पेषणप्रयुक्तत्व प्रोक्षण का किस कारण होवे? (समाधान) उसके लिये होने से। जो जिस से करने योग्य होता है वह उस का प्रयोजक है। यदि अपूर्व इससे उत्पन्न होता है तो इस (=प्रोक्षण) का अपूर्व प्रयोजक होवे। यदि अवहनन और पेषण इससे किये जाते हैं तो उनसे प्रयुक्त प्रोक्षण है। प्रकरण से [प्रोक्षण का] अपूर्वप्रयुक्तत्व जाना जाता है परन्तु वाक्य से अवहनन और पेषण [प्रयोजक जाने जाते हैं]। वाक्य प्रकरण से बलवान् है (द्र०—मी० ३।३।१४)।

(आक्षेप) अवहन और पेषण के लिये क्रियमाण प्रोक्षण अपूर्व के लिये होगा। ऐसा मानने से प्रकरण और वाक्य दोनों अनुगृहीत होंगे? (समाधान) दोनों को अनुगृहीत नहीं किया जा सकता है। [दर्शपूर्णमास] प्रकरण में पठनमात्र से प्रकरणवाले अर्थ के साथ समाम्नात (=पठित) है, ऐसा जाना जाता है। प्रकरण में समाम्नान से प्रकृत के साथ एकवाक्यता होती है। उससे तादर्थ्यत्व (=उसके लिये होना) जाना जाता है। यहां तो प्रत्यक्ष [पठित] हन्ति पिषि [क्रिया] के साथ प्रोक्षण की एकवाक्यता है। वह प्रकृत (=प्रकरणप्राप्त) परोक्ष एकवाक्यता को बांधेगी। और दोनों के साथ भी एकवाक्यता न होवे। जब एक के साथ

---

१. 'समाम्नातमात्रेण' इति पाठान्तरम्।

२. 'प्रकरणसमाम्नानात् तु' इति पाठान्तरम्।

स्यात्। यदैकेनैकवाक्यता, तदा तेन निराकाङ्क्षस्य नान्येनाप्येकवाक्यता कल्प्यते। तस्मात् प्रकृतेनैकवाक्यत्वाभावान्नापूर्वार्थं प्रोक्षणम्।

आह। ननु हन्तिपिषी अपूर्वार्थौ। तदर्थं प्रोक्षणम्। तस्मादपूर्वस्योपकारकमिति। उच्यते। भवति प्रणाड्योपकारकम्। न त्वपूर्वप्रयुक्तम्। द्विविधं ह्यङ्गमङ्गस्योपकारकं भवति। किंचिदपूर्वस्यैतदङ्गं विशिष्टमित्यनेन कारणेनाङ्गेन संबध्यते। किंचिदनपेक्ष्यैवापूर्वसंबन्धं स्वरूपेणैव कारणेन संबध्यते। यदपूर्वसंबन्धं कारणत्वेनोपादाय धर्मजातमङ्गविशेषेण संबध्यते, तदपूर्वप्रयुक्तं भवति। तादृशं च विकृतावर्थान्तरे तत्कार्यापन्ने, ऊहितव्यं भवति।

यत्र पुनः स्वरूपमङ्गस्य धर्मसंबन्धे कारणं भवति, तत्स्वरूपप्रयुक्तम्। तत्र यद्यपि तेन धर्मवताऽपूर्वं साध्यते। तत्र साध्यमानमपूर्वं न धर्मस्य प्रयोगहेतुभूतं भवति, न तत्प्रयोजकं, तस्य स्वरूपं विद्यत इति न धर्मः प्रयुज्यते। तत्र विकृतावर्थान्तरे तद्रूपाभावादूहो नावकल्पते। एवं सति वाक्यान्निर्णयः। यदि वाक्यमपूर्वस्य कारणतां वदति, ततोऽपूर्वप्रयुक्तम्। अथाङ्गस्य, ततोऽङ्गयुक्तम्। तच्चोक्तप्रकरणादपूर्वप्रयुक्तं स्यात्। वाक्यात्त्वङ्गप्रयुक्ततेति। तस्माद्धन्तिपिषिप्रयुक्तं प्रोक्षणमिति। यत्र यत्र हन्तिपिषी प्रयुज्येते, तत्र तत्रैवंधर्मकौ भवत इति ॥२॥

एकवाक्य है, तब उस निराकांक्ष की अन्य के साथ भी एकवाक्यता की कल्पना नहीं होती। इसलिये प्रकृत [हन्ति पिषि] से एकवाक्यत्व के अभाव से अपूर्व के लिये प्रोक्षण नहीं है।

(आक्षेप) हन्ति पिषि (=अवहनन और पेषण) अपूर्वार्थ है। उसी (=हन्ति पिषि) के लिये प्रोक्षण है। इससे [प्रोक्षण] अपूर्व का उपकारक है। (समाधान) प्रनाडी से [प्रोक्षण अपूर्व का] उपकारक होता है, परन्तु वह अपूर्व से प्रयुक्त नहीं है। दो प्रकार से अङ्ग अङ्ग का उपकारक होता है। कोई अपूर्व का 'यह अङ्ग विशिष्ट है' इस कारण अङ्ग से सम्बद्ध होता है। कोई अपूर्व के सम्बन्ध की अपेक्षा न करके स्वरूप (=अङ्ग होना रूप) कारण से ही सम्बद्ध होता है। जो अपूर्व सम्बन्ध कारण को स्वीकार करके धर्म अङ्ग विशेष से सम्बद्ध होते हैं वह अपूर्वप्रयुक्त होता है, और उस प्रकार [धर्म] विकृति में अर्थान्तर के कार्यरूप प्राप्त होने पर ऊहितव्य (=ऊहायोग्य) होता है।

जहां अङ्ग का स्वरूप ही धर्मसम्बन्ध में कारण होता है, वह स्वरूपप्रयुक्त होता है। वहां यद्यपि उस धर्मवान् (=धर्मयुक्त) से अपूर्व सिद्ध किया जाता है, [तथापि] वहां साध्यमान अपूर्व धर्म के प्रयोग का हेतुरूप नहीं होता है, वह [अपूर्व का] प्रयोजक नहीं होता। उसका स्वरूप (=अङ्गत्व) विद्यमान है, इतने से धर्म प्रयुक्त नहीं होता। इस स्थिति में विकृति के अर्थान्तर होने पर उस रूप के अभाव से ऊह की कल्पना नहीं होती है। इस अवस्था में वाक्य से निर्णय होता है। यदि वाक्य अपूर्व की कारणता को कहता है, तो वह अपूर्वप्रयुक्त होता है और यदि अङ्ग की [कारणता को कहता है] तो अङ्ग प्रयुक्त होता है। वह (=प्रोक्षण) उक्त प्रकरण से अपूर्व से प्रयुक्त होवे, वाक्य से तो अङ्ग प्रयुक्तत्व है। इससे प्रोक्षण हन्ति पिषि (=अवहनन पेषण) प्रयुक्त है। जहां-जहां हन्ति और पिषि प्रयुक्त होते हैं, वहां-वहां वे प्रोक्षण धर्मवाले होते हैं ॥२॥

तेन त्वर्थेन यज्ञस्य संयोगाद् धर्मसंबन्धस्तस्माद् यज्ञप्रयुक्तं स्यात् संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥३॥ (उ०)

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। न त्वेतदस्ति, हन्तिपिषिप्रयुक्तं प्रोक्षणमिति। तेन त्वर्थेन हन्तिना पिषिणा वा यस्मादपूर्वस्य संयोगः, तस्मात् तस्य प्रोक्षणसम्बन्धः। अपूर्वसाधनविशेषकारितः प्रोक्षणसंस्कारेण सम्बन्धो न हन्तिपिषिकारितः। कथम् ? निष्प्रयोजनौ हन्तिपिषी। यदि तत्प्रयुक्तं प्रोक्षणं, तदपि निष्प्रयोजनम्। अतो न तत्प्रयुक्तम्। आह—अपूर्वस्योपकारकौ हन्तिपिषी, न निष्प्रयोजनाविति। उच्यते—न प्रोक्षणस्यापूर्वस्य कश्चिदस्ति सम्बन्धः। यदि प्रोक्षणं न क्रियते, न हन्तिपिषी अपूर्वस्य साधनभावं न गच्छतः। तस्माद् यद्यपि हन्तिपिषी अपूर्वस्योपकारकौ, तथाऽपि ताभ्यां सम्बध्यमानं प्रोक्षणमनर्थकमेव।

तेन त्वर्थेन यज्ञस्य संयोगाद् धर्मसंबन्धस्तस्माद् यज्ञप्रयुक्तं स्यात् संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥३॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है अर्थात् अब हन्ति पिषि प्रयुक्त प्रोक्षण नहीं है। (तेन) उस (अर्थेन) अवहनन रूप कार्य के साथ (यज्ञस्य) अपूर्व का (संयोगात्) संयोग=सम्बन्ध होने से। (धर्मसम्बन्धः) ऊखल मूसल के धर्म=प्रोक्षण का सम्बन्ध है। (तस्मात्) इसी कारण प्रोक्षण (यज्ञप्रयुक्तम्) अपूर्व से प्रयुक्त (स्यात्) होवे। (तदर्थत्वात्) उस=अपूर्व के लिये ही प्रोक्षण के होने से।

व्याख्या—'तु' शब्द [पूर्व उक्त] पक्ष को निवर्तित करता है। यह नहीं है कि हन्ति पिषि प्रयुक्त प्रोक्षण है। उस अर्थ के साथ=हन्ति अथवा पिषि के साथ जिस कारण अपूर्व का संयोग है इस कारण उस अश्व का प्रोक्षण के साथ सम्बन्ध है। अपूर्व के साथ साधन विशेष कारित प्रोक्षण संस्कार के साथ सम्बन्ध है हन्ति पिषि कारित नहीं है [अर्थात् साधन विशेष से उत्पन्न होनेवाले अपूर्व के साथ प्रोक्षण संस्कार का सम्बन्ध है=प्रोक्षण रूप संस्कार विशेष से अपूर्व उत्पन्न होता है इसलिये प्रोक्षण संस्कार से अपूर्व सम्बद्ध होता है। अवहनन पेषण कारित प्रोक्षण का सम्बन्ध नहीं है]। कैसे ? हन्ति पिषि (=अवहनन पेषण) निष्प्रयोजन हों। यदि प्रोक्षण हन्ति पिषि प्रयुक्त होवें तो वह भी निष्प्रयोजन होवे। इसलिये प्रोक्षण तत्प्रयुक्त (=हन्ति पिषि प्रयुक्त) नहीं है। (आक्षेप) हन्ति पिषि अपूर्व के उपकारक हैं, निष्प्रयोजन नहीं हैं। (समाधान) प्रोक्षण का और अपूर्व का कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि प्रोक्षण न करें, तो हन्ति पिषि अपूर्व के साधनभाव को प्राप्त न होवें, ऐसा नहीं है। इसलिये यद्यपि हन्ति पिषि अपूर्व के उपकारक हैं तो भी उनसे सम्बन्ध रखनेवाला प्रोक्षण अनर्थक ही है।

विवरण—यदि प्रोक्षणं········न गच्छतः—इसका तात्पर्य यह है कि प्रोक्षणरहित अवहन्ति पिषि अपूर्व के उपकारक होंगे ही। प्रोक्षण धर्मरहित हन्ति पिषि अपूर्व की आकांक्षा करते हैं। इसलिये प्रोक्षण धर्मरहित हन्ति पिषि की अपूर्व के साथ एकवाक्यता है।

अथोच्यते, यदर्थं हन्तिपिषी उपादीयेते तत्प्रोक्षणसम्बद्धौ शक्नुतः कर्तुं, नान्यथेति। उच्यते। नैवजातीयकः शब्दोऽस्तीति। तत्राऽऽह। अयमेव शब्द एतमर्थमभिवदतीति। कथम्? प्रोक्षिताभ्यामवहन्ति, प्रोक्षिताभ्यां पिनष्टीति यद्धन्तिपिषिभ्यां क्रियते, तत्प्रोक्षणसम्बद्धाभ्यामिति हन्तिपिषिकार्येण प्रोक्षणं सम्बध्यते, न ताभ्यामिति। उच्यते। नैतदेवम्। यदि यद्धन्तिपिषिभ्यां क्रियते, तत्प्रोक्षणेनाभिसम्बध्यते, सम्बन्ध एव प्रोक्षणस्य न स्यात्। यद्धि ताभ्यामभिनिर्वर्त्यते। किमपरं तत्प्रोक्षणमभिनिर्वर्तयेत्। अथ प्रोक्षिताभ्यामपूर्वं क्रियत इति सम्बन्धः। न तर्हि हन्तिना पिषिणा वा। अथ तत्सम्बन्धोऽप्युच्यत इति। अनेकसम्बन्धे वाक्यं भिद्येत। तस्माद्धन्तिपिषिभ्यां प्रोक्षणं सम्बध्यमानमप्रयोजनमिति प्रकरणादपूर्वेण सम्बध्यते।

नन्वेवं हन्तिपिषिसम्बन्धो नावकल्प्येत। अवकल्पिष्यत इति ब्रूमः। कथम्? इहावघातं प्रति यतमानस्य द्वयं निष्पद्यते। अवहन्तिरूपं, तण्डुलनिर्वृत्तिश्च। प्रणाड्या चापूर्वभावनाविशेषः। तण्डुलनिर्वृत्तिर्ह्यपूर्वोपकारः। सोऽवहन्तिक्रियया चिकीर्षितः। तेन प्रोक्षणस्य सम्बन्धः। यद्यप्यवहन्तिरूपेण सम्बध्यमाने प्रोक्षणे श्रुत्या

व्याख्या—(आक्षेप) यदि कहो कि जिन के लिये हन्ति पिषि का उपादान किया जाता है, वे प्रोक्षण से सम्बद्ध हुए करने में समर्थ होते हैं, अन्यथा नहीं होते। (समाधान) इसमें हमारा कहना है कि इस प्रकार का (=इस अर्थ को कहनेवाला) शब्द नहीं है। (आक्षेप) यही शब्द (=प्रोक्षिताभ्यामुलूखलमुसलाभ्यामवहन्ति, प्रोक्षिताभ्यां दृषदुपलाभ्यां पिनष्टि) इस अर्थ को कहता है। कैसे? प्रोक्षिताभ्यामवहन्ति प्रोक्षिताभ्यां पिनष्टि से जो हन्ति पिषि से किया जाता है, वह प्रोक्षण सम्बद्धों से होवे। इससे हन्ति पिषि के कार्य [तण्डुलनिष्पत्ति) के साथ प्रोक्षण सम्बद्ध होता है, हन्ति पिषि के साथ प्रोक्षण सम्बद्ध नहीं होता है। (समाधान) ऐसा नहीं है। यदि हन्ति षिषि से जो किया जाता है, वह प्रोक्षण से सम्बद्ध होता है तो प्रोक्षण का [उसके साथ] सम्बन्ध ही न होवे। जो उन (=हन्ति पिषि से) निर्वर्तित (=उत्पन्न) होता है वह क्या अन्य प्रोक्षण को उत्पन्न करे? यदि प्रोक्षितों से अपूर्व किया जाता है उससे सम्बन्ध होता है, तो हन्ति वा पिषि के साथ सम्बन्ध नहीं होगा। और यदि वह सम्बन्ध (हन्ति पिषि के साथ सम्बन्ध) भी कहा जाता है तो अनेक सम्बन्ध में वाक्यभेद होवे। इससे हन्ति पिषि के साथ प्रोक्षण सम्बध्यमान होता हुआ प्रयोजनरहित होगा। इससे प्रकरण से अपूर्व से ही सम्बद्ध है।

(आक्षेप) ऐसा स्वीकार करने पर हन्ति पिषि के साथ प्रोक्षण का सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता। (समाधान) उपपन्न होगा ऐसा हम कहते हैं। कैसे? यहां (=कर्म में) अवहनन के लिये प्रयत्न करते हुए के दो उत्पन्न होते हैं—अवहननरूप और तण्डुलनिर्वृत्ति। और प्रनाडी से अपूर्वभावना विशेष उत्पन्न होता है, तण्डुल की निर्वृत्ति ही अपूर्व का उपकार है। वह अवहन्ति क्रिया से चिकीर्षित है। उस (=तण्डुल-निर्वृत्ति) के साथ प्रोक्षण का सम्बन्ध है। यद्यपि अवहन्ति रूप से सम्बध्यमान प्रोक्षण में श्रुति से सम्बन्ध होता है, फिर

सम्बन्धो भवति, तथाऽपि तत्र निष्प्रयोजनत्वाल्लक्षणैवाऽऽश्रीयते। लक्षणा हि प्रत्यक्षा। साऽदृष्टकल्पनाया ज्यायसी[1]। न चावहन्तिराराद्‌ुपकारकोऽपूर्वं निष्पादयति। दृष्टमुपकारं कुर्वन्नदृष्टेन सामर्थ्येन समीचीनं करोतीति गम्यते। यद्यपि च निष्पादयेत्, तथाऽप्युपकारेणासम्बध्यमानं प्रोक्षणं केवलावहन्तिसम्बन्धेनानर्थकमेव स्यात्। अतोऽवहन्तिलक्षितेनोपकारविशेषेणास्य सम्बन्धः। तस्मादनवहन्तिरपि यस्तत्कार्यापन्नस्तत्र प्रोक्षणं भवत्येव। यथा नखनिर्भिन्ने चरौ, नखेषु। तस्मादपूर्वप्रयुक्त एवंजातीयको धर्म इति ॥३॥

[अथवा—दीक्षणीयावाङ्नियमाधिकरणम्]

एवं वा—

अस्ति ज्योतिष्टोमः। तत्रेदं समाम्नायते—यावत्या वाचा कामयेत, तावत्या

भी वहां (=अवहन्ति के साथ प्रोक्षण सम्बन्ध) निष्प्रयोजन होने से लक्षणा का ही आश्रय किया जाता है। लक्षणा प्रत्यक्ष है। वह अदृष्ट कल्पना की अपेक्षा ज्यायसी (=श्रेष्ठ) है। और अवहन्ति आरात् उपकार कभी अपूर्व को उत्पन्न नहीं करता। दृष्ट उपकार (=तण्डुल-निर्वृत्ति) को करता हुआ अदृष्ट सामर्थ्य से यथावत् करता है, वह जाना जाता है। यद्यपि [तण्डुल का] निष्पादन करे, तथापि उपकार से असम्बध्यमान प्रोक्षण केवल 'अवहन्ति' से सम्बद्ध होता हुआ अनर्थक ही होवे। अतः 'अवहन्ति' से लक्षित उपकारविशेष (=तण्डुल-निष्पादन) से इस (=प्रोक्षण) का सम्बन्ध है। इसलिये अवहन्ति क्रिया से भिन्न क्रिया जो उस की स्थानापन्न है, वहां प्रोक्षण होता ही है। जैसे नखों से छीले गये [तण्डुल के] चरु में, नखों में [प्रोक्षण] होता है। इसलिये इस प्रकार का धर्म अपूर्वप्रयुक्त है।

विवरण—यथा नखनिर्भिन्ने चरौ नखेषु—क्वचित् विकृतियाग में तण्डुलनिष्पत्ति के लिये नखों से छीलने का निर्देश मिलता है। यथा—नैर्ऋतं चरुं परिवृक्त्यै गृहे कृष्णानां व्रीहीणां नखनिर्भिन्नम् (तै० सं० १।८।९।१)=राजसूय यज्ञ में रत्निसंज्ञक होमों के प्रकरण में परिवृक्ति=राजा की मध्यम पत्नी के महल में निर्ऋति देवता के लिये क्रियमाण याग में नखों से छीले गये काले व्रीहियों से निष्पन्न तण्डुल के चरु का विधान है। यहां तण्डुलनिष्पादन के लिये उलूखल मूसल से अवहनन के स्थान में नखों से छीलने तुष हटाने का निर्देश है। प्रकृति में जैसे अवहनन के साधनभूत ऊखल मूसल का जो प्रोक्षण कहा है, वह अपूर्वप्रयुक्त होने से अवहनन स्थानापन्न निर्भेदन से सहायक नखों में भी ऊह से प्राप्त होता है।

व्याख्या—अथवा इस प्रकार—

ज्योतिष्टोम का विधान है। वहां यह पढ़ा जाता है—यावत्या वाचा कामयेत, तावत्या दीक्षणीयायामनुब्रूयात् (=जितनी [उच्चनीच] वाणी से कामना

---

१. 'बलीयसा' इति पाठान्तरम्।

दीक्षणीयायामनुब्रूयात् । मन्द्रं प्रायणीयायां, मन्द्रतरमातिथ्यायाम्, उपांशूपसत्सु इति । तत्रायमर्थः सांशयिकः । किं परमापूर्वप्रयुक्ता एते धर्मा उत दीक्षणीयाद्यपूर्वप्रयुक्ता इति ? किं प्राप्तम् ?

संस्कारे युज्यमानानां तादर्थ्यात् तत्प्रयुक्तं स्यात् ॥२॥ (पू०)

परमापूर्वसंस्कारे दीक्षणीयाद्यपूर्वे युज्यमानस्यास्य धर्मस्य परमापूर्वार्थत्वाद् दीक्षणीयादीनां परमापूर्वार्थतैव स्यात् । परमापूर्वं हि फलवत् । यत्कर्तव्यतयाऽभिसम्बध्यते, तदेव धर्मैरभिसम्बध्यते, नाङ्गापूर्वम् । निष्प्रयोजनं हि तदिति ॥२॥

करे उतनी से दीक्षणीया में बोले) । मन्द्रं प्रायणीयायां, मन्द्रतरमातिथ्यायाम्, उपांशूपसत्सु (=प्रायणीया इष्टि में मन्द्र स्वर आतिथ्या में मन्द्रतर, उपसदों में उपांशु उच्चारण करे । यहां यह अर्थ सांशयिक है—क्या [यह भिन्न-भिन्न स्वर से उच्चारणरूप] धर्म परमापूर्वप्रयुक्त हैं अथवा दीक्षणीयादि इष्टियों के अपूर्व से प्रयुक्त हैं ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—यावत्या वाचा कामयेत तावत्या—भाष्य में उद्धृत पाठ हमें नहीं मिला । यावत्या वाचा कामयेत तावत्या पाठ में कामयेत तथा यावत्या तावत्या शब्दों का निर्देश होने से हमने जो अर्थ दर्शाया है वही उचित हैं । अन्य ग्रन्थों में अन्यथा पाठ मिलता है । कात्यायन श्रौत ७।२।२८ में वागन्तेन वा दीक्षणीयायाम्, नीचैस्तरां नीचैस्तरामितरे पाठ है । तदनुसार दीक्षणीया में यजमान जितना ऊंचे बोल सके उतना ऊंचे से उच्चारण करे । उससे नीचे स्वर से प्रायणीया में, उस से नीचे स्वर से आतिथ्या में बोले (यह धर्म प्रधानकर्म का है अङ्गकर्मों का नहीं है) । आप० श्रौत १०।४।१० में यावत्यस्य वाग्भवति तावतीम्प्रं दीक्षणीयायामन्वाह । ततो नीचैस्तरां प्रायणीयायां, नीचैस्तरामातिथ्यायामुपांशूपसत्सु पाठ के द्वारा कात्यायनोक्त पक्ष ही उपस्थित किया है । अगले सूत्र (१०।४।११) में पक्षान्तर दर्शाया है—मन्द्रेण दीक्षणीयायाम् । मन्द्रतरेण प्रायणीयायाम् । मन्द्रतरेण आतिथ्यायाम् । उपांशूपसत्सु । ....उपांशु वा दीक्षणीयायाम् । उपांशुतरं प्रायणीयायाम् । उपांशुतरमातिथ्यायाम् ।.........।

संस्कारे युज्यमानानां तादर्थ्यात् तत्प्रयुक्तं स्यात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(संस्कारे) परमापूर्व के संस्कार में (युज्यमानानाम्) दीक्षणीयादि के अपूर्व में युज्यमान इस धर्म का (तादर्थ्यात्) परमापूर्व के लिये दीक्षणीयादि इष्टियों के धर्मों के होने से (तत्प्रयुक्तम्) परमापूर्व के लिये ही अर्थात् परमापूर्वप्रयुक्त ही (स्यात्) होवें । क्योंकि परमापूर्व ही फलवान् है ।

व्याख्या—परमापूर्व के संस्कार में=दीक्षणीयादि इष्टियों के अपूर्व में युक्त होनेवाले धर्म का परमापूर्व के लिये होने से दीक्षणीयादि [के धर्मों] की परम पूर्वतार्थता ही होवे, क्योंकि परमापूर्व ही फलयुक्त है । जो कर्तव्यरूप से सम्बद्ध होता है, वही धर्मों से सम्बद्ध होता है, अङ्गापूर्व धर्मों से सम्बद्ध नहीं होता, क्योंकि वह निष्प्रयोजन है ।

तेन त्वर्थेन यज्ञस्य संयोगाद् धर्मसंबन्धस्तस्माद् यज्ञप्रयुक्तं स्यात् संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥३॥ (उ०)

तेन त्वर्थेन दीक्षणीयादिना, यस्मात्परमापूर्वस्य सम्बन्धः, तस्मात्परमापूर्वमेवं-जातीयकेन धर्मेण धर्मवत्। तस्मादङ्गयज्ञप्रयुक्तमेवंजातीयकं धर्मजातम्। तथा श्रुतिः शब्दो भवति। इतरस्मिन् पक्षे लक्षणा स्यात्। न च प्रायणीयाद्यपूर्वं निष्प्रयोजनम्। ज्योतिष्टोमस्य हि तदुपकारकम्। न च तद्विनैवंजातीयकेन धर्मेण प्रायणीयाद्यपूर्वं सिद्धम्। अवहन्तिपिषिवत्।

यदुच्यते, विनैव धर्मेण तदपूर्वं भविष्यतीति। तन्न। कुतः? तदपि ह्यपूर्वं शब्दादेवावगम्यते। अस्तीति न प्राक् शब्दादन्येन प्रमाणेनोपसंख्यायते। एवंजातीयके च शब्दप्रमाणके यच्छब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्। शब्दश्च प्रायणीयाद्यपूर्वस्योप-

---

तेन त्वर्थेन यज्ञस्य संयोगाद् धर्मसम्बन्धस्तस्माद् यज्ञप्रयुक्तं स्यात् संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥३॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (तेन) उस (अर्थेन) दीक्षणीयादि अर्थ के साथ, (यज्ञस्य) अग्निष्टोम याग से उत्पन्न परमापूर्व का (संयोगात्) संयोग होने से (धर्मसम्बन्धः) धर्म का सम्बन्ध है। अर्थात् यतः दीक्षणीयादि इष्टियों का परमापूर्व के साथ सम्बन्ध है, अतः उन इष्टियों के धर्म से परमापूर्व धर्मवान् है।

व्याख्या—उस दीक्षणीयादि अर्थ से, जिस कारण परमापूर्व का सम्बन्ध है, इस कारण इस प्रकार के [अङ्गों के] धर्म से परमापूर्व ही धर्मवान् है। इससे अङ्ग यज्ञ प्रयुक्त इस प्रकार का धर्म [परमापूर्वप्रयुक्त नहीं है]। ऐसा मानने से श्रुति शब्द होता है [अर्थात् तत्तत् धर्मों का दीक्षणीयादि के साथ श्रुति से सम्बन्ध होता है]। इतर पक्ष में [दीक्षणीयादि के धर्मों का परमापूर्व से सम्बन्ध होने पर] लक्षणा होवे। प्रायणीय कर्म का अपूर्व निष्प्रयोजन नहीं है, वह ज्योतिष्टोम का उपकारक है। उक्त प्रकार (= मन्द्र स्वर) के धर्म के विना प्रायणीयादि का अपूर्व सिद्ध नहीं होता, अवहन्ति और पिषि के समान।

विवरण—इतरस्मिन् पक्षे लक्षणा स्यात्—भट्ट कुमारिल ने लिखा है—दीक्षणीयादि अर्थ के साथ जो धर्म संयुक्त है, वह परमापूर्वप्रयुक्त नहीं है। दीक्षणीया आत्मीय अपूर्व को लक्षित करती है। उस [अपूर्व] के साथ धर्मों का सम्बन्ध है। इस पक्ष में लक्षणा है [अर्थात् दीक्षणीया से उसके अपूर्व को लक्षित करके धर्म का सम्बन्ध माना है]। परन्तु जब दीक्षणी-यादि का अपूर्व परमापूर्व को लक्षित करता है तब लक्षित लक्षणा से धर्मों का सम्बन्ध होगा [अर्थात् दीक्षणीया अपने अपूर्व को लक्षित करेगी और वह अपूर्व परमापूर्व को लक्षित करके धर्मों का सम्बन्ध होगा]। इसलिये लक्षणा को 'श्रुतिः शब्दो भवति' कैसे कहा? इसका उत्तर है—लाक्षित लक्षणा की अपेक्षा से निकट होने से लक्षणा को श्रुति कहा गया है।

व्याख्या—जो कहते हो विना धर्म के वह अपूर्व होगा? ऐसा नहीं है। किस हेतु से? वह अपूर्व भी शब्द से ही जाना जाता है। वह अपूर्व है ऐसा शब्द से पूर्व किसी अन्य प्रमाण से नहीं कहा जाता है। इस प्रकार के शब्दप्रमाणवाले अर्थ में जो शब्द कहता है वह

कारकमिमं धर्ममाह, न परमापूर्वस्य। वचनप्रामाण्यात्। एवं चाऽऽपरमापूर्वनिष्पत्ते-रजरमविनाशि चात्र धर्मः प्रतिष्ठितो न परमापूर्वं संक्रमिष्यति। एवमपि प्रयोजन-समर्थम्[1]। तस्मादेवंजातीयकं धर्मजातमङ्गापूर्वप्रयुक्तमेवेति।

किं भवति प्रयोजनमितरस्मिन्नितरस्मिन् वा पक्ष इति। उच्यते—अश्वमेधे समाम्नायते, त्रैधातवीया[2] भवतीति। यदि परमापूर्वप्रयुक्त एवंजातीयको धर्मः, ततस्तस्योपकारविशेषे निबद्ध इति तत्कार्यापन्नायां त्रैधातवीयायां[3] भविष्यति। अथ, आग्नावैष्णवापूर्वप्रयुक्तस्ततो नेदमाग्नावैष्णवापूर्वमिति तत्र त्रैधातवीयापूर्वं न तेन धर्मेण संभन्त्स्यत इति ॥३॥

हमारे लिये प्रमाण है। शब्द प्रायणीयादि के अपूर्व का उपकारक इस धर्म को कहता है, वचन-प्रामाण्य से परमापूर्व के उपकारक को नहीं कहता। इस प्रकार परमापूर्व की निष्पत्ति से पूर्व अजर अविनाशी जो यहां धर्म प्रतिष्ठित है, वह परमापूर्व के प्रति संक्रमित नहीं होगा। इस प्रकार भी वह धर्म प्रयोजनसमर्थ है अर्थात् प्रयोजनवान् है। इसलिये इस प्रकार का धर्म अङ्गापूर्वप्रयुक्त ही है।

(आक्षेप) इतर इतर पक्ष में [अर्थात् दीक्षणीयादि के धर्मों को अङ्गापूर्वप्रयुक्त मानने वा परमापूर्वप्रयुक्त मानने में] क्या प्रयोजन होता है? (समाधान) कहते हैं—अश्व-मेध में त्रैधातवीय इष्टि होती है। यदि इस प्रकार का धर्म परमापूर्वप्रयुक्त हो तो उसके उपकारविशेष में निबद्ध होने से उसके कार्यापन्न त्रैधातवीया इष्टि में [भी ये धर्म] होंगे और यदि आग्नावैष्णवापूर्वप्रयुक्त है तो यह आग्नावैष्णव अपूर्व का धर्म नहीं होगा। वहां त्रैधातवीया का अपूर्व उसके धर्म से सम्बद्ध नहीं होगा।

विवरण—अश्वमेध में कहा है—त्रैधातवीया दीक्षणीया (आप० २०।८।४)। इस से अश्वमेध में दीक्षणीया के स्थान में त्रैधातवीया इष्टि कही गई है। अग्निष्टोम में दीक्षणीया इष्टि में आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपति, आग्नावैष्णवं वा घृते चरुम् (आप० १०।४।३)। दीक्षणीया का उच्चारण धर्म यावत्या वाचा केवल प्रधान कर्म का है, प्रधानकर्म है आग्ना-वैष्णव पुरोडाश वा चरु। यदि दीक्षणीया का धर्म परमापूर्वप्रयुक्त है तो दीक्षणीया के स्थान में प्रयुक्त होनेवाली त्रैधातवीयेष्टि में भी प्राप्त होगा, जैसे व्रीहि के अवहनन और पेषण में कहा गया व्रीहिसम्बद्ध प्रोक्षण नीवार में भी होता है। और यदि यावत्या वाचा धर्म दीक्षणी-येष्टि के आग्नावैष्णव कर्म सम्बद्ध अपूर्व से प्रयुक्त है तो दीक्षणीया स्थानीय त्रैधातवीया में आग्नावैष्णव कर्म के न होने से यावत्या वाचा धर्म भी प्रयुक्त नहीं होगा। भाट्टदीपिकाकार के मत में त्रैधातवीया इष्टि में भी यह धर्म कामचार होता है ॥३॥

---

१. 'प्रयोजनसमर्थः' इति पाठान्तरम्। २. 'त्रैधातव्या' इति पाठान्तरम्।
३. 'त्रैधातव्यायां' इति पाठान्तरम्।

[फलदेवताप्रकाशकयोर्मन्त्रयोरपूर्वप्रयुक्तत्वाधिकरणम् ।।३।।]

दर्शपूर्णमासौ स्तः—**दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत** इति । तत्र फलसंबद्धो धर्मो देवतासम्बद्धश्च श्रूयते। फलसम्बद्धस्तावत्—**अगन्म स्वः सं ज्योतिषाऽभूम**[1], इति । देवतासम्बद्धोऽपि—**अग्नेरहमुज्जितिमनूज्जेषं, सोमस्याहमुज्जितिमनूज्जेषम्**[2] इत्यादिः । तत्र संशयः—किं स्वर्गसम्बद्धस्य कर्मणः स्वर्ग एव प्रयोजकः, अग्न्यादि-सम्बद्धस्याग्न्यादय एव उतोभयत्राप्यपूर्वं प्रयोजकमिति । यद्येवमभिसम्बन्धः क्रियते, गताः स्मः स्वर्गम्, अग्न्यादीनां चोज्जितिमनूज्जेषमिति, ततः स्वर्गाग्न्यादिप्रयुक्तः । अथैवं क्रियते—आगता दर्शपूर्णमासफलं, दर्शपूर्णमासदेवतायाश्चोज्जितिमनूज्जेष-मिति ततोऽपूर्वप्रयुक्तः । किं प्राप्तम् ?

व्याख्या—दर्शपूर्णमास याग हैं—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत (=दर्शपूर्ण-मास यागों से स्वर्ग की कामनावाला यजन करे) । वहां फल से सम्बद्ध और देवता से सम्बद्ध धर्म सुना जाता है। फलसम्बद्ध—अगन्म स्वः सं ज्योतिषाऽभूम (=स्वर्ग को प्राप्त हुआ, ज्योति से सम्बद्ध हुआ)[3] । देवतासम्बद्ध—अग्नेरहमुज्जितिमनूज्जेषम्, सोमस्याहमु-ज्जितिमनूज्जेषम् (=अग्नि की उज्जिति=ऊर्ध्वलोक जय का अनुसरण कर मैं भी ऊर्ध्व लोक को जीतूं, अर्थात् अग्नि का जैसे ऊर्ध्वलोक में ऐश्वर्य है, वैसा मेरा भी होवे[4] । (सोम की उज्जिति=ऊर्ध्वलोक जय का अनुसरण कर मैं भी ऊर्ध्व लोक को जीतूं,……) । इस विषय में संशय है=क्या स्वर्ग से सम्बद्ध कर्म का स्वर्ग ही प्रयोजक है, अग्नि आदि देवता सम्बद्ध कर्म का अग्न्यादि ही प्रयोजक है, अथवा दोनों में अपूर्व प्रयोजक है ? यदि ऐसा सम्बन्ध करते हैं—'हम स्वर्ग को प्राप्त हुए, अग्न्यादि देवताओं की उज्जिति को जीता ।' तब स्वर्ग और अग्न्यादि प्रयुक्त है। और यदि ऐसा सम्बन्ध करते हैं—[हमने] प्राप्त हुए दर्शपूर्णमास के [स्वर्ग] फल को, दर्शपूर्णमास देवता की उज्जिति को जीता। तब अपूर्वप्रयुक्त है। क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—यहां यह विचारणीय है कि अगन्म स्वः तथा अग्नेरुज्जिति इत्यादि मन्त्र स्वयं मन्त्र के पाठ से स्वर्गप्राप्ति तथा अग्नि आदि देवता की उज्जिति के जप का स्वतन्त्र

---

१. मै० सं० १।४।२।।

२. द्र०—तै० सं० १।६।४।। तत्र वाक्ययोः पौर्वापर्यं दृश्यते । सायणभाष्ये तु यः पाठ उद्ध्रियते, तत्र भाष्यक्रमेणैव पाठः ।

३. कुतूहलवृत्तिकार ने 'अगन्म' को 'लेट्' का छान्दस रूप माना है। तदनुसार 'अभूम' भी लेट् का रूप होगा। तब अर्थ होगा—'स्वर्ग को प्राप्त होऊं, ज्योति से सम्बद्ध होऊं' ।

४. यह शब्दार्थ और तात्पर्य कुतूहलवृत्ति के अनुसार है। तै० सं० १।६।४ के भट्ट-भास्करीय भाष्य की भी यही ध्वनि प्रतीत होती है।

फलदेवतयोश्च ॥४॥ (पू०)

स्वर्गाग्न्यादिप्रयुक्त इति । कुतः ? मन्त्राम्नानसामर्थ्यात् । यस्य मन्त्रो वाचकः, स इह वदितव्य इति गम्यते । श्रुत्या च स्वर्गाग्न्यादीनां वाचको मन्त्रः । लक्षणया दर्शपूर्णमासफलदेवतयोः । तस्माद् यत्फलदेवतामिति समधिगतं[1] स्वर्गाग्न्यादि, तत्प्रयुक्तो धर्मः स्यादिति ॥४॥

न चोदनातो हि तादृगुण्यम् ॥५॥ (उ०)

नैतदस्ति, स्वर्गाग्न्यादिप्रयुक्त इति । चोदनातस्तादृगुण्यं स्यात् । यत्फलवच्चोद्यते, तदितिकर्तव्यतयानुबध्यते । अपूर्वं च फलवत्, न स्वर्गाग्न्यादि । तदर्थं वचनं सदट्टष्टार्थं कल्प्येत । लक्षणया चापूर्वफलदेवतावचने दृष्टोऽर्थः स्यात् । प्रोत्साहनात् । एतस्मिन् पक्षान्तरे दृष्टे सति न स्वर्गाग्न्यादिवचनस्यापूर्वकल्पना[2]

रूप से प्रकाशन करते हैं, तब स्वर्ग और अग्न्यादि सम्बद्ध उज्जिति का प्रयोजक स्वयं स्वर्ग और अग्न्यादि ही प्रकाशक हैं । अथवा दर्शपूर्णमास की चोदना से जो अपूर्व होता है, तत्सम्बद्ध स्वर्गादि फल और दर्शपूर्णमास निर्दिष्ट देवता की उज्जिति के जप का सम्बन्ध है, तब ये स्वर्ग और उज्जितियां अपूर्वप्रयुक्त हैं ।

फलदेवतयोश्च ॥४॥

सूत्रार्थः—(फलदेवतयोः) फल और देवता में (च) भी स्वर्ग और अग्न्यादिप्रयुक्त है, मन्त्रपाठ के सामर्थ्य से ।

व्याख्या—स्वर्ग और अग्न्यादिप्रयुक्त है । किस हेतु से ? मन्त्रपाठ के सामर्थ्य से । मन्त्र जिसका वाचक है उसे यहां कहना चाहिये । और मन्त्र श्रुति से स्वर्ग और अग्न्यादि का वाचक है । लक्षणा से दर्शपूर्णमास के फल और देवता को कहेगा । इसलिये जो स्वर्ग तथा अग्न्यादि फल और देवता जाने गये हैं, उनसे प्रयुक्त धर्म होवे ॥४॥

न चोदनातो हि तादृगुण्यम् ॥५॥

सूत्रार्थः—(न) मन्त्रोच्चारण फल का तथा देवता के स्वरूप का प्रकाशन प्रयोजक नहीं है । (चोदनातः) 'यजेत' इत्यादि चोदना से अपूर्व के कर्तव्यतया फलदेवता के स्वरूप के प्रकाशन द्वारा अपूर्वार्थ होने से (तादगुण्यम्) अपूर्व का अङ्ग (हि) ही है ।

व्याख्या—यह नहीं है—स्वर्ग अग्न्यादिप्रयुक्त हैं । चोदना से तादृगुण्य होवे । जो फलवाला चोदित होता है=कहा जाता है, वह इतिकर्तव्यता से सम्बद्ध होता है । और अपूर्व ही फलवाला है, स्वर्ग और अग्न्यादि फलवाले नहीं हैं । उस (=फलवान्) के लिये वचन होता हुआ अदृष्टार्थ कल्पित होगा । और लक्षणा से अपूर्व से सम्बद्ध फल और अग्न्यादि देवता के वचन में दृष्ट अर्थ होवे । कार्यकर्त्ता को प्रोत्साहित करने से । इस पक्षान्तर के दृष्ट

---

१. 'समधिगत सिद्धान्ते' इति पाठान्तरम् ।
२. 'अपूर्वस्य कल्पना' इति पाठान्तरम् ।

न्याय्या। शब्दार्थस्य च फलदेवतात्वेन[1] संप्रतिपन्नत्वाल्लक्षणाऽदुष्टा[2]। तस्मादपूर्वप्रयुक्त एवंजातीयको धर्म इति।

किं भवति विचारस्य प्रयोजनम्? यथा पूर्वः पक्षः सौर्ये कर्मण्यविकारेण मन्त्रः प्रयोक्तव्यः। यथा तर्हि सिद्धान्तः, ऊहेन, अगन्म[3] ब्रह्मवर्चसं, सूर्यस्योज्जितिमनूज्जेषमिति। फले पर्यवसितम्। देवतायामुत्तरा चिन्ता वर्तिष्यते ॥५॥

❀★❀

[धर्माणां देवताप्रयुक्तत्वाभावाधिकरणम् ॥४॥]

देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद् भोजनस्य तदर्थत्वात् ॥६॥ (पू०)

नैतदस्ति, अग्न्यादयोऽप्रयोजका इति। सर्वा देवताः सर्वेषां धर्माणां प्रयो-

---

होने पर स्वर्ग देवतादि वचन के अपूर्व की कल्पना न्याय्य नहीं है। शब्दार्थ के फलदेवतारूप से संप्रतिपन्न होने से लक्षणा दुष्ट नहीं है। इसलिये अपूर्वप्रयुक्त है इस प्रकार का धर्म।

विचार का क्या प्रयोजन है? जैसा कि पूर्व पक्ष है तदनुसार सौर्यकर्म में विकाररहित (=यथातथ 'अग्नेरहमुज्जितिम्' इसी रूप में) मन्त्र प्रयोक्तव्य है। और जैसा सिद्धान्त है तदनुसार ऊह से—अगन्म ब्रह्मवर्चसम्, सूर्यस्योज्जितिमनूज्जेषम् इसे पढ़ना चाहिये। फल के विषय में विचार पूर्ण हुआ। देवता के विषय में अगली विचारणा की जायेगी ॥५॥

❀★❀

देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद् भोजनस्य तदर्थत्वात् ॥६॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष को निवर्तित करता है—अग्न्यादि देवता प्रयोजक नहीं हैं। (देवता) इन्द्रादि देवता (प्रयोजयेत्) सब अङ्गप्रधानादि कर्मों को प्रयोजित करे। (अतिथिवत्) जैसे अतिथि (भोजनस्य) भोजन का प्रयोजक होता है। (तदर्थत्वात्) भोजन का अतिथि के लिये होने से। उसी प्रकार सब अङ्गप्रधान कर्मों के इन्द्रादि देवता ही प्रयोजक हैं।

विशेष—सभी व्याख्याकारों ने भोजनस्य तदर्थत्वात् का सम्बन्ध देवता के साथ जोड़ा है अर्थात् याग में प्रयुक्त द्रव्य देवता के भोजन हैं देवताओं के लिये होने से।

व्याख्या—यह नहीं है कि अग्नि आदि देवता ही हैं। सब देवता सब धर्मों के प्रयोजक

---

१. 'फलदेवतत्वेन' इति पाठान्तरम्।

२. 'लक्षणाऽदुष्टा' इत्यपपाठः। 'अदुष्टा' इत्याचार्यपाठितः पाठः।

३. 'आगन्म' इत्यपपाठः पुणेमुद्रिते।

जिका भवितुमर्हन्ति । कुतः ? भोजनस्य तदर्थत्वात् । भोजनं हीदं देवतायाः, यागो नाम । भोज्यं द्रव्यं देवतायै प्रदीयते, सा भोक्ष्यत इति । देवतासम्प्रदानको ह्ययं यागः श्रूयते । संप्रदानं च नाम कर्मणोऽपीप्सिततमादभिप्रेततरम् । तस्मान्न गुणभूता देवता, देवतां प्रति गुणभूते द्रव्यकर्मणी । अपि च, यागो नाम देवतापूजा । पूजा च पूजनीयं प्रति गुणभूता लोके दृश्यते । तदेतदतिथिवद् द्रष्टव्यम् । यथा,यावत्किंचिद-तिथेः परिचरणं सर्वं तदतिथिप्रयुक्तम् । एवमिदमपीति ।

आह । नन्वेवं ब्रुवता, विग्रहवती देवता, भुङ्क्ते चेत्यभ्युपगतं भवति । उच्यते । बाढम् । विग्रहवती देवता, भुङ्क्ते च । कुतः ? स्मृतेः, उपचारात्, अन्यार्थदर्शनाच्च । एवं हि स्मरन्ति—विग्रहवती देवतेति । स्मृतिश्च नः प्रमाणम् । तथा विग्रहवतीं देवतामुपचरन्ति—यमं दण्डहस्तमालिखन्ति, कथयन्ति च । तथा, वरुणं पाशहस्तम्, इन्द्रं वज्रहस्तम् । उपचारादपि स्मृतेर्दृढिमानं कल्पयामः । तथाऽन्यार्थ-

---

होने में समर्थ हैं । किस हेतु से ? भोजन के उनके लिये होने से । भोजन ही यह है देवता का जो याग है । भोज्य द्रव्य देवता के लिये [इसलिये] दिया जाता है, कि वह खायेगी । देवता सम्प्रदानवाला ही यह याग सुना जाता है । और सम्प्रदान ईप्सिततम कर्म से भी अभिप्रेततर है । इसलिये देवता गुणभूत नहीं है, देवता के प्रति द्रव्य और कर्म गुणभूत हैं । और भी, याग नाम है देवतापूजा का । और पूजा पूजनीय के प्रति गुणभूत लोक में देखी जाती है । उसे अतिथि के समान जानना चाहिये । जैसे—जो कुछ भी अतिथि की परिचर्या है वह सब अतिथिप्रयुक्त है । इसी प्रकार यह [याग] भी है ।

विवरण—**देवतासम्प्रदानको ह्ययं यागः**—*यथा अग्नयेऽष्टाकपालं पौर्णमास्याममावास्यां चाच्युतो भवति*—यहां अग्नि से सम्प्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति है । इसी प्रकार सब यागों में देवता में चतुर्थी विभक्ति देखी जाती है । जब द्रव्य देवता को उद्देश्य करके दिया जाता है तब अग्नि सम्प्रदान होता है । **कर्मणोऽपीप्सिततमादभिप्रेततरम्**—जो ईप्सिततम होता है वह कर्म होता है—**ईप्सिततमं कर्म** (अष्टा० १।४।४९) । उस ईप्सिततम पदार्थ से जिसकी इच्छा पूर्ण की जाती है वह सम्प्रदान होता है—**कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्** (अष्टा० १।४।३२) । इस प्रकार सम्प्रदान ईप्सिततम कर्म से भी अधिक अभिप्रेत होता है । **यागो नाम देवतापूजा**—यज धातु का अर्थ है—देवपूजा संगतिकरण और दान ।

व्याख्या—(आक्षेप) इस प्रकार कहते हुए 'शरीरधारिणी देवता है और वह खाती है' ऐसा स्वीकार करना होता है । (समाधान) सत्य है । देवता शरीरधारिणी है और वह खाती है । किस हेतु से ? स्मृति के व्यवहार से तथा अन्यार्थदर्शन से । ऐसा [शास्त्रकार] स्मरण करते हैं—देवता शरीरधारिणी है । और स्मृति हमारे लिये प्रमाण है । तथा विग्रह-वती देवता का व्यवहार करते हैं । 'यम' को दण्डहस्त (हाथ में दण्ड लिये) चित्रित करते हैं और कहते हैं । तथा 'वरुण' को पाशहस्त, 'इन्द्र' को वज्रहस्त । उपचार(= व्यवहार)से भी

वचनं, विग्रहवतीं देवतां दर्शयति—**जगृम्भा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तम्**[1] इति। पुरुषविग्रहस्य हि दक्षिणः सव्यश्च हस्तो भवति। तथा—**इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे तत्संगृभ्णा मघवन् काशिरित्ते**[2] इति। काशिर्मुष्टिः। सोऽपि पुरुषविग्रहस्यैवोपपद्यते। तथा—**तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे। इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते**[3] इति। ग्रीवा, उदरं, बाहू इति पुरुषविग्रहदर्शनं भवति। तस्माद् विग्रहवती देवतेति।

भुङ्क्ते च। कथमवगम्यते ? स्मृतेः, उपचारात्, अन्यार्थदर्शनाच्च। एवं स्मरन्ति, भुङ्क्ते देवतेति। तथा चैनां भुञ्जानामिवोपचरन्ति यदस्यै[4] विविधानुपचारानुपहरन्ति। तथा चान्यार्थवचनं भुञ्जानां देवतां गमयति। **अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य**[5] इति। तथा च—**विश्वा सनानि जठरेषु धत्त**[6] इति। **एकया प्रतिधापिबत्साकं सरांसि त्रिंशतम्**[7] इति। आह। न देवता भुङ्क्ते। यदि च भुञ्जीत, देवतायै हविः प्रत्तं क्षीयेत। उच्यते। अन्नरसभोजिनी देवता मधुकरीवदवगम्यते।

स्मृति की दृढता समर्थित होती है। तथा अन्यार्थ वचन भी विग्रहवती देवता को जनाता है—जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तम् (=हे इन्द्र हम तेरे दाहिने हाथ को ग्रहण करते हैं, उसका सहारा लेते हैं)। पुरुषशरीरधारी का ही दाहिना और बांया हाथ होता है। तथा इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे तत्संगृभ्णा मघवन् काशिरित्ते (=हे इन्द्र मघवन् जो अपार द्यावापृथिवी है उनको तुम्हारी मुट्ठी पकड़े हुए है अर्थात् तुम्हारी मुट्ठी में हैं)। काशि नाम मुट्ठी का है। वह भी पुरुषशरीरधारी की हो सकती है। तथा तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे। इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते (=उन्नत ग्रीवावाला, वपा जिस के उदर में है, शोभन बाहूवाला सोम के मद में मस्त इन्द्र वृत्रों को मारता है)। ग्रीवा उदर बाहु ये पुरुषशरीरधारी को बतानेवाले होते हैं। इसलिये देवता शरीरधारी है।

[देवता] खाती भी है। कैसे जाना जाता है ? स्मृति से, व्यवहार से तथा अन्यार्थ दर्शन से। स्मृतिकार ऐसा कहते हैं कि देवता खाती है। तथा खाते हुए के समान ही इसके साथ व्यवहार करते हैं, जो इसके लिये विविध द्रव्यों को उपाहृत करते हैं। तथा अन्यार्थ दर्शन भी 'देवता खाती है' ऐसा बताते हैं—अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य (=हे इन्द्र खाओ और सामने उपस्थित [सोम] को पीओ)। तथा विश्वा सनानि जठरेषु धत्त (=सब अन्नों को उदरों में रखो=खाओ)। एकया प्रतिधापिबत् साकं सरांसि त्रिंशतम् (=एक ही सांस में तीस [सोम के] तालाबों=ग्रहों को पी जाओ। (आक्षेप) देवता नहीं खाती। यदि वह खाये तो देवता के लिये दी हुई हवि क्षीण हो जावे अर्थात् समाप्त हो जावे। (समाधान) देवता अन्न के रस को खानेवाली है मधुमक्खी के समान विदित होती है। किस हेतु से ?

---

१. ऋ० सं० १०।४७।१॥ २. ऋ० सं० ३।३०।५॥
३. ऋ० सं० ८।१७।८॥ ४. 'यदाऽस्यै' इति पाठान्तरम्।
५. ऋ० सं० १०।११६।७॥ ६. ऋ० सं० १।६५।१०॥ ७. ऋ० सं० ८।७७।४॥

कथम् ? देवतायै हविः प्रत्तं नीरसं भवति । तस्मादन्नरसं भुङ्क्ते देवतेति गम्यते ॥६॥

यदि कस्यचिदर्थस्येशाना देवता, उपचर्यमाणा च प्रसीदेत्, ततस्तदाराधनार्थमियं देवतापूजाऽभिनिर्वर्त्येत[1] । न चैतदुभयमप्यस्तीति । तदुच्यते—

आर्थपत्याच्च ॥७॥

अर्थपतिर्देवतेति । कथमवगम्यते ? स्मृतेः, उपचारात्, अन्यार्थदर्शनाच्च । एवं हि स्मरन्ति[2] । अर्थानामीष्टे देवतेति । तथा, देवग्रामो देवक्षेत्रमित्युपचारस्तामेव स्मृतिं द्रढयति ।[3] तथा अन्यार्थवचनमीशानां देवतां दर्शयति । इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे

देवता के लिये दी हुई हवि नीरस हो जाती है । इससे देवता अन्नों के रस को खाती है, यह जाना जाता है ॥६॥

व्याख्या—यदि किसी अर्थ की स्वामिनी देवता है और उपचर्यमाण (=सेवा की हुई) प्रसन्न होवे तो उसके आराधन (=प्रसन्न करने) के लिए देवता की पूजा की जाये । ये दोनों ही नहीं हैं । इस विषय में कहते हैं—

आर्थपत्याच्च ॥७॥

सूत्रार्थः—देवता के (आर्थपत्यात्) अर्थ के पतित्व के कारण (च) भी देवता विग्रहवती है ॥

विशेष—सुबोधिनीवृत्ति में "अर्थापत्त्या च" सूत्रपाठ है । इसका अर्थ किया है—"देवता के अर्थों की=सम्पूर्ण फलों की आपत्ति=स्वामित्व होने से ।" कुतूहलवृत्ति में यह तथा अगला सूत्र नहीं है ।

निरुक्त ७।१ में ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते "आर्थपत्य" शब्द का प्रयोग होने से भाष्यकार द्वारा व्याख्यात सूत्रपाठ ही युक्त है । ऐसा हमारा विचार है ।

व्याख्या—देवता अर्थ की पति=स्वामिनी है । कैसे जाना जाता है ? स्मृति से, उपचार से और अन्यार्थदर्शन से । ऐसा [स्मृतिकार] कहते हैं—अर्थों पर शासन करती है देवता । तथा देवग्राम, देवक्षेत्र ऐसा व्यवहार भी उसी स्मृति को दृढ़ करता है । तथा अन्यार्थ वचन भी देवता [अर्थ की] स्वामिनी है, यह दर्शाता है—इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत् पर्वतानाम् । इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य

---

१. 'निर्वर्त्येत' इति पाठान्तरम् । २. 'स्मरन्ति हि' इति पाठान्तरम् ।

३. 'तथा देवग्रामो............द्रढयति' एतावान् पाठो पुरेमुद्रितें नोपलभ्यते । पूर्ववदावश्यकोऽयं पाठः ।

पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम्। इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः[1] इति। तथा ईशानमस्य जगतः **स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः**[2] इति।

तथा, स्मृत्युपचाराभ्यां प्रसीदतीत्यवगच्छामः[3]। एवं हि स्मरन्ति—**प्रसीदति** देवता इति। तथोपचरन्ति—प्रसन्नोऽस्य पशुपतिः, पुत्रोऽस्य जातः। प्रसन्नोऽस्य वैश्रवणः, धनमनेन लब्धमिति। तथाऽन्यार्थदर्शनं भवति—**आहुतिभिरेव**[4] **हुतादो देवान् प्रीणाति तेऽस्मै**[5] **प्रीता इषमूर्जं नियच्छन्ति**[6] इति ॥७॥

इन्द्रः (=इन्द्र द्युलोक और इन्द्र पृथिवी लोक का स्वामी है, इन्द्र अपों=जलों का और पर्वतों=मेघों का, इन्द्र बढ़नेवाले भूतों का और इन्द्र यज्ञ करनेहारों का, इन्द्र ही योग=अप्राप्त की प्राप्ति तथा क्षेम=प्राप्त की रक्षा के विषय में आह्वनीय हैं)। तथा ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः **(=इन्द्र ही इस चेतन जगत् का स्वामी है, वही स्वः=सुखदर्शयिता है और वह इन्द्र जड़ जगत् का स्वामी है)।**

तथा स्मृति और व्यवहार से भी देवता प्रसन्न होती है, ऐसा हम जानते हैं। ऐसा स्मरण करते हैं—देवता प्रसन्न होता है। तथा व्यवहार करते हैं—पशुपति (=शिव) इस पर प्रसन्न हैं [अतएव] इसका पुत्र उत्पन्न हुआ। वैश्रवण (=कुबेर) इस पर प्रसन्न है, इसने धन प्राप्त किया। तथा अन्यार्थदर्शन होता है—आहुतिभिरेव हुतादो देवान् प्रीणाति तेऽस्मै प्रीता इषमूर्जं नियच्छन्ति **(=आहुतियों से हुताद्=अग्नि में प्रक्षिप्त हवि को खानेवाले देवों को तृप्त करता है वे उसके लिए प्रीति से अन्न और बल को देते हैं ॥७॥**

विवरण—"पशुपति" शब्द में पशु शब्द चौपाये का वाचक नहीं है। यदि वह चौपाये का वाचक हो तो चौपायों का स्वामी किसी मनुष्य को पुत्र कैसे दे सकता है? अतः यहां "पशु" शब्द यौगिक है—**पश्यतीति पशुः**। जो केवल देख सकता है, बुद्धि से काम नहीं ले सकता। अतः बुद्धिहीन नवजात शिशु, युवा अथवा वृद्ध पुरुष भी जो ज्ञानरहित है, पशु कहाता है। अथर्ववेद के विवाहसूक्त में नववधू को आशीर्वादमन्त्र है—**उत्तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्था-न्नानारूपा पशवो जायमानाः** (अथर्व० १४।२।२५)। साहित्य, संगीत और कलाविहीन पुरुष को भी पशु कहा है—**साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः**। (नीति-शतक) ॥७॥

---

१. ऋ० सं० १०।८९।१०॥
२. ऋ० सं० ७।३२।२२॥
३. 'प्रसीदतीत्युपगच्छामः' इति पाठान्तरम्।
४. 'आहुतिमिरिव' इत्यपपाठः।
५. 'प्रीणातीति तस्मै' इत्यपपाठः।
६. मै० सं० १।४।६॥

ततश्च तेन सम्बन्धः ॥८॥

ततो देवतायास्तेन फलेन सम्बन्धः परिचरितुर्भवति। यो देवतामिज्यया परिचरति, तं सा फलेन सम्बध्नाति । कथमेतदवगम्यते ? स्मृत्युपचाराभ्याम् । स्मरन्ति हि—देवता यष्टुः फलं ददातीति । तामेवोपचारेण स्मृतिं द्रढयति—पशुपतिरनेनोपचरितः, पुत्रोऽनेन लब्ध इति । तथा, अन्यार्थदर्शनमिममेवार्थं दर्शयति—**स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः। देवानां यः पितरमाविवासति, श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम्**[1] इति। तथा—**तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति**[2] इति। तस्माद्धविर्दानेन गुणवचनैश्च देवताऽऽराध्यते, सा प्रीता सती फलं प्रयच्छति । येन कर्मणाऽग्निराराधितो यस्य[3] फलस्येष्टे, तत्कर्त्रे प्रयच्छति, न तत्सूर्यः प्रदातुमर्हति । वचनादेतदवगम्यते[4] कः किं प्रयच्छतीति । यथा अग्नौ वचनं, न तत्सूर्ये ॥८॥

ततश्च तेन सम्बन्धः ॥८॥

सूत्रार्थः—यतः देवता सब फलों की स्वामिनी है (ततः) इस कारण (च) ही देवता का (तेन) स्वर्गादिफल के साथ (सम्बन्धः) परिचर्या करनेवाले का सम्बन्ध होता है। [चकार एवार्थकः]।

व्याख्या—इस कारण देवता का उस फल के साथ परिचारक का सम्बन्ध होता है। जो देवता की याग से परिचर्या करता है, उसको वह देवता फल से सम्बद्ध करती है। यह कैसे जाना जाता है ? स्मृति और व्यवहार से । ऐसा स्मरण करते हैं—देवता याग करनेवालों को फल देती है। इसी स्मृति को व्यवहार दृढ़ करता है—पशुपति की इसने परिचर्या की, अतः इसने पुत्र प्राप्त किया। तथा अन्यार्थदर्शन इसी अर्थ को दर्शाता है—स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः। देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम् (=वह यजमान ही जन=भृत्यादि से, वह प्रजा से, वह जन्म से, वह पुत्रों से वाज=अन्न वा बल आदि को धारण करता है, वह बन्धु-बान्धवों सहित धनों को धारण करता है, जो देवों के पितर ब्रह्मणस्पति की श्रद्धायुक्त मन से हवि के द्वारा परिचर्या करता है)। तथा—तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति (=परिचर्या से तृप्त हुआ ही इन्द्र इसको प्रजा और पशु से युक्त करता है)। ये जिस कर्म से अग्नि आराधित =पूजित हुआ जिस फल का स्वामी है, उसे आराधनकर्ता को देता है। वह फल सूर्य देने में समर्थ नहीं होता। वचन से यह जाना जाता है कौन देवता क्या फल देता है। यथा—अग्नि के विषय में जो वचन है, वह सूर्य के विषय में नहीं है ॥८॥

---

१. ऋ० सं० २।२६।३॥ तै० सं० २।३।१४॥

२. तै० सं० २।५।४।३॥

३. 'तस्य' इति पाठान्तरम्। ४. 'वचनादेवावगम्यते' इति पाठान्तरम्।

अपि वा शब्दपूर्वत्वाद् यज्ञकर्म प्रधानं स्याद् गुणत्वे देवताश्रुतिः ॥९॥ (सि०)

अपि वेति पक्षो व्यावर्त्यते । न चैतदस्ति, यदुक्तं देवता प्रयोजिकेति । यज्ञकर्म प्रधानं स्यात् । यजतेर्जातमपूर्वम् । कुतः ? शब्दपूर्वत्वात् । यद्धि फलं ददाति, तत्प्रयोजकम् । इदं फलं ददातीत्येतज्ज्ञानं शब्दपूर्वकं, न प्रत्यक्षादिभिरवगम्यते । शब्दश्च यजतिवाच्यात्फलमाह, न देवतायाः । कथमवगम्यते ? दर्शपूर्णमासयोः करणत्वेन निर्देशः—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत[1] इति । तथा **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत[2]** इति । यजत्यर्थस्य हि स्वर्गकामेन समभिव्याहारो न देवतायाः । ननु द्रव्यदेवताक्रियं यजत्यर्थः । सत्यमेवम् । किं तु गुणत्वे देवताश्रुतिः । द्रव्यदेवतं हि भूतं, भावयितव्यो यजत्यर्थः । भूतभव्यसमुच्चारणे च भूतं भव्यायोपदिश्यते । तस्मान्न देवता प्रयोजिका ।

अपि वा शब्दपूर्वत्वाद् यज्ञकर्म प्रधानं स्याद् गुणत्वे देवताश्रुतिः ॥९॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) ये पद पूर्व उक्त पक्ष 'देवता फल के प्रयोजक हैं' के निवर्तक हैं । (शब्दपूर्वत्वात्) फलप्रदान के शब्दपूर्वक होने से अर्थात् शब्द से ही ज्ञेय होने से । (यज्ञकर्म) यज्ञकर्म (प्रधानम्) प्रधान है । उसके प्रति (गुणत्वे) गौणरूप में (देवताश्रुतिः) देवता का कथन है ।

व्याख्या—'अपि वा' से [पूर्व उक्त] पक्ष निवर्तित किया जाता है । यह नहीं है—जो कहा है देवता [फल की] प्रयोजिका है । यज्ञ कर्म प्रधान होवे । यजति से उत्पन्न अपूर्व [प्रधान होवे] । किस हेतु से ? शब्दपूर्वक होने से । जो फल देता है वह फल का प्रयोजक होता है । 'यह फल देता है' यह ज्ञान शब्द से ही होता है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं जाना जाता है । शब्द 'यजति' वाच्य से फल को कहता है, देवता वाच्य से नहीं । यह कैसे जाना जाता है ? दर्शपूर्णमास का करणरूप से निर्देश है—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत **(=दर्शपूर्णमासों से स्वर्ग की कामनावाला यज्ञ करे) । तथा—**ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत **(=ज्योतिष्टोम से स्वर्ग की कामनावाला यजन करे) । 'यजति' वाच्य अर्थ का ही स्वर्गकाम शब्द से समभिहार (=सहोच्चारण) है, देवतावाच्य अर्थ से समभिहार नहीं है । (आक्षेप) द्रव्य देवता और क्रिया (त्याग) वाला यजति का अर्थ है । (समाधान) ऐसा कथन सत्य है । किन्तु देवता की श्रुति गुणत्व में है । द्रव्य और देवताभूत (=पूर्वतः विद्यमान) हैं, यजति का अर्थ भावयितव्य है । भूत और भव्य के सहोच्चारण में भूत का भव्य के लिये कथन होता है । इससे देवता [फल में] प्रयोजिका नहीं है ।**

---

१. नोपलब्धमूलम् । द्र०—आप०श्रौत ३।१४।८-९—स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासौ एककामः सर्वकामो वा ।

२. द्र०—स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत । आप० श्रौत १०।२।१॥

अथ यदुक्तम्—'कर्मण ईप्सितादभिप्रेततरम्' इति। नास्याभिप्रेततामपह्नुमहे। तद्धितशब्देन चतुर्थ्या वा संयुक्तस्य देवतार्थस्य वाक्यादभिप्रेतताऽवगम्यते। फलसंयोगस्तु वाक्यादेव यजत्यर्थस्य। तस्य च श्रुत्या करणताऽवगम्यते, न देवतायाः। तत्र यद्यपि देवतार्थता यागस्य गम्यते, फलार्थताऽपि तेन न प्रतिषिध्यते। फलं च पुरुषार्थः। पुरुषार्था च नः प्रवृत्तिः। न चासौ देवतायाः। तस्मान्न देवताप्रयुक्ताः प्रवर्तिष्यामहे। या तु सम्प्रदानस्याभिप्रेतता, सा फलवतो यजेः साधनत्वे सत्युपपद्यते।

यच्च, यजिर्देवतापूजा, सा पूज्यमानप्रधाना लोके लक्ष्यत इति। न लोकवदिह भवितव्यम्। इह पूज्यमानपूजाप्रधानम्[1]। यद्धि फलवत्, तत्प्रयोजकम्। तस्माद्यज्ञकर्म प्रयोजकम्। अपि चैतस्मिन् पक्षे विग्रहवती देवता, भुङ्क्ते चेत्यध्यवसनीयं भवति। न ह्यविग्रहायै, अभुञ्जानायै च दानं भोजनं वा सम्भवतीति।

यच्चोक्तं, स्मृत्युपचारान्यार्थदर्शनैर्विग्रहवती, भुङ्क्ते चेति। तन्न। स्मृतेर्मन्त्रार्थवादमूलत्वात्। मन्त्रेभ्यश्चार्थवादेभ्यश्च स्मृतिमूलं विज्ञानमुत्पद्यत इति प्रत्यक्ष-

---

और जो यह कहा—ईप्सिततम कर्म से भी [सम्प्रदान=देवता] अभिप्रेत (=अधिक इष्ट) होता है।' हम [देवता] की अभिप्रेततरता को नहीं झुठलाते। तद्धित शब्द से अथवा चतुर्थी से संयुक्त देवतार्थ की वाक्य से अभिप्रेततरता जानी जाती है। फल का संयोग तो यजति के अर्थ के साथ वाक्य से ही जाना जाता है। उस की करणता श्रुति (=तृतीया विभक्ति) से जानी जाती है, देवता की करणता नहीं जानी जाती। इस विषय में यद्यपि याग की देवतार्थता जानी जाती है, [परन्तु] उससे [याग] फलार्थता भी प्रतिषिद्ध नहीं होती। फल ही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ के लिये ही हमारी प्रवृत्ति होती है। देवता के लिये वह (=प्रवृत्ति) नहीं होती। इसलिये देवता से प्रयोजित हुए हम प्रवृत्त नहीं होते। और जो सम्प्रदान की अभिप्रेततरता है, वह फलवाले यजि के साधन होने पर ही उपपन्न होती है।

और जो कहा—'यज' का अर्थ है देवपूजा, वह पूज्यमानप्रधान (=पूजा से पूज्यमानप्रधान) लोक में लक्षित होती है। यहां लोकवत् नहीं हो सकता। यहां पूज्यमान की पूजा प्रधान है, जो ही फलयुक्त है वह प्रयोजक है। इसलिये यज्ञकर्म प्रयोजक है। और भी, इस पक्ष (=पूज्यमानप्रधान) में विग्रहवती देवता और वह भक्षण करती है, यह स्वीकार करना होता है। विग्रहरहित और न खानेवाली देवता के लिये दान वा भोजन सम्भव नहीं होता है।

और जो कहा—'स्मृति उपचार और अन्यार्थदर्शनों से देवता विग्रहवती है और वह खाती है।' यह ठीक नहीं है। स्मृति के मन्त्रार्थ और अर्थवादमूलक होने से। मन्त्रों से और अर्थवादों से स्मृति के मूल का ज्ञान उत्पन्न होता है, यह प्रत्यक्ष जाना जाता है। वे मन्त्र और

---

१. 'इह पूज्यमानं पूजाप्रधानम्' इत्यपपाठः पुणेमुद्रिते।

मवगम्यते। ते च मन्त्रार्थवादा नवंपरा इत्येतद् वक्ष्यामः। आह। यदि नैवंपरा न तर्हि मन्त्रार्थवादमूलं तद्विज्ञानमिति। उच्यते। य आलोचनमात्रेण मन्त्रार्थवादान् पश्यन्ति, तेषां[1] तत्स्मृतिमूलम्। ये पुनर्निपुणतः पश्यन्ति, तेषां तद्बाधितम् अपि च कस्यचित् स्मृतिमूल भवति। तस्मात्तत एव स्मृतिः। उपचारोऽपि स्मृतिमूल एव।

यत्तु, अन्यार्थदर्शनमुक्तम्—**जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तम्** इति। नंतदेवपरम्—इन्द्रस्य हस्तो विद्यत इति। यस्तस्य दक्षिणो हस्तस्तं वयं गृहीतवन्त इति। तस्माद् वाक्यादिन्द्रस्य हस्तसत्ता न प्रतीयते। आह। यदि त्वसौ नास्ति, वयं ते हस्तं गृहीतवन्त इत्येवं नावकल्पत इति हस्तसत्ताऽध्यवसीयते, अस्त्यसौ हस्तो वयं यं गृहीतवन्त इति। तन्नोपपद्यते। यद्यप्यस्य हस्तो भवेत्, तथाऽपि न तमुपगृहीतवन्त इति प्रत्यक्षमेतत्। तथाऽप्येतन्नावकल्पत एव। तत्रैतदसम्बद्धं वा कल्पयितव्यं, स्तुतिर्वा। तच्च मत्पक्षेऽपि तुल्यम्।

अर्थवाद इस अर्थ को कहनेवाले नहीं हैं, यह हम आगे कहेंगे। (आक्षेप) यदि मन्त्र और अर्थवाद इस अर्थ (=विग्रहवत्त्व तथा भक्षण) को कहनेवाले नहीं हैं, तो स्मृति का ज्ञान मन्त्र और अर्थवादमूलक नहीं है। (समाधान) जो साधारण दृष्टि से मन्त्र और अर्थवादों को देखते हैं, उनके मत में वे स्मृति के मूल हैं। और जो सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं, उनके मत में वह (=स्मृतिमूलकता) बाधित है। और भी, किसी के मत में स्मृति का मूल होता है। इस कारण उससे ही स्मृति होती है। उपचार भी स्मृतिमूलक ही है।

विवरण—तेषां तद् बाधितम्। अपि च यह पाठ आचार्यवर्य ने पढ़ाते समय संकेतित किया था। तदनुसार ऊपर अनुवाद किया है। जिनके मत में 'तेषां बाधितमपि च' पाठ है, उस का अर्थ होगा—उन [सूक्ष्म द्रष्टाओं] के मत में स्मृतिमूल बाधित हुआ भी किसी साधारण दृष्टिवाले के लिये स्मृति का मूल होता है।

व्याख्या—और जो अन्यार्थदर्शन कहा है—जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तम् इति। वह इस अर्थपरक नहीं है—इन्द्र का हाथ है [इस का अर्थ है—] जो उसका दाहिना हाथ है उसको हमने पकड़ा है। इस वाक्य से इन्द्र के हाथ की सत्ता प्रतीत नहीं होती है। (आक्षेप) यदि वह (=हाथ) नहीं है, तो 'हमने तुम्हारे हाथ को पकड़ा है' ऐसा कथन उपपन्न नहीं होता है। इससे हाथ की सत्ता स्वीकार की जाती है, वह हाथ है, जिसको हमने पकड़ा है। (समाधान) यह उपपन्न नहीं होता है। यद्यपि इस (=इन्द्र) का हाथ होवे तो भी, हमने उसे नहीं पकड़ा है, यह प्रत्यक्ष है। उस स्थिति में [हाथ होने पर भी] यह (=हाथ पकड़ना) उपपन्न नहीं होता है। उस स्थिति में यह असम्बद्ध है, ऐसी कल्पना करनी होगी अथवा स्तुति की कल्पना करनी होगी। वह मेरे पक्ष में भी समान है।

---

१. 'तेषामेतत्' इति पाठान्तरम्।

अथैवमुच्यते, तस्यैतद् वचनं यो गृहीतवांस्तस्य हस्तमिति। उच्यते। नैतदध्यवसेयम्। आदिमत्तादोषो वेदस्य प्रसज्येत। न च गृहीतवानासीदित्युच्यते। प्रमाणाभावात्। एतस्मादेव वचनादर्थात् कल्प्यते हस्तगृहीतेति चेत्। तन्न। अयथार्थस्याप्युच्चारणं सम्भवत्येव यतः। यथा, दश दाडिमानि षडपूपा इति। यस्यापि चैष पक्षो विग्रहवानिन्द्र इति, तस्यापीन्द्रशब्देनाऽऽमन्त्रण सम्बोधनार्थं, सम्बोधनमनुवचनाय। तत्र सम्बुद्ध[1] इत्यवगतेऽनुवचनं न्याय्यम्। न चासौ केनचित्प्रकारेण सम्बुद्ध[1] इत्यवगम्यते। अनवगते सम्बोधनं व्यर्थम्।

वचनप्रामाण्यात् सम्बुध्यत[2] इत्येवं गम्यत इति चेत्। उक्तम्[3]। अदृष्टकल्पनायां हस्तादिकल्पनानुपपत्तिरिति। न चासौ सम्बद्ध[1] इत्यवधार्यते। प्रामाणाभावात्। तस्मात् सम्बोधनवचनं न सम्बोधनाय। निर्देशार्थमेव। अविग्रहपक्षेऽपि तन्निर्देशार्थमेव भविष्यति। तत्राऽऽमन्त्रितविभक्तिवचनं स्तुतये। एवमिदं देवताख्यं

अथवा ऐसा कहें—'यह उस व्यक्ति का वचन है जिसने [इन्द्र का] हाथ पकड़ा था।' इस विषय में कहते हैं—यह स्वीकार करने योग्य नहीं है। वेद की आदिमत्ता प्राप्त होगी। और 'हाथ पकड़नेवाला था' ऐसा भी नहीं कह सकते, प्रमाण के अभाव से। इस वचन की अर्थापत्ति से कल्पना की जाये कि हाथ पकड़नेवाला था, यदि ऐसा कहो तो यह ठीक नहीं, यत: अयथार्थ अर्थ का उच्चारण सम्भव है। जैसे—दश अनार, छ: पूवे आदि। और भी, जिस का यह पक्ष है कि इन्द्र विग्रहवान् है, उसके पक्ष में भी इन्द्र शब्द से आमन्त्रण सम्बोधन के लिये है। उस पक्ष में [इन्द्र] सम्बुद्ध हुआ है ऐसा ज्ञान होने पर अनुवचन (=जगृभ्मा ते दक्षिणं हस्तम् कथन) न्याय्य है। वह इन्द्र सम्बुद्ध हुआ है यह किसी प्रकार से नहीं जाना जाता। [सम्बुद्ध हुआ है इसका] ज्ञान न होने से सम्बोधन व्यर्थ है।

विवरण—दश दाडिमानि षडपूपा: इत्यादि अनर्थक वाक्य का पूरा पाठ मी० १।१।५ की व्याख्या (भाग १, पृष्ठ ३७) पर दिया है। शबरस्वामी ने ४।३।१० के भाष्य (व्याख्या भाग ४, पृष्ठ १३२५) में भी उद्धृत किया है। मी० १।१।५ में अर्थवान् और अनर्थक वचनों के जो एकदेश उद्धृत किये हैं, उनका पूरा पाठ महाभाष्य १।१।१ (वृद्धिरादैच् के भाष्य) में देखें। सम्बुद्ध इत्यवगते—यहां 'सम्बद्ध' पाठान्तर है वह अशुद्ध है। सम्बोधन शब्द में 'बुध' धातु है। अत: सम्बुद्ध पाठ ही युक्त है। सम्बद्ध होने का तात्पर्य अभिमुख होने से है।

व्याख्या—'वचन के प्रामाण्य से [इन्द्र] सम्बोधित हुआ ऐसा जाना जाता है' यदि ऐसा कहो तो इस विषय में हम कह चुके—अदृष्ट कल्पना में हस्त पाद आदि की कल्पना की उपपत्ति नहीं हो सकती। वह सम्बुद्ध हुआ है यह नहीं जाना जाता है, प्रमाण न होने से। इसलिये सम्बोधन वचन सम्बोधन के लिये नहीं है। निर्देश के लिये ही है। विग्रहपक्ष के अभाव में भी वह निर्देशार्थ ही होगा। इस स्थिति में आमन्त्रित विभक्ति का कथन स्तुति के

---

१. 'सम्बद्धः' इत्यपपाठः क्वचित्। २. 'सम्बध्यते' इत्यपपाठः।

३. 'व्यक्तम्' इति पाठान्तरम्।

साधनं साधयितृतमं[1], यच्चेतनादिवत्सम्बुद्धा[2] साधयतीति चेतनवदिवोपचर्यमाणः सम्बुद्धिशब्देनाऽऽमन्त्र्यते। तथा, सम्बोधनशब्देन निर्दिश्य[3] उच्यते—गृहीतवन्तो वयं तव हस्तम्। त्वदाश्रय वयमित्यर्थः। अस्माभिरिन्द्रकर्म कर्तव्यमित्येतदनेन स्मार्यते।

तथा, [4]इमे द्यावापृथिव्यौ, दूरे अपारे यत्संगृह्णासि मघवन्नहो ते पूजितो मुष्टिरिति सन्तमिव मुष्टिं स्तुत्यर्थेन वदति। तस्यापि भावे न प्रमाणमस्ति। नेदं वचनम्—इदं महान् काशिरस्ति इति। किं तर्हि? यस्तव काशिः, स महानिति। अन्यार्थस्तव काशिरस्तीति, अन्यस्तव काशिर्महानिति। सता हि स्तुतिरुपपद्यत इति चेत्। नैतत्। नियोगतो यस्यापि पौरुषविधिगैरङ्गैर्नास्ति संयोगः, पौरुषविधिकैरङ्गैस्तस्यापि स्तुतिर्भवति। यथा, एते वदन्ति शतवत्सहस्रवदभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः। विष्ट्वी ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत[5] इति। तथा सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्[6] इति। तस्मान्न स्तुतिवचनादर्थापत्तिर्भवति

लिये है। यह देवता नामवाला ऐसा साधन अत्यन्त सिद्ध करनेहारा है, जो चेतनादि के समान सम्बुद्ध हुई कार्य सिद्ध करती है, इससे चेतनवत् उपचर्यमाण सम्बुद्धि शब्द से आमन्त्रित की जाती है। तथा सम्बोधन शब्द से निर्देश करके कहते हैं—हमने तुम्हारा हाथ पकड़ा है, अर्थात् हम तेरे आश्रयवाले हैं (=तू हमारा सहारा है)। हमें इन्द्र [देवतावाला] कर्म करना चाहिये, यह इससे स्मरण कराया जाता है।

तथा, ये द्युलोक और पृथिवीलोक दूर हैं जिनका पार नहीं है, उनको जो तुम, [मुट्ठी में] बान्धे हुए हो, हे मघवन् आश्चर्य है, जो तुम्हारी पूजा योग्य मुट्ठी विद्यमान मुट्ठी के समान मुट्ठी को स्तुति के लिये कहता है। [अर्थात् जैसे किसी की मुट्ठी हो तद्वत् मुट्ठी का निर्देश स्तुति के लिये है]। उस मुट्ठी के होने में भी कोई प्रमाण नहीं है। यह वचन नहीं है—यह महती मुट्ठी है। तो क्या कथन है? जो तुम्हारी मुट्ठी है वह महती है। विद्यमान होने पर ही स्तुति उपपन्न होती है यदि ऐसा कहो तो यह नहीं है। नियमतः जिस का पुरुषविध अङ्गों से सम्बन्ध नहीं, उसकी भी पुरुषविध अङ्गों से स्तुति होती है। जैसे—एते वदन्ति शतवत् सहस्रवद् अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः। विष्ट्वी ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत (=ये [सोम कूटते हुए पत्थर] सैकड़ों और सहस्रों के समान शब्द करते हैं। अपने हरे मुखों से [सोम पीनेवालों को] बुलाते हैं। [यह सोम कूटनेवाले पत्थरों का] कर्म है। सुकर्म करनेवाले पाषाण अपने सुकृति से होता [=अग्नि अथवा मनुष्य होता] से भी आज हवि भक्षण करो)। तथा सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम् (=सुखकारी रथ को जोता सिन्धु ने अश्वों से युक्त को)। इसलिये स्तुतिवचन से देवता के पुरुषविधत्व में

---

१. 'साधकतमम्' इति पाठान्तरम्।
२. 'सम्बुध्य' इति पाठान्तरम्। ३. 'निर्देश' इत्यपपाठः।
४. अनेन पूर्वमुक्तः 'इमे चिदिन्द्र' इति मन्त्रो व्याख्यायते।
५. ऋ० सं० १०।९४।२॥ ६. ऋ० सं० १०।७५।९॥

पुरुषविधित्वे देवतायाः। तथा तुविग्रीव इन्द्र' इति, नैतद्युक्तं भवति, ग्रीवावानिन्द्र इति। किं तर्हि? याऽस्य ग्रीवा, सा महती। ग्रीवासत्त्वे नास्ति प्रमाणम्। न च ग्रीवास्तुतिरर्थापत्तिः। अपुरुषविधेऽपि स्तुत्युपपत्तेः।

अपि च—**इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते**' इत्येताभ्यां पदाभ्यामिन्द्रशब्दः सम्बद्धो न शक्नोति तुविग्रीवादिभिः सम्बन्धं यातुम्। द्विरुच्चारणमस्य प्रसज्यते। तुविग्रीवावान् इन्द्रो वेदितव्यः, वृत्राणि चेन्द्रो हन्तीति। तथा हि सति भिद्येत। अभिन्नं च वाक्यमुपलभ्यते। तदेवमवकल्पते, यदि तुविग्रीवादयोऽस्य नोपदिश्यन्त इति। स्तुत्यर्थं संकीर्त्यते तुविग्रीवादिः। अन्धसो मदे, ईदृशो वृत्राणि हन्तीति। एषा तु वचनव्यक्तिः। वृत्रवधोपदेशपरमिदं वचनमिति। यदपि वचनं—**बाहू ते इन्द्र रोमशौ, अक्षी ते इन्द्र पिङ्गले,** इति। तदपि बाह्वो रोमशत्वमक्ष्णोश्च पैङ्गल्यमाह, न बाहुसत्तामक्षिसत्तां च। यदपि, अक्षिसत्तां वदतीति गम्यते। **चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि** इति। तदपि न चक्षुःसम्बन्धार्थं, चक्षुष्मते ब्रवीमीति वचनसम्बन्धार्थम्। तत्सतीमिव चक्षुष्मत्तां स्तुत्यर्थमुच्चारयति। कुत एतदवगम्यते? चतुर्थीनिर्देशात्। यदि प्रातिपदिकार्थोऽध्यवसीयते तथा वाक्यं भिद्येत। चक्षुष्मानित्येवं चोद्दिश्येत।

अर्थापत्ति नहीं होती है। तथा तुविग्रीव इन्द्र से यह कथन युक्त नहीं होता है कि इन्द्र ग्रीवा वाला है। तो क्या कहा जाता है? जो इसकी गर्दन है वह बड़ी है। ग्रीवा के होने में कोई प्रमाण नहीं है। और ग्रीवा की स्तुति अर्थापत्ति प्रमाण नहीं है। अपुरुषविध होने पर भी स्तुति उपपन्न होती है।

और भी—इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते **इन पदों से सम्बद्ध इन्द्र शब्द तुविग्रीवादि शब्दों से सम्बन्ध को प्राप्त नहीं हो सकता। इस (=इन्द्र) का द्विरुच्चारण प्राप्त होवे। तुविग्रीवावान् इन्द्र को जानना चाहिये, और वृत्रों को इन्द्र मारता है। ऐसा होने पर [वाक्य] भेद होवे, अभिन्न (=एकवाक्य) उपलब्ध होता है। वह इस प्रकार से सम्भव होता है यदि तुविग्रीवादि इस [इन्द्र] के उपदिष्ट न होवें। तुविग्रीवादि स्तुति के लिये संकीर्तित हैं।** अन्धसो मदे **(=सोम के मद में मत्त) ऐसा वृत्रों को मारता है, यह वचनस्वरूप है। वृत्रवधोपदेशपरक यह वचन है। और जो वचन है—**बाहू ते इन्द्र रोमशौ **(=हे इन्द्र तुम्हारे दोनों बाहू बहुत रोमों से युक्त हैं),** अक्षी ते इन्द्र पिङ्गले **(=हे इन्द्र तुम्हारी आंखें भूरी हैं)। ये भी बाहुओं का रोमशत्व और आंखों की पिङ्गलता को कहता है, बाहु की सत्ता और आंखों की सत्ता को नहीं कहता। और जो भी आंखों की सत्ता को कहता है ऐसा जाना जाता है—**चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि **(=तुम आंखोंवाले और सुननेवाले से कहता हूं), वह भी आंखों के सम्बन्ध के लिये नहीं है, 'आंखोंवाले के लिये कहता हूं' इस कथन के सम्बन्ध के लिये है। उस विद्यमान चक्षुष्मत्ता के समान चक्षुष्मत्ता की स्तुति के लिये उच्चारण करता है। यह कैसे जाना जाता है? चतुर्थी के निर्देश से। यदि प्रातिपदिक [चक्षु] का अर्थ स्वीकार किया जाये तो वाक्यभेद होवे। चक्षुष्मान् इस रूप से**

---

१. ऋ० सं० ८।१७।८॥

चक्षुष्मते ते ब्रवीमीति च। तस्मान्न किंचिदन्यार्थदर्शनं पुरुषविधतां देवतायामिदं ख्यापयतीति। न चेदं भोजनम्। न हि देवता भुङ्क्ते। तस्माद् भोजनस्य तदर्थत्वादिति तदसद्वचनम्।

यदपि स्मृत्युपचारान्यार्थदर्शनैर्भुङ्क्त इति। तदविग्रहत्वेन[1] प्रत्युक्तम्। अपि च, भुञ्जानायै देवतायै प्रत्तं हविः क्षीयेत। न च मधुकरीवदन्नरसभोजिन्यो देवता इति प्रमाणमस्ति। मधुकरीषु प्रत्यक्षम्। न च तद्वद्देवतायाम्। तस्मान्न भुङ्क्ते देवतेति। यदुक्तं, देवतायै हविः प्रत्तं नीरसं भवतीति। नैष दोषः। वातोपहतं नीरसं भवतीति। शीतीभूतं च। न चासौ कस्यचिदर्थस्येष्टे। अनीशा कथं दास्यतीति।

यदुक्तं, स्मृत्युपचारान्यार्थदर्शनैरीशाना देवतेत्यवगम्यत इति। तन्न। स्मृतेर्मन्त्रार्थवादमूलत्वादित्युक्तम्। उपचारोऽपि देवग्रामो देवक्षेत्रमिति। उपचारमात्रम्। यो यदभिप्रेतं विनियोक्तुमर्हति, तत्तस्य स्वम्। न च ग्रामं क्षेत्रं वा यथाभिप्रायं विनियुङ्क्ते देवता। तस्मान्न संप्रयच्छतीति। देवपरिचारकाणां तु ततो भूतिर्भवति, देवतामुद्दिश्य यत्त्यक्तम्।

उद्दिष्ट (=कथित) किया जाये और तुम चक्षुष्मान् के लिये कहता हूं [अर्थात् तुम चक्षुष्मान् हो इसलिये मैं तुम से कहता हूं]। इसलिये कोई अन्यार्थदर्शन पुरुषविधता को देवता के विषय में नहीं कहता और न यह भोजन। देवता नहीं खाती। इसलिये भोजनस्य तदर्थत्वात् (=भोजन के देवता के लिये होने) जो कहा है वह असद् वचन है।

और जो कहा—स्मृति उपचार तथा अन्यार्थदर्शन से 'देवता खाती है' ऐसा जाना जाता है। उसका देवता के विग्रहरहित होने से प्रतिवाद कर दिया है। और जो—खानेवाली देवता के लिये दी गई हवि क्षीण हो जाती है। मधुमक्खी के समान अन्न के रस को खानेवाली देवता है इसमें कोई प्रमाण नहीं है। मधुमक्खी में तो [उनका रसग्रहण करना] प्रत्यक्ष है। वैसा देवता में प्रत्यक्ष नहीं है। इसलिये देवता नहीं खाती। और जो यह कहा कि—देवता के लिये दी गई हवि नीरस हो जाती है। यह दोष नहीं है। वायु से उपहत (=वायु के संयोग के कारण) नीरस होती है और ठण्डी हुई। और यह देवता किसी अर्थ की स्वामिनी भी नहीं है। जो स्वामिनी नहीं है वह किसी अर्थ को कैसे देगी।

और जो यह कहा—'स्मृति उपचार तथा अन्यार्थदर्शन से देवता ईशाना (=किसी अर्थ की स्वामिनी) है, ऐसा जाना जाता है।' यह नहीं है। स्मृति का मूल मन्त्रार्थवाद है, यह पूर्व कह चुके। उपचार भी 'देवग्राम' 'देवक्षेत्र'। उपचारमात्र है। जो जिस अभिप्रेत(=इष्ट) वस्तु का विनियोग कर सकता है (=उपयोग में ले सकता है) वह उस का स्व (=धन) है। ग्राम और क्षेत्र का देवता अपने अभिप्रायानुसार विनियुक्त नहीं कर सकता। इसलिये [देवता] नहीं देता। देवों के परिचारकों की तो उस [ग्राम वा क्षेत्र] से भूति (=सम्पन्नता) होती है, जो देवता को उद्देश्य करके जो दान किया हो।

---

१. 'अविग्रहवत्वेन' इति पाठान्तरम्।

यदुक्तम्, अन्यार्थदर्शनमीशानां देवतां ख्यापयति, इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे[1] इत्येवमादीनि। तत्प्रत्यक्षामनीशानां देवतामुपलभ्याध्यवस्थामो भाक्त एष शब्द इति। तत्राऽऽह—वचनप्रामाण्यादेवास्येशानताऽवगम्यते, यदेव लोका[2] अर्थान् विनियुञ्जते, तद्देवताभिप्रायादेवेत्यध्यवस्याम इति। तन्न। प्रत्यक्षात्प्रमाणाद्देवतापरिचारकाणामभिप्राय इत्यवगम्यते। स न शक्यो बाधितुम्। येऽपि देवतामीशानां वर्णयन्ति, तेऽपि नापह्नुवते परिचारकाणामभिप्रायम्। किंचाऽऽहुः—तथा देवता करोति, यथा परिचारकाणामभिप्रायो भवतीति। न च स ईशानो भवति यः पराभिप्रायमनुरुध्यते, यस्य न स्वाभिप्रायाद् विनियोगो भवति।

अपि च, न चैतद्वचनम्। वर्तमानकालोपदेशत्वात्। प्रत्यक्षविरोधात् स्तुतिवादोऽवधार्यते। स्तुतिवादे च सम्भवति न वचनप्रामाण्यादीशिष्यत इति गम्यते। न च देवता फलेन सम्बध्नाति,[3] या तदर्थं परिचर्येत् ? यदुक्तं, स्मृत्युपचारान्यार्थदर्शनैर्ददाति प्रसीदति चेति। तत्र[4] स्मृत्युपचारयोरुक्तम्। यदन्यार्थदर्शनं—तेऽस्मै[5]

और जो कहा—अन्यार्थदर्शन देवता के स्वामित्व को कहता है—इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे [पृथिव्याः] इत्यादि। प्रत्यक्ष स्वामित्वरहित देवता को जानकर हम निश्चय करते हैं कि वह भाक्त (=गौण) शब्द है। (आक्षेप) वचनप्रामाण्य से ही देवता का स्वामित्व जाना जाता है, जिस कारण यह लोग [अपने] धनों का विनियोग करते हैं [अर्थात् देवता को उद्देश्य करके देते हैं,], वह देवता के लिये ही है ऐसा जाना जाता है। (समाधान) ऐसा नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण से देवताओं की पूजा करनेहारों के लिये है, यह जाना जाता है। यह ज्ञान बाधित नहीं हो सकता। जो लोग देवता को ईशाना (=अर्थों की स्वामिनी) कहते हैं, वे भी परिचारकों के अभिप्राय को नहीं झुठलाते। और भी कहते हैं—देवता उसी प्रकार करते हैं जैसा परिचारकों को अभिप्रेत हो। और वह स्वामी नहीं होता जो अन्य के अभिप्राय के अनुरोध के अनुसार वर्ते जिसका स्वाभिप्राय से विनियोग न होवे अर्थात् अपनी मर्जी का मालिक न होवे।

और भी—यह [ईशे] वचन (=विधि) नहीं है, वर्तमानकाल का कथन होने से। प्रत्यक्ष विरोध से स्तुति का कथन जाना जाता है। स्तुतिवाद में [वर्तमानकाल का उपदेश] सम्भव है, वचनप्रामाण्य से स्वामित्व नहीं करेगी (=स्वामिनी नहीं होगी) यह जाना जाता है। देवता फल से भी सम्बद्ध नहीं करती, जिस के लिये इसकी परिचर्या की जाये ? जो यह कहा—स्मृति उपचार अन्यार्थदर्शन से देवता देती है और प्रसन्न होती है। स्मृति और उपचार के विषय में कह चुके। जो अन्यार्थदर्शन है—तेऽस्मै प्रीता इषमूर्जं प्रयच्छन्ति।

---

१. ऋ० सं० १०।८९।१०॥ २. 'यद्देवलोका' इत्यपपाठः।

३. 'सम्बध्यते' इति पाठान्तरम्। ४. 'तन्न' इति पाठान्तरम्।

५. इहापि 'तस्मै' इत्यपपाठः पूर्ववत्।

इषमूर्जं प्रयच्छन्ति इति। तन्न। अन्यस्य विधेराम्नानात्। दक्षिणतः सम्परिहर्तव्या इत्याह[1] इति। तथा—तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति[2] इति। अत्रैन्द्रस्य हविषो विधानम्। तस्माद्देवता न प्रयोजिकेति ॥९॥

यदुक्तम्—अतिथिवदिति। तत्परिहर्तव्यम्—

अतिथौ तत्प्रधानत्वमभावः कर्मणि स्यात् तस्य प्रीतिप्रधानत्वात् ॥१०॥ (उ०)

आतिथ्यमतिथिप्रयुक्तं स्यात्। आतिथ्ये हि तत्प्रीतिर्विधीयते। अतिथिः परिचरितव्यः। यथा प्रीयते तथा कर्तव्यमिति। दानं भोजनं वा कार्यमिति। यद्य-

---

यह नहीं है। अन्य विधि के पठित होने से। दक्षिणतः संपरिहर्तव्या इत्याह (=अन्वाहार्य को दक्षिणा से देवे ऐसा कहा)। तथा तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति (=तृप्त हुआ इन्द्र इस यजमान को प्रजा और पशुओं से तृप्त करता है)। यहां ऐन्द्र हवि का विधान है। इसलिये देवता फल की प्रयोजिका नहीं है।

विवरण—दक्षिणतः संपरिहर्तव्या इत्याह—यह भाष्य-उद्धृत पाठ अशुद्ध है। शुद्ध पाठ है—दक्षिणतः सद्भ्यः परिहर्तवा आह (मै० सं० १।४।६)। दक्षिण में बैठे हुए हुताद देवों = ब्राह्मणों = ऋत्विजों को उनके लिये पकाये गये अन्वाहार्य ओदन को देवे। सम्भवतः लेखक-प्रमाद से 'द्भ्यः' छूट गया हो और 'स' का 'परिहर्तवा' के साथ सम्बन्ध होने पर 'स' को 'सं' के रूप में शुद्ध किया हो। मै० सं० में 'दक्षिणतः सद्भ्यः' एकपद है। इसमें गतिकारकोपपदात् कृत् (अष्टा० ६।२।१३८) से उत्तरपद उदात्त है ॥९॥

व्याख्या—जो कहा अतिथिवत् (=जैसे अतिथि के लिये भोजन है) उसका परिहार करो।

अतिथौ तत्प्रधानत्वम्, अभावः कर्मणि स्यात् तस्य प्रीतिप्रधानत्वात् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(अतिथौ) अतिथि के विषय में (तत्प्रधानत्वम्) अतिथि की प्रधानता है। (तस्य) उस अतिथि की (प्रीतिप्रधानत्वात्) प्रीति=तृप्ति के प्रधान होने से। (कर्मणि) यज्ञकर्म में (अभावः) देवता की प्रीति का अभाव (स्यात्) होवे।

विशेष—स्मृति में कहा है—अतिथिर्येन सन्तुष्टः तथा कुर्यात् प्रयत्नतः अर्थात् अतिथि जिस प्रकार सन्तुष्ट होवे वह प्रयत्नपूर्वक करे।

व्याख्या—आतिथ्य अतिथिप्रयुक्त होवे। आतिथ्य में उस अतिथि की प्रीति कही गई है—अतिथिः परिचरितव्यः (=अतिथि की सेवा करनी चाहिये)। जैसे अतिथि प्रसन्न होता है उस प्रकार करना चाहिये। दान वा भोजन करना चाहिये। जो-जो अतिथि

---

१. मै० सं० त्वित्थं पाठ उपलभ्यते—'दक्षिणतः सद्भ्यः परिहर्तवा आह'। १।४।६॥

२. तै० सं० २।५।४॥

दतिथये रोचते, तत्कर्तव्यम् । यत्तस्मै न रोचते, न तद् बलात् कारयितव्यमिति । इह तु कर्मणि अभावः प्रीतिविधानस्य । तस्माद् विषममतिथिनेति ॥१०॥

को रुचिकर होवे, वह करना चाहिये । जो उसे रुचिकर न होवे उसे बलपूर्वक नहीं कराना चाहिये । यहां कर्म में प्रीतिविधान का अभाव है । इसलिये यह अतिथि के साथ विषम है ।

विवरण—भाष्यकार शबरस्वामी ने विग्रहवती देवता का जिन युक्तियों और प्रमाणों से खण्डन किया है तदनुसार याज्ञिक पक्ष में शब्दमयी देवता ही सूत्रकार और भाष्यकार को अभिप्रेत है। यास्काचार्य ने भी देवता पुरुषविध है अथवा अपुरुषविध है, इस पर पर्याप्त लिखा है। पाठकों के ज्ञान के लिये उसका हम आगे वर्णन करेंगे। यहां कुमारिल भट्ट के अनन्तर जो प्रधान मीमांसक हुए हैं उनमें खण्डदेव प्रथम कोटि के हैं। इसलिये खण्डदेव ने देवताधिकरण के विषय में भाट्टदीपिका में जो लिखा है, उसका निर्देश करना हम आवश्यक समझते हैं। खण्डदेव ने इस अधिकरण के अन्त में लिखा है—

अतः कथमपि न विग्रहादिस्वीकारः। किन्तु शब्दमात्रं देवता। अर्थस्तु प्रातिपदिकानुरोधाच्चेतनोऽचेतनो वा कश्चित् स्वीक्रियते, न तु विग्रहवान्। उपासनादौ तु परं परं ध्यानमात्रमाहार्यं तस्येति जैमिनिमतनिष्कर्षः। मम त्वेवं वदतोऽपि वाणी दुष्यति। तत्र हरिस्मरणमेव शरणम्।

अर्थात्—अतः देवता का किसी प्रकार भी विग्रहादि स्वीकार नहीं है, किन्तु शब्दमात्र देवता है। शब्द का अर्थ प्रातिपदिक के अनुरोध से चेतन वा अचेतन कोई भी स्वीकार किया जाता है, परन्तु विग्रहवान् अर्थ स्वीकार्य नहीं है। उपासनादि में उसका केवल ध्यानमात्र आहार्य (=स्वीकार्य है), यह जैमिनि का सिद्धान्त है। **ऐसा कहते हुए मेरी वाणी दूषित होती है, अतः उस विषय में हरिस्मरण ही शरण है।**

तात्पर्य यह है कि मध्यकाल के विद्वान् जिस विषय पर ग्रन्थ लिखते रहे, वे उस विषय वा ग्रन्थ का तात्पर्य कथन करने तक ही सीमित रहे। उन्होंने उस विषय के औचित्य अनौचित्य पर गहराई से विचार नहीं किया। वाचस्पति मिश्र ने सभी छहों दर्शनों पर लेखन कार्य किया है। छहों दर्शनों के विरुद्ध मतों को ही उजागर करते हुए व्याख्या की है, परन्तु वस्तुतः कौन सा मत सत्य है, इस पर स्वतन्त्र विचार ही नहीं किया। यही कारण है कि खण्डदेव ने जैमिनिमत का प्रतिपादन करते हुए अपनी बुद्धि की दीनता को **'मम त्वेवं वदतोऽपि वाणी दुष्यति। तत्र हरिस्मरणमेव शरणम्'** शब्दों में प्रकट किया है।

नैरुक्त देवताविषयक विचार—निरुक्त के अनुसार मन्त्रार्थ का त्रैविध्य है—अधियज्ञ, अधिदेव और अध्यात्म। इन में अधिदेव और अध्यात्म में देवता के पुरुषविध होने का कोई प्रसङ्ग ही नहीं है। अतः निरुक्त के व्याख्याता दुर्गाचार्य एवं स्कन्दस्वामी (महेश्वर) ने स्पष्ट

लिखा है कि देवता पुरुषविध है वा अपुरुषविध, यह विचार याज्ञिक मतानुसार किया गया है। निरुक्त में यह विचार ७वें अध्याय के खण्ड ६-७ में किया है। हम यहां निरुक्तपाठ का अनुवाद ही दे रहे हैं। इस विषय में जो अधिक जानना चाहें वे दुर्गाचार्य और स्कन्द स्वामी की व्याख्याएं देखें।

अब देवताओं के आकार का विचार किया जाता है। एक मत है कि देवता पुरुष के समान (=शरीरधारी चेतन) है। चेतनावाले के समान ही वेद में देवताओं की स्तुति होती है और उसी प्रकार उनके पृथक्-पृथक् नाम हैं। देवता पुरुष के समान अङ्गों से स्तुति किये जाते हैं—हे इन्द्र तुम महान् की महती=लम्बी यद्वा शत्रुओं की नाशक बाहुएं हैं (ऋ० ६।४७।८), हे मघवन्! [तुम इन अपार द्यावापृथिवी को] पकड़े हुए हो, तुम्हारी मुट्ठी महान् है (ऋ० ३।३०।५)। पुरुषसदृश द्रव्यों के संयोगों से भी देवता की स्तुति होती है—हे इन्द्र दो घोड़ों से [हमारे यज्ञ में] आओ (ऋ० २।१८।४), हे इन्द्र तुम्हारे घर में कल्याणी सुरूपा भार्या और रमणीय पदार्थ हैं (ऋ० ३।५३।६)। पुरुष समान कर्मों से भी स्तुति की जाती है—हे इन्द्र उपस्थित सोम को खाओ और पीओ (ऋ० १०।११६।७), सब ओर से सुनने वाले कानों से युक्त इन्द्र, हमारे बुलावे को सुनो (ऋ० १।१०।९)। दूसरा मत है—देवता पुरुषविध चेतन वा शरीरधारी नहीं है। अग्नि, इन्द्र, वायु, आदित्य का जो स्वरूप देखा जाता है वह पुरुषविध नहीं है। जो कहा—चेतनावाले के समान स्तुतियां होती हैं, अचेतन भी इस प्रकार स्तुत किये जाते हैं। जैसे अक्ष से लेकर ओषधि पर्यन्त देवता (निघण्टु ५।२)। जो कहा पुरुषविध अङ्गों से युक्त स्तुति होती है, अचेतनों में भी पुरुषविध अङ्गों से यह होती है—शब्द करते हैं हरे मुखों से (ऋ० १०।९४।२) यह [सोम कूटनेवाले] पत्थरों की स्तुति हैं। सिन्धु ने घोड़ों से युक्त सुखकारी रथ को जोड़ा (ऋ० १०।७५।९) यह नदी की स्तुति है। जो यह कहा कि पुरुषविध कर्मों से स्तुति होती है, वह भी उसी प्रकार है—आज होता से पूर्व हवि को खाओ (ऋ० १०।९४।२) यह सोम कूटनेवाले पत्थरों की स्तुति है। अथवा दोनों प्रकार के (=पुरुषविध और अपुरुषविध) हैं। अथवा पुरुषविधों के ही कर्मरूप होवें। जैसे यजमान का यज्ञ कर्म। यह कथाओं का भी सिद्धान्त है।

स्कन्दस्वामी (महेश्वर) लिखता है—

याज्ञिका अपि तेन तेन फलेन नार्थिनः सन्तः तस्मिंस्तस्मिन् कर्मणि देवतायाः सम्प्रदानत्वेन चोदनालक्षणत्वात् तदुद्देशेन द्रव्यदानानि द्रव्यत्यागो यागस्तस्य फल-साधनत्वेनाभ्युपगमात्। दर्शपूर्णमासाभ्याम् इत्यादिवाक्यस्य दर्शपूर्णमाससंज्ञकेन यागेन स्वर्गं भावयेदित्यर्थस्य प्रपञ्चनप्रतिपादनाद् यागस्य फलं, न देवताया इति निश्चितम्। अतस्तस्याश्च गुणभूतत्वाद् यागनिर्वृत्तौ स्रुगादिवदङ्गभावोपगमात्। सा च यागनिर्वृत्तिश्चोदनालक्षणेऽग्न्यादौ शब्दमात्रे देवतायां सिद्धेति वस्तुसदसद्भावाकारविचारः कर्मणि मन्दोपयोग इति कृत्वा शब्दव्यतिरिक्तां देवतां न पश्यन्ति न शृण्वन्ति। शुद्धयाज्ञिकास्तु शब्दव्यतिरिक्तामितिहासपुराणप्रसिद्धां तुविग्रीव (ऋ० ५।२।१२) इत्यादिमन्त्रप्रत्यायितरूपां प्रतिजानते स्तुवते ध्यायति वा॥ निरुक्तटीका ७।५; भाग २, पृष्ठ ३६।

स्कन्द महेश्वर की टीका का यह लम्बा उदाहरण याज्ञिकों के दो पक्षों को दर्शाने के लिये दिया है। टीका का पाठ कुछ भ्रष्ट वा खण्डित प्रतीत होता है। अतः शब्दशः अनुवाद न करके भावप्रधान किया है—

याज्ञिक लोग भी उस-उस फल की इच्छा से उस-उस कर्म में देवता को देने के लिये विधि-वचनानुसार उसके उद्देश्य से अवदानों (यज्ञ में त्यागयोग्य भाग) को द्रव्यत्यागरूप याग में फल के साधनरूप में स्वीकार करते हैं। दर्शपूर्णमासों से [स्वर्ग की कामनावाला यजन करे] इत्यादि वाक्य 'दर्शपूर्णमास संज्ञक याग से स्वर्ग प्राप्त करे' इस अर्थ के प्रपञ्चपूर्वक (विस्तार से) प्रतिपादन करने से याग से फल प्राप्त होता है देवता से नहीं, यह निश्चित है। अतः देवता के गुणभूत होने से याग की निर्वृत्ति (=सिद्धि) में स्रुक् आदि के समान अङ्ग भाव को प्राप्त होने से। वह याग की निर्वृत्ति विधिवाक्य लक्षित अग्न्यादिमात्र देवता से सिद्ध हो जाती है, अतः वस्तु के सत् असत् आकार का विचार कर्म मन्द (=अल्प) प्रयोजन वाला होने से शब्दव्यतिरिक्त देवता को न देखते हैं, न सुनते हैं। शुद्ध याज्ञिक तो शब्दव्यतिरिक्त इतिहास पुराण प्रसिद्ध 'तुविग्रीव' इत्यादि मन्त्र से बोधितरूप देवता को स्वीकार करते हैं, उसकी स्तुति करते हैं वा ध्यान करते हैं।

स्कन्दस्वामी ने याज्ञिकों के जो दो मत दर्शाये हैं, उनमें प्रथम मत मीमांसकों (विचारशीलों) का है। दूसरा मत, जिसे स्कन्द स्वामी ने शुद्ध याज्ञिकों का कहा है वह अविचारशील कर्मप्रधान याज्ञिकों का है।

बिना अर्थविशेष की चिन्ता किये मूर्ख याज्ञिकों के एक मत पर मीमांसा ३।१। अधि० १४, सूत्र २५-२६ में विचार किया है। विचारणीय वाक्य है—**आग्नेयं चतुर्धा करोति** (=अग्निदेवतावाले पुरोडाश को चार भागों में बांटता है)। मूर्ख याज्ञिक अग्नीषोमीय पुरोडाश का भी इसलिये चतुर्धाकरण करते हैं कि अग्नीषोम में भी अग्नि शब्द है। वह यह विचार नहीं करते कि आग्नेय में जो तद्धित प्रत्यय उत्पन्न हुआ है वह व्याकरण के नियमानुसार उसी अग्नि शब्द से होगा जो समर्थ है। अग्नीषोम सम्मिलित देवता में श्रुत अग्नि शब्द सोम की अपेक्षा करने से 'सापेक्ष असमर्थ होता है' नियम से तद्धित की उत्पत्ति के लिये असमर्थ है। अर्थात् जहां अग्नि ही देवता होगा वही हवि आग्नेय कही जाती है। (द्र०—'चतुर्धाकरणमाग्नेयमात्राङ्गता' नामक अधिकरण (३।१।१५) का शावरभाष्य)। ऐसे ही मूर्ख याज्ञिकों का एक मत निरुक्तकार ने उपस्थित किया है—**अनर्थका मन्त्रा इति कौत्सः**। यास्क ने इस मत के पूर्वपक्षों को उपस्थित करके विस्तार से उनकी आलोचना करके 'मन्त्र अर्थवान् हैं' (निरुक्त १।१५-१६) पक्ष का प्रतिपादन किया है। भगवान् जैमिनि ने भी मीमांसा के प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद में इस मत की विस्तार से आलोचना की है।

इन प्रकरणों से स्पष्ट है कि यास्क और जैमिनि से पूर्व ही याज्ञिकों में एक ऐसा सम्प्रदाय उत्पन्न हो गया था, जो मन्त्रगत पदों पर बिना सूक्ष्म विचार किये शब्दमात्र को

प्रधान मानकर देवता के विग्रह को स्वीकार करने लग गया था। इसी की अन्तिम परिणति लोक में विविध देवताओं की मूर्तियां बनाकर उनकी पूजा में हुई। अतः यह कहा जा सकता है कि जब अग्न्यादि देवताओं का विग्रहवत्त्व ही अविचारित है तो मूर्तिपूजा का अवैदिकत्व स्वतः सिद्ध है। यज्ञों में अन्यत्र भी देवता की स्तुति वा ध्यान के लिये भी देवता का विग्रह भगवान् जैमिनि नहीं मानते, यह खण्डदेव की भाट्टदीपिका के पूर्व उद्धरण से स्पष्ट है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी देवताओं के विग्रहवत्त्व और अविग्रहवत्त्व के विषय में 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के अन्तर्गत 'वेदविषयविचार' प्रकरण में विस्तार से वर्णन किया है। इस प्रकरण के तीन भाग हैं। प्रथम—वेदों का ईश्वर के विज्ञान में ही परम तात्पर्य है। दूसरा—कर्मकाण्ड अर्थात् अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ। इन के अन्तर्गत निष्काम और सकाम (=नित्य तथा काम्य) दोनों भागों का निर्देश किया है। तीसरा—पाश्चात्य विद्वानों के 'वेद में जड़ पदार्थों की पूजा' है, मत का निराकरण।

ब्रह्म निराकार सर्वव्यापक है। इस में समस्त वैदिक वाङ्मय का एक मत है। अतः ब्रह्म का विग्रहवत्त्व स्वतः असिद्ध है। कर्मकाण्ड में देवता शब्द से क्या लिया जाता है, इस विषय में कहते हैं—

अत्र कर्मकाण्डे देवताशब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम्। गायत्र्यादीनि छन्दांसि हि अग्न्यादि-देवताख्यान्येव गृह्यन्ते, तेषां कर्मकाण्डादिविधेर्द्योतकत्वात्।.........पृष्ठ ७०।

अर्थात् कर्मकाण्ड में देवता शब्द से मन्त्रों का ग्रहण होता है, गायत्र्यादि छन्द ही अग्न्यादिदेवताख्य गृहीत होते हैं। उन का कर्मकाण्डादि विधि के द्योतक होने से।

पुनः **अग्निं दूतं पुरो दधे** (यजुः २२।१७) मन्त्र को उद्धृत करके लिखते हैं—**अत्राग्नि-शब्दो लिङ्गमस्ति। अतः किं विज्ञेयम्? यत्र यत्र देवता उच्यते तत्र तत्र तल्लिङ्गो मन्त्रो ग्राह्यः** (पृष्ठ ७१)। अर्थात् यहां अग्नि शब्द लिङ्ग है। इससे क्या जानना चाहिये? जहां-जहां देवता कही जाती है, वहां-वहां उस लिङ्गवाला मन्त्र ग्राह्य है।

आगे निरुक्त के सातवें अध्याय के आरम्भ का देवताविषयक प्रकरण निर्देश करके देवताओं का परिगणन कराया है—

अत्र परिगणनम्—गायत्र्यादिछन्दोन्विता मन्त्राः, ईश्वराज्ञा, यज्ञः, यज्ञाङ्गं, प्रजापतिः, परमेश्वरः, नराः, कामः, विद्वान्, अतिथिः, माता, पिता, आचार्यश्चेति कर्मकाण्डादीन् प्रत्येता देवताः सन्ति, परन्तु मन्त्रेश्वरावेव याज्ञदैवते भवत इति निश्चयः। पृष्ठ ७२।

अर्थात्—गायत्र्यादि छन्दोयुक्त मन्त्र, ईश्वराज्ञा, यज्ञ, यज्ञाङ्ग, प्रजापति, परमेश्वर, नर, काम, विद्वान्, अतिथि, माता, पिता और आचार्य कर्मकाण्ड आदि के प्रति देवता हैं। परन्तु मन्त्र और ईश्वर ही यज्ञविषयक देवता होते हैं, यह निश्चय है।

आगे अनेक मन्त्रों में त्रयस्त्रिंशद् देवों का वर्णन मिलता है, उनका निर्देश करने के लिये

शतपथब्राह्मण (१४।६।६।३-७, ६-१०) में उक्त आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र =प्रजापति, यज्ञ का उल्लेख करके देवताओं के विग्रहवती और अविग्रहवती भेद का उपपादन करते हुए लिखा है—

तत्रापि मतद्वयं विग्रहवत्यविग्रहवद्देवताभेदात्।......तथैव पूर्वोक्तासु देवतास्वग्निपृथिव्यादित्यचन्द्रमोनक्षत्राणि चेति पञ्च वसवः विग्रहवत्यः सन्ति। एवमेकादश रुद्रा द्वादशादित्या मनःषष्ठानि ज्ञानेन्द्रियाणि वायुरन्तरिक्षं द्यौर्मन्त्राश्चेति शरीररहिताः। तथा स्तनयित्नुविधियज्ञौ च सशरीराशरीरे देवते स्तः। एवं सशरीरनिश्शरीरभेदेन देवताद्वयं भवति। तत्रैतासां व्यवहारोपयोगित्वमात्रमेव देवतात्वं गृह्यते। इत्थमेव मातृपित्राचार्यातिथीनां व्यवहारोपयोगित्वं परमार्थप्रकाशकत्वं चैतावन्मात्रं च। परमेश्वरस्तु खल्विष्टोपयोगित्वेनैवोपास्योऽस्ति। नातो वेदेषु ह्यपरा काचिद्देवता पूज्योपास्यत्वेन विहितास्तीति निश्चीयताम्। पृष्ठ ८१, ८२।

अर्थात् उसी प्रकार पूर्वोक्त देवताओं में अग्नि, पृथिवी, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र ये पांच वसु विग्रहवती हैं। इसी प्रकार ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य (=महीने), मनसहित ज्ञानेन्द्रियां, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौ और मन्त्र ये शरीररहित हैं। तथा स्तनयित्नु और विधियज्ञ सशरीर और अशरीर देवता हैं। इस प्रकार सशरीर और निश्शरीर भेद से देवता दो प्रकार के हैं। इनमें इनका जो व्यवहारोपयोगी मात्र अंश है, वही देवतारूप से गृहीत होता है। इसी प्रकार माता, पिता, आचार्य, अतिथियों का जो व्यवहारोपयोगी, परमार्थप्रकाशकत्व और चैतन्य अंश है, वह देवतारूप से गृहीत होता है। परमेश्वर तो इष्ट और उपयोगित्व रूप से ही उपास्य है। इनसे अतिरिक्त वेद में और कोई अन्य देवता पूज्यरूप से और उपास्यरूप से विहित नहीं है।

इस परिगणन में विग्रहवती अर्थ केवल दृष्टि में आनेवाला स्वरूप ही अभिप्रेत है, जबकि निरुक्त और मीमांसा में "विग्रहवती" शब्द से पुरुषशरीरधारी रूप अभिप्रेत है। निरुक्त में तो स्पष्ट ही "पुरुषविध" शब्द का प्रयोग किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का यह परिगणन उपासना, यज्ञविधि और लोकोपयोग की दृष्टि से समस्त वैदिक देवताओं का है। इसमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि आरम्भ में विग्रहवान् पांच वसुओं में गिने गए आदित्य से अशरीरधारियों में गिने गये द्वादश आदित्य भिन्न हैं। ये द्वादश आदित्य द्वादश मास हैं। मास काल का एक कल्पित भेद है। काल अशरीरी है। इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों से यहां बाह्य अवयवों का अर्थ अभिप्रेत नहीं है; अपितु इनका जो शक्तिरूप स्वरूप है, वह अभिप्रेत है, क्योंकि अनेक बार चक्षु इन्द्रिय के बाह्य गोलक के स्वस्थ होने पर भी मनुष्य देखने में असमर्थ होता है। द्यौ शब्द से यद्यपि आदित्य का बहुत्र ग्रहण होता है, परन्तु द्यौ शब्द मुख्यतया आकाश के उस भाग का वाचक है, जिसमें प्रकाशक सूक्ष्मकण फैले रहते हैं। इन्हीं के कारण अन्धेरी रात्रियों में भी ऊर्ध्वभाग में कुछ प्रकाश की प्रतीति होती है। स्तनयित्नु (बिजली) और विधियज्ञ (विधिपूर्वक किये जानेवाले यज्ञ) को सशरीर और निश्शरीर

लिखा है। इनमें बिजली के चमकने के समय जो रेखाकार प्रकाश उपलब्ध होता है, वह सशरीर है और जो बिजली सर्वत्र अतिसूक्ष्म रूप से विद्यमान रहती है, वह निश्शरीर है। इसी प्रकार यज्ञ का जो द्रव्यत्यागात्मकरूप है वह सशरीर है, और जो क्रियारूप है, वह निश्शरीर है। क्रिया को शास्त्रकार अत्यन्त अपरिदृष्ट मानते हैं। पतञ्जलि ने महाभाष्य १।३।१ में लिखा है— **क्रिया नामेयमत्यन्तापरिदृष्टा। अशक्या क्रिया पिण्डीभूता निदर्शयितुं यथा गर्भो निर्लुठितः। सासावनुमानगम्या।**

निरुक्तकार का "पुरुषविध" और "अपुरुषविध" देवता का आकारचिन्तन अधिदैवत और अधियज्ञ दोनों विषयक है। उसने अध्यात्मपक्ष में जिस देवता को स्वीकार किया है, वह निश्चय ही अशरीरी है। जैमिनि ने देवता के विग्रहवती और अविग्रहवती का जो विचार प्रस्तुत किया है, वह केवल अधियज्ञविषयक है, क्योंकि उनके शास्त्र का क्षेत्र यज्ञों तक ही सीमित है। शबरस्वामी ने इस प्रकरण में जो लिखा है कि देवता का विग्रहवती स्वरूप मन्त्रार्थवाद से सम्बद्ध है, यह कथन सर्वथा सत्य है। जो लोग मन्त्रों का स्थूल दृष्टि से अवलोकन करते हैं, उन्हें ही यह भ्रम होता है कि देवता सशरीरी है। जो व्यक्ति मन्त्रार्थ का गहराई से अनुशीलन करते हैं, उन्हें यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ में जिस देवता का निर्देश किया गया है, वह शब्दमात्र है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने देवता शब्द से तत्तत् लिङ्गवाला मन्त्र स्वीकार किया है। यह पक्ष ब्राह्मणग्रन्थों में देवता का निर्देश करके जब किसी मन्त्र का विनियोग करते हैं, तब तत्तत् लिङ्गवाला मन्त्र ही उन्हें अभिप्रेत होता है, न कि केवल देवतावाचक पदमात्र। इसलिए भगवान् जैमिनि और स्वामी दयानन्द सरस्वती के अभिप्राय में कोई विरोध नहीं है।

वेद के नाम पर जितनी भी मूर्तिपूजा देश में प्रचलित है, वह सब मन्त्र के सामान्य आलोचनमात्र पर आश्रित है न कि तात्त्विक आलोचन पर। जब यास्कीय मतानुसार याज्ञिक कर्मकाण्ड का अध्यात्म में लय हो जाता है तब अध्यात्म में जो एक विभिन्न नामोंवाली देवता है, वह निश्चय ही अशरीरी है। मूर्तिपूजा के लिए ब्रह्म का अवतारग्रहण करना आवश्यक अङ्ग है। यद्यपि इसमें कोई वैदिक प्रमाण नहीं है किन्तु हमारी दृष्टि से इसका मूल शाङ्कर वेदान्त में निहित है। शाङ्कर वेदान्त में मायोपेत ईश्वर को ही जीव माना गया है। उसी के समान मायोपेत ईश्वर का ही अवतारग्रहण स्वीकार किया जाता है। इस दृष्टि से मायोपेत ईश्वर को जीव स्वीकार करने में जो विविध दोष आते हैं, वे सब मायोपेत ईश्वर के **अवतारग्रहण** में भी जानने चाहिये।

[श्रुतिविनियुक्तप्रोक्षणादिधर्माणामपूर्वप्रयुक्तत्वाधिकरणम् ॥५॥]

दर्शपूर्णमासयोरामनन्ति—व्रीहीन् प्रोक्षति[1] इति । तत्रैव—त्रीन् परिधीन् तिस्रः समिध[2] इति मन्त्रम् । चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत्, पञ्चहोत्राऽमावास्याम्[3] इति । चातुर्मास्यानां द्वितीये पर्वणि वरुणप्रघासेष्वाम्नायते—शूर्पेण जुहोति, तेन ह्यन्नं क्रियते[4] इति । तत्र संशयः—किं द्रव्यसंख्याहेतुसमुदायप्रयुक्ता प्रोक्षणादयो धर्मा उतापूर्वप्रयुक्ता इति ? किं तावत्प्राप्तम् ?

द्रव्यसंख्याहेतुसमुदायं वा श्रुतिसंयोगात् ॥११॥ (पू०)

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में पढ़ते हैं—व्रीहीन् प्रोक्षति (=व्रीहि का प्रोक्षण करते हैं) । वहीं मन्त्र पढ़ते हैं—त्रीन् परिधीन् तिस्रः समिधः । चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत् पञ्चहोत्राऽमावास्याम् (=चतुर्होतृ मन्त्र से पौर्णमासी में हवि का स्पर्श करे, पञ्चहोतृ मन्त्र से अमावास्या में) । चातुर्मास्य के द्वितीय पर्व वरुणप्रघास में पढ़ते हैं—शूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्नं क्रियते (=शूर्प से आहुति देता है, उससे ही अन्न किया जाता है) । इसमें संशय है—क्या द्रव्य संख्या हेतु और समुदाय से प्रयुक्त प्रोक्षणादि धर्म हैं अथवा अपूर्वप्रयुक्त हैं ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—चतुर्होत्रा पौर्णमासीम्—इस विषय में भाग ३, पृष्ठ १०५३ का विवरण और टिप्पणी, तथा भाग ६, पृष्ठ २२०४ का विवरण देखें । द्रव्यसंख्याहेतुसमुदायप्रयुक्ताः—द्रव्य=व्रीहि स्वरूपार्थ प्रोक्षण है अथवा अपूर्वप्रयुक्त; संख्या—'त्रीन् परिधीन्' मन्त्र परिधि त्रित्व संख्या रूप के लिये है अथवा अपूर्वप्रयुक्त; हेतु—'शूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्नं क्रियते' होम क्या अन्नकरण शूर्प के संस्कारार्थ होता हुआ दर्वि पिठरादि अन्य अन्नकरण के लिये है अथवा अपूर्वार्थ है, चतुर्होत्रा आदि से अभिमर्शन दर्शपौर्णमास याग समुदाय स्वरूपार्थ अथवा दोनों के अपूर्व के लिये है, यह यहां संशय का स्वरूप है ।

द्रव्यसंख्याहेतुसमुदायं वा श्रुतिसंयोगात् ॥११॥

सूत्रार्थः—(द्रव्यसंख्याहेतुसमुदायम्) द्रव्य=व्रीहि आदि, संख्या=परिधि त्रित्वादि, हेतु=अन्नकरणादि, समुदाय=पौर्णमास याग यज्ञ (श्रुतिसंयोगात्) श्रुति=द्वितीयान्ता 'हि' श्रुति के संयोग से प्रोक्षणादि को प्रयोजित करते हैं । (वा) वा शब्द सम्भावनार्थ है ऐसा कुतूहलवृत्तिकार का मत है ।

विशेष—सूत्र में द्रव्यसंख्या हेतु समुदाय शब्दों का समाहारद्वन्द्व है ।

---

१. तुलना कार्या—आप० श्रौत १।१६।१॥ कात्या० श्रौत २।२।१०॥

२. तै० ब्रा० ३।७।४।६॥

३. द्र०—मी० ३।७।८॥ भाग ३, पृष्ठ १०५३; मी० ८।१।२६॥ भाग ६, पृष्ठ २२०४ ।

४. शत० २।५।२।२३॥

द्रव्यादिप्रयुक्ता इति। इह व्रीहीन् प्रोक्षति इति प्रकरणेनापूर्वप्रयुक्तता स्यात्, वाक्येन द्रव्यप्रयुक्तता। द्रव्येण हि प्रोक्षणस्य समभिव्याहारः। तस्मिन्नपि समभिव्याहारे द्रव्यगता द्वितीया विभक्तिः प्रोक्षणस्य द्रव्यप्रयुक्ततां वदति।

तथा, त्रीन् परिधीनिति यत्त्रिशब्दस्याभिधेयं, तदिह मन्त्राम्नानसामर्थ्याद् वदितव्यमिति गम्यते। संख्या च त्रिशब्दस्यार्थः। तस्याः श्रुतिर्वाचिका। तत्सम्बद्धेऽपूर्वे लक्षणा स्यात्। यावन्तः परिधयस्तावन्तो वक्तव्या इति। तथा, हेतुना धर्मः संयुज्यते वाक्येन, शूर्पेण जुहोतीति। किं कारणम्? यतः, तेनान्नं क्रियते तद्धोमेन सम्बद्धव्यमन्नकरणद्रव्यं होमे विधीयते। प्रकरणादपूर्वप्रयुक्तता स्यात्। यस्मादनेन होमेनापूर्वं क्रियते, तस्मादेतत् शूर्पेण निर्वर्तयितव्यमिति। प्रकरणाद् वाक्यं बलीयः। अतः प्रकरणं बाध्येत। येन येन द्रव्येण दर्विपिठरादिनाऽप्यन्नं क्रियते, तेन तेन होमः कर्तव्य इत्येवमन्नकरणं सगुणं भवतीति।

ननु प्रथमेऽध्याये प्रतिषिद्धा हेत्वर्थता। शूर्पस्यार्थवादोऽयमित्युक्तम्। सत्यम् उक्तम्। अपूर्वप्रयुक्ततायां हि सिद्धायां नैकस्मिन् वाक्ये होमे शूर्पविधानं, हेतुविधानं

व्याख्या—द्रव्यादिप्रयुक्त हैं। यहां व्रीहीन् प्रोक्षति में दर्शपूर्णमास प्रकरण से अपूर्वप्रयुक्तता होवे। वाक्य से द्रव्यप्रयुक्तता जानी जाती है। द्रव्य (=व्रीहि) के साथ प्रोक्षण का सह उच्चारण है। उस समभिहार में द्रव्यगत द्वितीया विभक्ति प्रोक्षण की द्रव्यप्रयुक्तता (=द्रव्यस्वरूपनिष्पादनता) को कहता हैं।

तथा त्रीन् परिधीन् में जो त्रिशब्द का अभिधेय (=त्रित्व) है, उसे मन्त्र के पाठ-सामर्थ्य से कहना चाहिये यह जाना जाता है। संख्या त्रिशब्द का अर्थ है, उसकी श्रुति वाचिका है। त्रित्व से सम्बद्ध अपूर्व में लक्षणा होवे। जितनी परिधियां हैं उन को उतनी (=उतनी संख्या को) कहनी चाहिये। तथा हेतु से धर्म (=अन्तःकरणत्व) वाक्य से संयुक्त होता है, शूर्प से होम करता है। क्या कारण है? यतः उस (=शूर्प) से अन्न किया जाता है, अतः वह होम से सम्बन्ध योग्य है [इससे] अन्नकरण द्रव्य का होम में विधान किया जाता है। अपूर्वप्रयुक्तता प्रकरण से होवे। जिस कारण इस होम से अपूर्व किया जाता है, इससे उसे शूर्प के द्वारा उत्पन्न करना चाहिये। प्रकरण से वाक्य बलवान् है। अतः प्रकरण बाधित होगा। जिस-जिस द्रव्य दर्वि पिठर आदि से अन्न किया जाता है, उस-उस से होम करना चाहिये। इस प्रकार अन्नकरण सगुण (=गुणसम्पन्न) होता है।

(आक्षेप) प्रथमाध्याय (१।१ अधि० ३, सू० २६-३०) में ['तेन हि अन्नं क्रियते' की] हेत्वर्थता प्रतिषिद्ध (=अस्वीकृत) की है। शूर्प यह अर्थवाद है ऐसा कहा है। (समाधान) सत्य है [हेत्वर्थता का] प्रत्याख्यान किया है। अपूर्वप्रयुक्तता के सिद्ध होने पर एक वाक्य में होम में शूर्प का विधान और हेतुविधान दोनों समर्थ नहीं होते, इस कारण अर्थवाद

चावकल्पत इत्यर्थवादः प्रकल्पते, नान्यथा। **चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत्, पञ्चहोत्राऽमावास्याम्** इति, समुदायसमभिव्याहाराद्वाक्येन तत्प्रयुक्तता, प्रकरणसामर्थ्याल्लक्षणयाऽपूर्वसमभिव्याहारादवगतामपूर्वप्रयुक्ततां बाधते। तस्माद् द्रव्यादिप्रयुक्ताः प्रोक्षणादयो धर्माः ॥११॥

अर्थकारिते च द्रव्येण न व्यवस्था स्यात् ॥१२॥ (पू०)

अपूर्वप्रयुक्त एवंजातीयके धर्मे सति द्रव्येण च धर्मव्यवस्था न स्यात्। **पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति**[1], **सक्तुभिर्मन्थिनं**[2], **धानाभिर्हारियोजनं**[3], **हिरण्येन शुक्रम्**[4], **आज्येन पात्नीवतम्**[5] इति।

की कल्पना की जाती है, अन्यथा नहीं। चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत्, पञ्चहोत्रा अमावास्याम् में [पौर्णमासी और अमावस्या में किये जानेवाले तीन-तीन यागों के] सह उच्चारणरूप वाक्य से तत्प्रयुक्तता (=समुदायप्रयुक्तता) है। प्रकरणसामर्थ्य से लक्षणा से अपूर्व के समभिव्याहार से जानी गई अपूर्वप्रयुक्तता को [वाक्य] बाध लेता है। इससे द्रव्यादि-प्रयुक्त प्रोक्षण आदि धर्म हैं ॥११॥

अर्थकारिते च द्रव्येण न व्यवस्था स्यात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(अर्थकारिते) अपूर्वकारित=अपूर्वप्रयुक्त (द्रव्येण) द्रव्य के साथ (व्यवस्था) धर्म की व्यवस्था (च) भी (न) नहीं (स्यात्) होवे।

विशेष—यहां 'अर्थ' शब्द अपूर्व का वाचक है।

व्याख्या—इस प्रकार के (=प्रोक्षणादि) धर्मों के अपूर्वप्रयुक्त होने पर द्रव्य के साथ धर्मव्यवस्था भी न होवे। पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति (=दूध के साथ मैत्रावरुणग्रहस्थ सोम को पकाता है), सक्तुभिर्मन्थिनम् (=सक्तु के साथ मन्थिग्रहस्थ सोम को पकाता है), धानाभिर्हारियोजनम् (=खीलों के साथ हारियोजनस्थ सोम को पकाता है), हिरण्येन शुक्रम् (=हिरण्य के साथ शुक्रग्रहस्थ सोम को पकाता है), आज्येन पात्नीवतम् (=पात्नीवान् पशु का उत्सर्ग करके आज्य की आहुति से उस कर्म को समाप्त करे)।

---

१. पूर्वत्र ३।६।३२ सूत्रे (भाग ३, पृष्ठ १०२६)।

२. द्र०—सक्तुभिः [मन्थिनं] श्रीणाति। तै० ६।४।१०।६॥ वैकङ्कतं मन्थिनः पात्रं भवति सक्तुभिश्श्रीणाति। काठक सं० २७।८॥

३. धानाभिर्हारियोजनं श्रीणाति। तै० सं० ६।५।६।२॥

४. हिरण्येन शुक्रं श्रीणाति। काठक सं० २७।८॥

५. द्र०—आज्येन पात्नीवतं संस्थापयति। तै० सं० ६।६।६।१॥

यस्मान्मैत्रावरुणोऽपूर्वस्य, तस्मात् पयसा श्रयितव्य इति। ऐन्द्रवायवोऽप्यपूर्वस्य। सोऽपि पयसा श्रयितव्यः प्राप्नोति। एवं सर्वाणि श्रयणादीनि सर्वेषां ग्रहाणाम्। तत्र मैत्रावरुणादिग्रहणमविवक्षितं स्यात्। तस्मादपि द्रव्यादिप्रयुक्ताः प्रोक्षणादय इति ॥१२॥

अर्थो वा स्यात् प्रयोजनमितरेषामचोदनात् तस्य च गुणभूतत्वात् ॥१३॥ (सि०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। न द्रव्यादिप्रयुक्ता भवेयुः। किं तर्हि ? अर्थ एषां प्रयोजनम्। अर्थ इत्यपूर्वं ब्रूमः। तदर्थास्ते। तद्धि कर्तव्यतया श्रूयते। तदिति-

---

विवरण—सक्तुभिर्मन्थिनम्—इस वाक्य में तथा अगले वाक्य में पूर्ववाक्य से 'श्रीणाति' का अनुषङ्ग जानना चाहिये। **आज्येन पात्नीवतम्**—भाष्यकार ने पूरे वैदिकवचन नहीं लिखे। अतः यहां भी 'श्रीणाति' के अनुषङ्ग की शंका हो सकती है। पूरा वाक्य है—**आज्येन पात्नीवतं संस्थापयति**—अर्थात् यहां आज्य से पात्नीवत कर्म की समाप्ति कही है। तै०सं० के भाष्यकार भट्ट भास्कर ने ६।६।६।१। के भाष्य में लिखा है—आज्याहुति से पात्नीवत कर्म पूरा करे अथवा आज्य होम कर्मान्तर है।

विशेष—पात्नीवत् पशु के उत्सर्जन के सम्बन्ध में मीमांसा २।३।१८,१९ की हमारी व्याख्या के विवरणांश (भाग २, पृष्ठ ५७३-५७४; ५७५-५७६) अवश्य देखें।

व्याख्या—जिस कारण मैत्रावरुण [ग्रहस्थ सोम] अपूर्व का साधन है इसलिये दूध के साथ उसे पकाना चाहिये। ऐन्द्रवायव [ग्रहस्थ सोम] भी अपूर्व का साधन है, उसे भी दूध के साथ पकाना प्राप्त होता है। इस प्रकार सब श्रयणादि सब ग्रहों के होवें। उस अवस्था में मैत्रावरुण का ग्रहण अविवक्षित होवे। इससे भी द्रव्यादिप्रयुक्त प्रोक्षणादि धर्म हैं ॥१२॥

अर्थो वा स्यात् प्रयोजनमितरेषामचोदनात् तस्य च गुणभूतत्वात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वनिर्दिष्ट 'द्रव्यादिप्रयुक्त प्रोक्षणादि हैं' पक्ष को निवर्तित करता है। (अर्थः) अपूर्व उक्त धर्मों का (प्रयोजनम्) प्रयोजक (स्यात्) होवे। (इतरेषाम्) अन्य=द्रव्यादि का कर्तव्यरूप से (अचोदनात्) विधान न होने से धर्माकाङ्क्षा नहीं है। (तस्य) उन द्रव्यादि की अपूर्व के प्रति (गुणभूतत्वात्) गुणभूत अर्थात् अङ्गभूत होने से। अर्थात् जो अन्य के लिये गुणभूत होता है, वह प्रयोजक नहीं होता।

विशेष—यहां भी 'अर्थ' शब्द अपूर्व का वाचक है। 'प्रयोजन' शब्द में ल्युट् करण कारक में है अतः इसका अभिप्राय है प्रयोजक।

व्याख्या—'वा' शब्द पक्ष को निवृत्त करता है। द्रव्यादिप्रयुक्त धर्म न होवें। कैसे होवें ? अर्थ इन का प्रयोजक है। 'अर्थ' शब्द से अपूर्व को कहते हैं। वे (=प्रोक्षणादि धर्म) उस अपूर्व के लिये हैं। वह (=अपूर्व) ही कर्तव्यरूप से सुना जाता है। वह इति-

कर्तव्यतया अनुबध्यते। इतरेषां द्रव्यादीनां कर्तव्यतया न चोदना। किं तर्हि? अर्थस्य गुणभूतत्वेन। अर्थं प्रति, अपूर्वं प्रति गुणभूतानामेषां श्रवणम्। किमतः? यद्येवम्, अकर्तव्यानामितिकर्तव्यतया नास्ति सम्बन्ध इति।

ननु व्रीह्यादिसमभिव्याहारात् तर्हि सम्बन्धः। तत्र द्वितीयया व्रीहिसमुदाय-प्रयुक्तता गम्यते। लिङ्गवाक्याभ्यां संख्याहेतुप्रयुक्तता। नेत्याह। एवं सति फलं कल्पनीयं स्यात्। तस्मादपूर्वप्रयुक्तता। नन्वेवमपि सत्यपूर्वोपकारः कल्पयितव्यः। सत्यं कल्पयितव्यः। प्रकृतेन त्वेकवाक्यतां नीत्वा। त्वत्पक्षे त्वप्रकृतेन फलवचनेनैक-वाक्यता स्यात्।

ननु प्रकरणं वाक्यस्य श्रुतेर्वा न बाधकम्। सत्यमबाधकम्। फलाभावात्तु भवदीयः पक्षो मुच्यते। तस्मिन्नानर्थक्येनाविवक्षिते प्रकरणवता प्रयोगवचनेना-परिपन्थि प्रोक्षणादि विधायिष्यते। आह। अपूर्वसम्बन्धेऽपि तदीयैर्व्रीह्यादिभिरेव धर्मः प्रयुज्यते। किमेवं भविष्यति? द्रव्यादिसम्बन्धश्चैवं हि नावज्ञातो भविष्यति।

कर्तव्यता के रूप से सम्बद्ध होता है। अन्य द्रव्यादि की कर्तव्यतारूप से विधि नहीं है। तो क्या है? अर्थ (=अपूर्व) के गुणरूप से निर्देश है। अर्थ के प्रति=अपूर्व के प्रति इन (=द्रव्या-दिकों) का गुणभूतरूप से श्रवण है। इससे क्या? यदि ऐसा (=गुणभूतरूप से श्रवण) है तो अकर्तव्यों का इतिकर्तव्यता के साथ सम्बन्ध नहीं है।

(आक्षेप) व्रीहि आदि के साथ सह उच्चारण से उनके साथ ही [प्रोक्षणादि धर्मों का] सम्बन्ध होवे। वहां (='व्रीहीन् प्रोक्षति' में) द्वितीया विभक्ति से व्रीहिसमुदायप्रयुक्तता [प्रोक्षण की] जानी जाती है। लिङ्ग और वाक्यों से ['त्रीन् परिधीन्, तेन ह्यन्नं क्रियते' में] संख्या और हेतु की प्रयुक्तता जानी जाती है। (समाधान) ऐसा नहीं है। ऐसा मानने पर [प्रोक्षण और त्रि संख्या के] फल की कल्पना करनी होगी। इसलिये ये अपूर्वप्रयुक्त हैं। (आक्षेप) ऐसा होने पर भी अपूर्व उपकार कल्पनीय होगा। (समाधान) सत्य है [अपूर्व उपकार की] कल्पना करनी होगी। [वह कल्पना] प्रकृत के साथ एकवाक्यता को प्राप्त करा कर होगी। तुम्हारे पक्ष में तो अप्रकृत फलवचन के साथ एकवाक्यता कल्पनीय होवे।

विवरण—प्रकृतेन त्वेकवाक्यतां नीत्वा—प्रकरण से प्रोक्षणादि की एकवाक्य द्वारा उनके अपूर्वोपकार की कल्पना होगी। त्वत्पक्षे त्वप्रकृतेन—तुम्हें प्रोक्षणादि धर्मों के फल की जो कल्पना करनी पड़ेगी, उस में 'फल' प्रकृत (=प्रकरणपठित) नहीं है।

व्याख्या—(आक्षेप) प्रकरण वाक्य और [द्वितीयादि] श्रुति का बाधक नहीं है। (समाधान) सत्य है, बाधक नहीं है। [प्रोक्षणादि के] फल का अभाव होने से तो आपका पक्ष मुक्त हो जाता है। ऐसा (=फलाभाव से मुक्त) होने पर [प्रोक्षणादि के] आनर्थक्य से अवि-वक्षित होने पर प्रकरणवाले प्रयोगवचन से बाधक प्रोक्षणादि का विधान करेगा। (आक्षेप) अपूर्व के साथ सम्बन्ध होने पर भी उस के व्रीहि आदि से ही [प्रोक्षणादि] धर्म प्रयुक्त होता है। ऐसा होने से क्या होगा? इस प्रकार द्रव्यादि का सम्बन्ध अवज्ञात (=विज्ञात) नहीं होगा

फलं च न कल्पयितव्यम् । उच्यते । नैवं शक्यम् । व्रीहीन् प्रोक्षतीति हि व्रीहिजाति-र्निर्दिश्यते, व्रीहिद्रव्यलक्षणार्था वा, अपूर्वसाधनविशेषलक्षणार्था वा । अन्यतर-लक्षणया कृतार्थेति, नोभयलक्षणार्था स्यात् । द्रव्यलक्षणा[1] वा, तत्र लक्षणैव दोषः, फलकल्पना च[2] इति कृत्वा साधनविशेषलक्षणार्था जातिरवसीयते । व्रीहिजाति-लक्षितं यत्साधनं, किं तत् ? यतस्तण्डुला भवन्ति, तत्प्रोक्षितव्यमिति । तण्डुल-निर्वृत्तिकरता हि तत्र साधनत्वं, न द्रव्यता । एवं संख्यादिष्वपि योजयितव्यम् । तस्मादपूर्वप्रयुक्तता प्रोक्षणादीनामिति ॥१३॥

अथ यदुक्तम्—अर्थकारिते च द्रव्येण न व्यवस्था स्यादिति—

अपूर्वत्वाद् व्यवस्था[3] स्यात् ॥१४॥

और फल की कल्पना भी नहीं करनी पड़ेगी । (समाधान) ऐसा नहीं हो सकता । 'व्रीहीन् प्रोक्षति' वाक्य में व्रीहि जाति निर्दिष्ट है अथवा द्रव्य के लक्षणा के लिये अथवा अपूर्वसाधन विशेष के लिये व्रीहि का निर्देश है । दोनों लक्षणाओं में से एक लक्षणा से [व्रीहिनिर्देश के] कृतार्थ होने से दोनों लक्षणाओं के लिये [व्रीहिनिर्देश] नहीं होगा । अथवा द्रव्यलक्षणा में, वहां लक्षणा ही दोष है और फलकल्पना भी । इसीलिये साधनविशेष को लक्षित करने के लिये जाति स्वीकार की जाती है—व्रीहि जाति से लक्षित जो साधन । वह क्या है ? जिससे तण्डुल निष्पन्न होते हैं, वह प्रोक्षित किया जाना चाहिये । तण्डुल की निर्वृत्तिकरत्व(=चावल उत्पन्न करना) ही वहां साधन है, द्रव्यत्व साधन नहीं है । इसी प्रकार संख्या आदि में भी योजना करनी चाहिये । इसलिये प्रोक्षणादि की अपूर्वप्रयुक्तता है ।

विवरण—तण्डुलनिर्वृत्तिकरता हि तत्र साधनत्वम्, न द्रव्यता—इसका भाव यह है कि तण्डुलनिर्वृत्तिरूप प्रणाली से जो साधन है, उस को लक्षित करता है [अर्थात् तण्डुल-निर्वृत्ति में जो साधन बन सकता है] उसके प्रोक्षण का विधान है । अन्य कोई द्रव्य तण्डुल-निर्वृत्तिकरण अंश से उपलक्षित नहीं हो सकता । इस से अन्य द्रव्यों में प्रोक्षणता का अभाव होगा (द्र०—टुप्टीका) ॥१३॥

व्याख्या—जो यह कहा—अपूर्वकारित (=अपूर्वप्रयुक्त) द्रव्य से व्यवस्था नहीं होगी । [इस विषय में कहते हैं—]

अपूर्वत्वाद् व्यवस्था स्यात् ॥१४॥

सूत्रार्थः—(अपूर्वत्वाद्) अपूर्व के पृथक् पृथक् होने से (व्यवस्था) व्यवस्था (स्यात्) होगी ।

---

१. 'द्रव्यलक्षणे वा' इति पाठान्तरम् ।

२. मुद्रिते—'तत्र च लक्षणैव दोषः, फलकल्पनेति' पाठः । अस्माभिस्तु तत्र गुरुवर्यैः पाठसमये यः पाठो निर्दिष्टः स एव स्वीकृतः ।

३. 'अपूर्वपृथक्त्वाद्व्यवस्था स्यात्' इति सूत्रपाठो लिखितपुस्तके उपलभ्यमानोऽपि भाष्यकारैः सोऽनादृत इति यथाश्रुत एव पाठः प्रकाशितः, इति पुणेमुद्रिते टिप्पणी ।

साधनविशेषलक्षणार्था जातिरित्येवं सति व्यवस्था भविष्यति। मैत्रावरुणेन यत् क्रियते, तत्र पयःश्रपणं न तद् ऐन्द्रवायवेन। अतो न मैत्रावरुणापूर्वादैन्द्रवायवस्य धर्माः। अपूर्वो ह्यैन्द्रवायवः। तस्माद् अपूर्वत्वाद् व्यवस्था स्यादिति ॥१४॥

तत्प्रयुक्तत्वे च धर्मस्य सर्वविषयत्वम् ॥१५॥

यश्च मन्यते, द्रव्यादिप्रयुक्ताः प्रोक्षणादयो धर्मा इति। तस्य सर्वविषयता धर्मस्य प्राप्नोति। येऽपि भक्तार्था व्रीहयस्तेऽप्येव प्रोक्षितव्याः प्राप्नुवन्ति। न चैतत् त्वयाऽपीष्यते। तस्मादयमस्मिन् पक्षे दोष इति ॥१५॥

विशेष— पुणे मुद्रित ग्रन्थ में 'अपूर्वपृथक्त्वाद् व्यवस्था स्यात् सूत्रपाठ लिखित ग्रन्थ में मिलता है' ऐसी टिप्पणी मिलती है। भाष्य में भी 'मैत्रावरुणेन यत् [अपूर्वं] क्रियते तत्र पयःश्रपणं, न तद् ऐन्द्रवायवेन' पाठ भी लिखित ग्रन्थस्थ सूत्रपाठ का अनुमोदन करता है। अतः हमने तदनुसार सूत्रार्थ दर्शाया है।

व्याख्या—साधनविशेष के लक्षण के लिये जाति गृहीत होती है, ऐसा होने पर व्यवस्था हो जायेगी। मैत्रावरुण ग्रहस्थ सोम से जो अपूर्व किया जाता है उस [सोम] में पयः का श्रपण होगा। वह अपूर्व ऐन्द्रवायवग्रहस्थ सोम से नहीं होता। इस कारण मैत्रावरुण के अपूर्व से ऐन्द्रवायव के धर्म [पयःश्रपण] नहीं होगें। ऐन्द्रवायव अपूर्व ही है। इससे अपूर्वत्व से व्यवस्था होवे ॥

तत्प्रयुक्तत्वे च धर्मस्य सर्वविषयत्वम् ॥१५॥

सूत्रार्थः—(तत्प्रयुक्तत्वे) प्रोक्षणादि धर्म तण्डुलादि द्रव्यप्रयुक्त होने पर (धर्मस्य) प्रोक्षणादि धर्म का (सर्वविषयत्वम्) सर्वविषयकत्व (च) भी होवे। अर्थात् भात आदि पकाने के लिये जो व्रीहि हैं, उनमें भी प्रोक्षणादि होवें।

व्याख्या—जो यह मानता है—प्रोक्षणादि धर्म द्रव्यादिप्रयुक्त हैं, उसके मत में प्रोक्षणादि धर्मों की सर्वविषयता प्राप्त होती है। जो भात बनाने के लिये व्रीहि हैं, वे भी प्रोक्षित करने चाहियें ऐसा प्राप्त होता है। यह तुम भी नहीं चाहते। इससे यह इस पक्ष में दोष है।

विवरण—भात आदि पकाने के लिये जो व्रीहि हैं, उनके तण्डुलभाव की निष्पत्ति के लिये लोक में प्रोक्षण और ऊखल मूसल से कूटना होता ही है। अतः सूत्रकार ने जो दोष उपस्थापित किया है, वह वैदिककर्मविषयक है अर्थात् उनका भी मन्त्रपूर्वक प्रोक्षणादि प्राप्त होगा, जो कि इष्ट नहीं है। सब इष्टियां पृथिवीस्थानीय कर्म की द्योतिका हैं। जैसे वेदि-निर्माण की प्रक्रिया सर्गकालीन पृथिवी की विभिन्नकालीन स्थितियों की परिचायिका है। इसी प्रकार दर्शपूर्णमास इष्टि में जितना भी कर्म है, वह मानव ने अन्नों को भक्षणोपयोगी बनाने के लिये किस प्रकार प्रयत्न किया, इसकी ज्ञापिका है। इसके लिये हमारी 'वैदिक सिद्धान्त मीमांसा' के द्वितीयभाग में कल्पप्रकरणान्तर्गत 'दर्शपौर्णमास' शीर्षक लेख देखें ॥१५॥

तद्युक्तस्येति चेत् ॥१६॥

इति चेत्पश्यसि, सर्वविषयता धर्मस्य भविष्यतीति। तद्युक्तस्य प्रकरणयुक्तस्य भविष्यति। एवं प्रकरणमनुगृह्यते। न च सर्वविषयता धर्मस्येति ॥१६॥

नाश्रुतित्वात् ॥१७॥

नैतदेवम्। न हि श्रूयते, प्रकरणयुक्ता व्रीहयो निर्वप्तव्या, प्रोक्षितव्याश्चेति। ननु प्रकरणानुग्रहायैतदध्यवसानम्। नेत्याह। न हि वाक्येन बाधितं प्रकरणमुत्सहते धर्मान् नियन्तुम्। अथापि न बाध्यते, तथाऽपि न प्रकरणस्य विशेष्टुं सामर्थ्यमस्ति। कर्तव्यतया हि तत्क्रियमाणं चोद्यते, न प्रसिद्धसम्बन्धमिव विशेषणत्वेन। तस्मान्न प्रकृतयागविशेषितानां व्रीहीणां निर्वापः प्रोक्षणं वा चोद्यत इति ॥१७॥

तद्युक्तस्येति चेत् ॥१६॥ (आ०)

सूत्रार्थः—प्रोक्षणादि धर्मों को (तद्युक्तस्य) प्रकरणयुक्त द्रव्य के मानें तो।

व्याख्या—यदि आप यह समझते हैं कि प्रोक्षणादि धर्मों की सर्वविषयता हो जायेगी। वे धर्म तद्युक्त=प्रकरणयुक्त द्रव्य के होंगे। इस प्रकार प्रकरण भी अनुगृहीत हो जाता है और सर्वविषयता भी धर्म की नहीं होती है ॥१६॥

नाश्रुतित्वात् ॥१७॥

सूत्रार्थः—(न) 'न' पद पूर्वसूत्रोक्त की आशङ्का के निरासार्थ है अर्थात् प्रकरणयुक्त व्रीहियों का प्रोक्षण करें, यह नहीं है। (अश्रुतित्वात्) अश्रुति=श्रवण का अभाव होने से।

व्याख्या—यह इस प्रकार नहीं है। यह नहीं सुना जाता है कि प्रकरणयुक्त व्रीहियों का निर्वाप और प्रोक्षण करना चाहिये। (आक्षेप) प्रकरण के अनुग्रह के लिये यह स्वीकार्य है। (समाधान) नहीं, वाक्य से बाधित प्रकरण धर्मों का नियमन करने में समर्थ नहीं है। और यदि वाक्य से प्रकरण बाधित न होवे, तब भी प्रकरण को विशेषित करने का सामर्थ्य नहीं है। कर्तव्यरूप से ही [प्रकरण की अपेक्षा न रखते हुए] वह क्रियमाण प्रोक्षणादि कहा जाता है। न कि जैसे प्रसिद्ध सम्बन्धवाले का विशेषण विशेषित करता है तद्वत् प्रकरण तद्गत व्रीहि आदि को विशेषणरूप से विशेषित नहीं करेगा। इसलिये प्रकृतयागविशेषित व्रीहियों का निर्वाप वा प्रोक्षण नहीं कहा है।

विवरण—न प्रकरणं विशेष्टुं.........परविशेषणत्वेन—इसका भाव टुप्टीका में इस प्रकार व्यक्त किया है—स्वर्ग को प्राप्त करे, किस से? याग से, कैसे करे इस विचार में प्रकार की आकाङ्क्षा होती है। वह याग का प्रकार [लोक आदि से] अनिर्ज्ञातरूप होने से कर्तव्य है। जो निर्ज्ञात (=ज्ञात) स्वरूपवाला होता है उच्चारित किया जाता है, वह पर का विशेषण होता है। जैसे—शुक्लः पटः [में शुक्ल का स्वरूप निर्ज्ञात है]। यहां जो कथंभाव (किस प्रकार याग करें) में अग्न्यन्वाधान प्रोक्षणादि उपस्थित होता है, वह इसके सम्बन्धत्व में

अधिकारादिति चेत् ॥१८॥

इति चेत्पश्यसि, न प्रकरणं विशेषकं व्रीहीणामिति । वाढम् । अधिकाराज्ज्ञास्यत्यध्वर्युः । इमे भक्तार्थाः, इमे कार्यार्थाः । तत्र कार्यार्थान् प्रोक्षिष्यतीति ॥१८॥

तुल्येषु नाधिकारः स्यादचोदितश्च सम्बन्धः, पृथक्सतां यज्ञार्थेनाभिसम्बन्धस्तस्माद् यज्ञप्रयोजनम् ॥१९॥

तुल्या एते व्रीहयः । य एव भक्तार्थास्त एव कर्मार्थाः, न पृथक् केचित् कर्मार्था

कारण होता है, अन्य का नहीं होता [अर्थात् प्रकरण अन्य के सम्बन्धत्व में कारण नहीं होता]। यदि प्रकरण विशेषक न होवे तो कैसे प्रकृत अपूर्व के साधनीभूत व्रीहियों में प्रोक्षण सिद्ध होवे, इस शंका को दूर करने के लिये कहा है नान्यस्येति । सत्य है, प्रकरण साक्षाद विशेषक नहीं होता—प्रकृत व्रीहियों का प्रोक्षण करे, परन्तु प्रोक्षण की फलाकाङ्क्षा में फलान्तर-कल्पना अन्याय्य है इसलिये प्रकरण से प्रकृत के साथ एकवाक्यता की कल्पना की जाती है—प्रोक्षण से व्रीहि के द्वारा प्रकृत अपूर्व को उपकृत करे । और प्रकृत से एकवाक्यता-कल्पना द्वारा परम्परा से प्रकरण विशेषक होता ही है। अतः अप्रकृत व्रीहि का प्रोक्षण कर्तव्य नहीं होता । [कोष्ठकान्तर्गत पाठ पुणे मुद्रित ग्रन्थ में टुप् टीका के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये छापा गया है]॥१७॥

अधिकारादिति चेत् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(अधिकारात्) अध्वर्यु याग के अधिकार से जान लेगा कि ये व्रीहि भात बनाने के लिये हैं, ये याग के लिये, (इति चेत्) ऐसा कहो तो ।

व्याख्या—यदि ऐसा समझते हो कि प्रकरण व्रीहियों का विशेषक नहीं होगा । सत्य है । अधिकार से अध्वर्यु जान लेगा ये व्रीहि भात के लिये हैं, ये कार्य [याग] के लिये । ऐसी स्थिति में याग कार्य के लिये जो व्रीहि हैं, उनका प्रोक्षण करेगा ॥१८॥

तुल्येषु नाधिकारः स्याद् अचोदितश्च सम्बन्धः, पृथक्सतां यज्ञार्थेनाभिसम्बन्धस्तस्माद् यज्ञप्रयोजनम् ॥१९॥

सूत्रार्थः—(तुल्येषु) जो भात और कर्म दोनों के लिये तुल्य व्रीहि हैं उनमें (अधिकारः) कर्म का अधिकार (न) नहीं (स्यात्) होगा। निर्वाप से पूर्व (सम्बन्धः) कर्म=याग का सम्बन्ध (अचोदितः) उक्त नहीं है। (पृथक्सताम्) निर्वाप द्वारा किये गये व्रीहियों का (यज्ञार्थेन) यज्ञ के साथ (अभिसम्बन्धः) सम्बन्ध होता है। (तस्मात्) इस से (यज्ञप्रयोजनम्) यज्ञप्रयोजक है।

विशेष—**यज्ञप्रयोजनम्**—करण अर्थ में ल्युट् है (कुतूहलवृत्ति)।

व्याख्या—ये व्रीहि तुल्य हैं। जो ही भात के लिये हैं वे ही कर्मार्थ हैं, कोई पृथक्

नाम । ननु ये निरुप्तास्ते कर्मार्थाः । सत्यं भवेदेतत् । प्रोक्षणादिषु दोषो न स्यात् । निर्वापे तु दोषः । न तत्र केचन प्रकृता विद्यन्ते, पृथक्सतां यज्ञार्थेन निर्वापः श्रूयते । कथम् ? **अपरेण गार्हपत्यं प्रागीषमनोऽवस्थितं भवति । तस्य दक्षिणं चक्रमारुह्यानसोऽधिनिर्वपति**[1] इति । तस्माद् धर्मस्य सर्वविषयत्वं प्राप्नोत्येव । पूर्वेण हेतुनाऽपूर्वप्रयुक्तत्वं प्रोक्षणादीनामिति ॥१९॥

कर्मार्थ नहीं हैं। (आक्षेप) जो निरुप्त (=निर्वाप द्वारा पृथक् किये गये) व्रीहि हैं वे कर्मार्थ हैं। (समाधान) यह सत्य है ऐसा होवे। प्रोक्षण आदि में दोष नहीं होगा। निर्वाप में तो दोष है। वहां (=निर्वाप काल में) कोई व्रीहि प्रकृत नहीं हैं। पृथक् वर्तमान व्रीहियों का यज्ञ के लिये निर्वाप सुना जाता है। कैसे ? अपरेण गार्हपत्यं प्रागीषमनोऽवस्थितं भवति। तस्य दक्षिणं चक्रमारुह्यानसोधिनिर्वपति **(=गार्हपत्य के पश्चिम में प्राची दिशा की ओर ईषा=अग्रभाग है जिस का, इस प्रकार व्रीहि वा यव से भरा शकट खड़ा होता है। उस शकट के दाहिने पहिये पर चढ़ कर शकट के ऊपर निर्वाप करता है)। इससे धर्म का सर्वविषयत्व प्राप्त होता ही है। पूर्व हेतु से प्रोक्षणादि का अपूर्वप्रयुक्तत्व है।**

विवरण—अपरेण गार्हपत्यम्—इत्यादि का तात्पर्य यह है कि निर्वाप से पूर्व अनःस्थित व्रीहि या यव सामान्य हैं। निर्वाप क्रिया से परिगृहीत द्रव्य ही कर्मार्थ हैं। **तस्माद् धर्मस्य**—इस से निर्वापरूप धर्म का भात के लिये जो व्रीहि हैं उनका भी निर्वाप धर्म प्राप्त होता है।

विशेष—पौर्णमास में आग्नेय और अग्नीषोमीय पुरोडाश के लिये ४+४=८ मुट्ठी व्रीहियों वा यवों का निर्वाप होता है। इतने अल्प द्रव्य के निर्वाप के लिये गाड़ी भरकर अन्न लाना केवल अपनी समृद्धता को दर्शानामात्र है। मनुस्मृति में श्रेष्ठ अपरिग्रही ब्राह्मण का लक्षण **अश्वस्तनिक एव वा** (४।७) कहा है। इसके आगे एक प्रक्षिप्त श्लोक में **सद्यः प्रक्षालिको वा स्यात्** लिखा है।[2] वह गाड़ी भरकर अन्न कैसे लायेगा ?

शतपथब्राह्मण में लिखा है—**अनस एव यजूंषि सन्ति** (१।१।२।७)। मन्त्र में न गाड़ी का वर्णन है न पहिये का। परन्तु याज्ञवल्क्य ने एक पते की बात भी लिखी है—**पूर्वे स्मर्षयो भस्त्रायै हविर्गृह्णन्ति स्म। तेषां भस्त्रायै यजूंष्यासन्** अर्थात् प्राचीन ऋषि लोग कपड़े की

---

१. नेदं साक्षात् क्वाचित्कस्य उद्धरणस्य पाठः, अपितु निर्वापप्रकरणपठितानाम् अनेकवचनानां संक्षेपः। द्र०—आप० श्रौत० १।१७।४-११॥

२. ईसामसीह पर भारतीय सभ्यता का गहरा प्रभाव था। उसने ईश्वर से 'आज की रोटी' की ही याचना की है। वह तात्कालिक शोषक धनिकों का महाशत्रु था। उसने कहा है 'सूई के छेद से ऊंट गुजर सकता है, परन्तु धनिक स्वर्ग के द्वार से नहीं गुजर सकता।'

[अग्नीषोमीयप्राग्भाववर्तिपदार्थधर्मस्योपांशुत्वस्य तत्तत्पदार्थजन्यावान्तरापूर्वप्रयुक्तत्वाधिकरणम् ॥६॥]

ज्योतिष्टोमे समाम्नायते—**त्सरा वा एषा यज्ञस्य, तस्माद् यत्किंचित् प्राचीनमग्नीषोमीयात्तेनोपांशु चरन्ति**[1] इति। तदत्रैषोऽर्थः सांशयिकः। किं प्रागग्नीषोमीयाद्यानि कर्माणि, तत्प्रयुक्तमुपांशुत्वमुत परमापूर्वप्रयुक्तमिति ? किं प्राप्तम् ?

देशबद्धमुपांशुत्वं तेषां स्याच्छ्रुतिनिर्देशात् तस्य च तत्र भावात् ॥२०॥ (सि०)

थैली से हवि का निर्वाप करते थे। अतः ये यजुर्मन्त्र उनके लिये भस्त्रासम्बन्धी थे। इससे स्पष्ट है कि उत्तरोत्तर काल में याज्ञिक प्रक्रिया में परिवर्तन हुए थे। सादगी से आडम्बर की ओर बढ़ते गये। इसके विशेष निदर्शन के लिये 'मीमांसा-शाबरभाष्य-व्याख्या' प्रथमभाग के आरम्भ में लिखित 'श्रौतयज्ञमीमांसा' निबन्ध में 'आरम्भिक यज्ञों में सादगी तथा सात्विकता' प्रकरण देखें। पृष्ठ १०५ (प्रथम संस्करण), द्वितीय संस्करण पृष्ठ ११८; पुस्तकाकार मुद्रित 'श्रौत-यज्ञ-मीमांसा' हिन्दी भाग पृष्ठ १५१ देखें।

आजकल के याज्ञिक व्रीहि और यव के स्थान में पिसे पिसाये आटे का उपयोग करते हैं। आठ मुट्ठी आटे का खिलौने के रूप में निर्मित शकट से स्पर्श, खिलौनेरूप ऊखल में चुटकी भर आटा डालकर मूसल से कुट्टन आदि कर्म करते हैं। मीमांसकों द्वारा निर्धारित व्रीहियों का प्रोक्षण, ऊखल मूसल से अवहनन, शूर्प से फलीकरण, दृषद् उपल से पेषण विषयक नियमापूर्वों के उत्पन्न न होने से कर्म फलप्रद कैसे होगा ? यह विचारणीय है। यह मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है कि वह आयास से बचने के लिये कोई न कोई सरल मार्ग निकाल लेता है। उससे शास्त्रीय मर्यादा खण्डित होती है, इसका ध्यान भी नहीं रखता।

❀★❀

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में पढ़ा है—त्सरा वा एषा यज्ञस्य, तस्माद् यत्किञ्चित् प्राचीनमग्नीषोमीयात् तेनोपांशु चरन्ति (**=यह यज्ञ की छद्म गति है, इसलिये अग्नीषोमीय पशुयाग से पूर्व जो भी कार्य है, उसे उपांशु करते हैं**)। **यहां यह अर्थ सांशयिक है—अग्नीषोमीय से प्राक् जो कर्म हैं उनसे प्रयुक्त उपांशुत्व है अथवा परमापूर्वप्रयुक्त है ? क्या प्राप्त होता है ?**

देशबद्धमुपांशुत्वं तेषां स्याच्छ्रुतिनिर्देशात् तस्य च तत्र भावात् ॥२०॥

---

१. द्र० —मै० सं० ३।८।२॥ मुद्रिते मैत्रायणीपाठे 'सरा' इति पठ्यते। 'सरा' शब्दात् प्राक् 'जुहुयात्' पदं श्रूयते। तेन सह सन्धौ 'जुहुयात्सरा' इति पाठस्य लेखने मुद्रणे वा एकस्य तकारस्यानवधानतो लोपः संजातः स्यात् ॥

प्रागग्नीषोमीयात्, यान्यङ्गापूर्वाण्यारादुपकारकाणि, यच्च प्रधानद्रव्यसंस्कारकं, तत्प्रयुक्तोऽयं धर्मः। योऽयं देशसम्बद्धः। कुत एतत्? श्रुतिनिर्देशात्। मर्यादया देशलक्षिता ये पदार्थास्ते श्रुत्या एतेन धर्मेण सम्बद्धाः। य एतस्मिन् देशे पदार्थास्तैरुपांशु चरन्तीति।

ननु वाक्येनैष धर्मो विनियुक्तो न श्रुत्या। न ब्रूमो न वाक्येनेति। किं तर्हि? श्रुतेनास्यैकवाक्यता, न प्रकृतेन लक्षितेन, कल्पितेन वेति। उच्यते। गृह्णीम एतदङ्गापूर्वाणामयं धर्म इति, न तु प्रधानद्रव्यस्य संस्कारकं यदपूर्वं तस्यापीति। कतमं तत्? यत्प्रधानद्रव्यसंस्कारकं पूर्वस्मिन् देशेऽस्तीति। उच्यते। तस्य च तत्र भावात्। तस्यैवंजातीयकस्य पूर्वस्मिन् देशे भावात्। अस्ति हि सोमप्रवहणीयं नाम सूक्तम्।[1] तस्माद्देशधर्मो भविष्यतीति। यथा **प्रणीताप्रणेष्यन् वाचं यच्छति, तां स हविष्कृता**

सूत्रार्थः—प्राक् अग्नीषोम से जो कर्म वे उपांशु होवें। (उपांशुत्वम्) उपांशुत्व धर्म देशसम्बद्ध है (श्रुतिनिर्देशात्) श्रुति के निर्देश से। (च) और (तस्य) अङ्ग और प्रधान कर्म के (तत्र भावात्) उस सीमा से बद्ध देश में उनके होने से।

व्याख्या—प्रागग्नीषोमीयात् (=अग्नीषोमीय कर्म से पूर्व) जो अङ्गापूर्व आरात् (=दूर से) उपकारक हैं और जो प्रधान द्रव्य संस्कार है, उनसे प्रयुक्त यह उपांशु धर्म है, जो यह देशसम्बद्ध धर्म है। किस हेतु से? श्रुति के निर्देश से। मर्यादा (='प्रागग्नीषोमीयात्') देश से लक्षित जो पदार्थ हैं, वे श्रुति से इस धर्म से सम्बद्ध हैं। जो इस देश में पदार्थ हैं, उनसे उपांशु कार्य करते हैं।

(आक्षेप) वाक्य से ही धर्म विहित है, श्रुति से विहित नहीं है। (समाधान) हम यह नहीं कहते कि वाक्य से सम्बद्ध नहीं हैं। तो क्या कहते हो? श्रुति से एकवाक्यता है, प्रकृत लक्षित से सम्बद्ध नहीं है। (आक्षेप) यह स्वीकार करते हैं अङ्गापूर्वों का यह धर्म है, परन्तु प्रधानद्रव्य का संस्मारक जो अपूर्व है, उसके भी हैं। वह कौन सा है? जो प्रधान द्रव्य का संस्कारक पूर्व देश में है। (समाधान) उसके वहां होने से। उसके इस प्रकार के पूर्व देश में होने से। सोमप्रवहणीय नाम का सूक्त है। उस से देशधर्म होगा (अर्थात् सोम को वहन करनेवाले शकट का सूक्त है)। उसमें भी (=देशधर्म) उपांशुधर्म होगा। जैसे प्रणीता का प्रणयन करते हुए वाणी को रोकता है (मौन रहता है), उस (=वाणी के धर्म) को वह हविष्कृत् के आह्वान से छोड़ता है। इस देश (=प्रणीता के प्रणयन से लेकर हवि-

---

१. द्र०—ऐतरेय ब्रा० १।१३। अत्र सोमप्रवहणीयमन्त्रा पठ्यन्ते। मीमांसोद्धरणकोशसंकलयिता सोमप्रवहणीयसूक्तस्य स्थलनिर्देशः '३।१३' इत्येवं कृतः। स चाशुद्धस्य। ऐ० ब्राह्मणः पाठनिर्देशो द्विधा क्रियते। पञ्चिकायाः, तदनुसारं च खण्डस्य निर्देशः क्रियते, यद्वा अध्यायस्य, तदीयखण्डस्य च। '३।१३' इति निर्देशे '३' संख्या अध्यायस्य, '१३' इति च खण्डस्य। तृतीयाध्याये षडेव खण्डः। यद्यध्यायानुसारी निर्देशः क्रियते, तर्हि ३।२ इति निर्देशः कर्त्तव्यः, अथवा पञ्चिकानुसारं १।१३ इति। उभयोर्विरुद्धयोः संकरीकरणं विप्रतिपत्तिजनकम्।

विसृजति[1] इति । अस्मिन् देशे ये पदार्थास्तेषां धर्मो वाग्यमो न प्रधानापूर्वस्य । एवमिदमप्युपांशुत्वमिति ॥२०॥

यज्ञस्य वा तत्संयोगात् ॥२१॥ (पू०)

वाशब्दात् पक्षो विपरिवर्तते । नैतदस्ति तद्देशानां धर्म इति । कस्य तर्हि ? परमापूर्वस्येति । कुतः ? तत्संयोगात् । तत्संयोगो भवति । यज्ञस्य संयोगः—**त्सरा वा एषा यज्ञस्य यत्प्राचीनमग्नीषोमीयाद्** इति । यज्ञस्य यत्प्राचीनमिति सम्बन्धः, न त्सरा वा यज्ञस्येति । कुतः ? प्राचीनं विशिषन् 'यज्ञस्येति शब्दो विधिपदशेषो भवति । ततः प्रवृत्तिविशेषकरो भविष्यति । इतरथा अर्थवादशेषः सन्ननर्थकः स्यात् । **वादमात्रं ह्यनर्थकम्**[2] इति ।

प्राचीनमिति च यज्ञभागं श्रुत्या वदति । लक्षयति च तद्गतान् पदार्थान् ।

ष्कृत् के आह्वान तक) जो पदार्थ हैं, उन का वाग्यम (वाणी को रोकना =मौन रहना) रूप धर्म प्रधानापूर्व का नहीं होता है । इसी प्रकार यह उपांशुत्व धर्म जानना चाहिये ।

विवरण—प्रणीता प्रणेष्यन् वाचं यच्छति—यह दीक्षणीयेष्टिविषयक नियम है । तां स हविष्कृता विसृजति—उस वाग्यमन को वह यजमान हविष्कृत् के आह्वान से छोड़ता है का तात्पर्य है । पूर्वोक्त वाग्यमन को यजमान **हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि**—प्रैष वचन से समाप्त करता है ॥२०॥

यज्ञस्य वा तत्संयोगात् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त अर्थ 'तद्देशीयों का उपांशुत्व धर्म है' का निवर्तक है । (यज्ञस्य) यज्ञ अर्थात् परमापूर्व का धर्म है, (तत्संयोगात्) यज्ञ के साथ संयोग होने से ।

व्याख्या—'वा' शब्द से पक्ष बदलता है । यह नहीं है कि [प्राक् अग्नीषोमीय] देशस्थों का [उपांशुत्व] धर्म है । तो किस का है ? परमापूर्व का । किस हेतु से ? उस का संयोग होने से । उस का संयोग होता है । यज्ञ का संयोग—त्सरा वा एषा यज्ञस्य यत् प्राचीनमग्नीषोमीयात् । यज्ञ का जो प्राचीन (=पूर्वभाग) ऐसा सम्बन्ध है, त्सरा वा यज्ञस्य (=छद्मगति जो यज्ञ की) ऐसा सम्बन्ध नहीं है । किस कारण ? 'प्राचीन' को विशेषित करता हुआ 'यज्ञस्य' शब्द विधि का पदशेष होता है । इस कारण (=विधिपद शेष होने से) विशेष प्रवृत्ति का जनक होगा । अन्यथा अर्थवाद का शेष होता हुआ अनर्थक होगा । वादमात्रं ह्यनर्थकम् (=अर्थवाद मात्र अनर्थक होता है) ।

और 'प्राचीनम्' यह श्रुति से यज्ञभाग को कहता है और लक्षित करता है तद्गत

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—भरद्वाजश्रौत १।१७।५—प्रणीताः प्रणेष्यन् वाचं यच्छति आहविष्कृतः ।

२. मी० अ० १ पा० २ अ० २ सू० १९ ।

श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या स्यात्। तस्मात् प्राग्देशस्यैष धर्मः। तेनास्य श्रुत्या संयोगः। न प्राग्देशगतानां पदार्थानां, तैरस्य लक्षणया सम्बन्धः स्यात्।

अथाप्यर्थवादपदशेषो यज्ञस्येति स्यात्, तथाऽपि प्राग्देशः[1] श्रुत्या धर्मेण सम्बध्यते। प्राग्देशगताः पदार्था लक्षणयेति यज्ञप्रयुक्ततैव न्याय्या। अपि च प्रत्यक्ष उपकारः परमापूर्वस्य लक्ष्यते। यत्प्राचीनमग्नीषोमीयात्तदुपांशुत्वेन शिथिलप्रयत्नः प्रचरन्नखिन्नः सुखं बहुवृत्तान्तं सौत्यमहर्निर्वर्त्स्यति[2]। तस्मात् परमापूर्वप्रयुक्तमुपांशुत्वमिति ॥२१॥

अनुवादश्च[3] तदर्थवत् ॥२२॥

अनुवादश्च तद्देशपदार्थस्यैव भवति—**त्सरा वा एषा यज्ञस्य यत्प्राचीनमग्नीषोमीयाद्** इति। त्सरा नाम छद्मगतिः। यथा शकुनिग्राहकस्य शकुनिं जिघृक्षतश्छद्मना गतिर्भवति। शनैः पदन्यासो, दृष्टिप्रणिधानम्, अशब्दकरणं च। कथम-

---

पदार्थों को। श्रुति और लक्षणा के संशय में श्रुति न्याय्य होवे। इससे प्राग् देश (=यज्ञ) का ही धर्म [उपांशुत्व] है। उसके साथ श्रुति से सम्बन्ध है [यज्ञस्य यत् प्राचीनम्]। [अग्नीषोमीय से] प्राक् देशगत पदार्थों का नहीं है। उन प्राक् देशगत पदार्थों के साथ लक्षणा से सम्बन्ध होवे [यज्ञलक्षित पदार्थ]।

और भी, 'यज्ञस्य' यह अर्थवाद का शेष पद होवे तो भी प्राग्देश श्रुति से धर्म के साथ सम्बन्धित होता है। 'प्राग्देशगत पदार्थ लक्षणा से' यह लक्षणा यज्ञप्रयुक्त ही न्याय्य है। और भी, प्रत्यक्ष उपकार परमापूर्व का ही लक्षित होता है—जो प्राचीन अग्नीषोमीय से, उस में उपांशुत्व से शिथिलप्रयत्न होकर कार्य करता हुआ खिन्नता से रहित होकर सुखपूर्वक बहुत कार्यवाले सौत्य अह (=जिस दिन सोम का अभिषव करके यज्ञ किया जाता है) को निर्वर्तित करेगा (=पूर्ण करेगा)। इससे परमापूर्वप्रयुक्त ही उपांशुत्व है ॥२१॥

अनुवादश्च तदर्थवत् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(अनुवादः) अनुवाद=अर्थवाद वाक्य है (तत्) वह (च) भी (अर्थवत्) परमापूर्वप्रयोजक है।

व्याख्या—अनुवाद(=अर्थवाद) भी उस देशवाले पदार्थ का ही होता है—त्सरा वा एषा यज्ञस्य यत्प्राचीनमग्नीषोमीयात्। त्सरा नाम छद्म गति का है। जैसे पक्षी को पकड़ने वाले (=बहेलिया) की पक्षी को पकड़ने की इच्छा से छद्मरूप से गमन होता है—धीरे से पैर रखना, दृष्टि की एकाग्रता और शब्द न करना। किस प्रकार से अबद्ध(=स्वतन्त्र)पक्षी पकड़ा

---

१. शाबरभाष्यस्य यः पाठः टुप्टीकायामुद्धृतः, तत्र 'प्रादेशमात्रं' पाठो निर्दिश्यते।

२. 'निर्वक्ष्यति' इति पाठान्तरम्।

३. 'अर्थवादश्च तदर्थवत्' इति लिखिते केवलसूत्रपाठे, दृश्यते इति पुणेमुद्रिते पुस्तके टिप्पणी। कुतुहलवृत्तावप्ययमेव पाठः।

नवबुद्धः शकुनिर्गृह्येतेति । एवमिहाप्यनवबुद्धमिव ग्रहीतुं यज्ञं प्रच्छन्नगतिरुपांशुत्वं नाम । यथा शकुनिग्राहकस्य यस्मिन् देशे शनैः पदन्यासो न स तद्देशार्थः । अपि तु तद्देशाभिगतस्य शकुनेरर्थेन क्रियते । एवमिहाप्युपांशुत्वं न तद्देशानां पदार्थानामर्थेन क्रियते, तद्देशाभिगतस्य यज्ञस्यार्थेन गम्यते । यस्तु त्सराशब्दं यज्ञविशेष्यं मन्यते, तस्य सुतरामर्थवादः परमापूर्वप्रयुक्ततां दर्शयति । यज्ञस्यैषा त्सरेति । यथा शकुनेः त्सरा, एवं यज्ञस्येति ॥२२॥

[वाङ्नियमस्यावान्तरापूर्वप्रयुक्तत्वाधिकरणम्][1]

प्रणीतादि तथेति चेत् ॥२३॥

जाये [इस प्रयोजन से] । इसी प्रकार यहां भी अनवबुद्ध (=अज्ञात) के समान यज्ञ को ग्रहण (=पूर्ण करने) के लिये उपांशुत्व नामवाली प्रच्छन्नगति है । जैसे पक्षी पकड़नेवाले की जिस देश में धीरे-धीरे पैर रखना होता है, वह(=शनैः पदन्यास)उस देश के लिये नहीं होता, अपितु उस देश में स्थित शकुनि के लिये किया जाता है । इसी प्रकार यहां उपांशुत्व तद्देशस्थ (प्रागग्नीषोमीयस्थ) पदार्थों के प्रयोजन से नहीं किया जाता, उस देशस्थ यज्ञ के प्रयोजन के लिये जाना जाता है । और जो 'त्सरा' शब्द को यज्ञ का विशेष्य मानता है, उस के मत में निश्चय ही अर्थवाद [उपांशुत्व की] परमापूर्वप्रयुक्तता को दर्शाता है—यज्ञ की वह छद्मगति । जैसे शकुनि के [निमित्त] छद्मगति, इसी प्रकार यज्ञ के [निमित्त] उपांशुत्व । [यहां 'यज्ञ' शब्द से तात्पर्य यज्ञ से उत्पन्न परमापूर्व है ।] ॥२२॥

विवरण—यहां यह अधिकरण स्थित हो जाता है अर्थात् रुक जाता है । यह पच्चीसवें सूत्र के भाष्य के आरम्भ में **स्थितादुत्तरम्** में निर्देश से जाना जाता है । अगले दो सूत्रों से **'वाङ्नियमस्यावान्तरापूर्वप्रयुक्तत्व'** अधिकरण है । अतएव सुबोधिनीवृत्ति में यह अधिकरण नाम संकेतित है । कुमारिल भट्ट का भी यही मत है । द्र०—टुप्टीका सूत्र २३ के अन्त में—**नन्विदानीमेवोक्तम्'** (२४ वें सूत्र के भाष्य में) **'स्थितादुत्तरम्'** (२५ वें सूत्र के भाष्य के आरम्भ में) **इति चैतस्माद् ग्रन्थादनुमीयते अधिकरणान्तरम्** । मुद्रित भाष्य में इस अवान्तर अधिकरण का निर्देश क्यों नहीं किया ? यह विचारणीय है । हम इस अधिकरणान्तर का आगे निर्देश करते हैं, परन्तु उस पर अधिकरण संख्या इसलिये नहीं देते कि ग्रन्थकारों द्वारा जहां अधिकरण नाम या संख्या का प्रयोग किया है, उसमें पाठकों को विप्रतिपत्ति न होवे ।

प्रणीतादि तथेति चेत् ॥२३॥

सूत्रार्थ—(प्रणीतादि) प्रणीता प्रणयन करे हुए जो वाग्यमन कहा है, वह भी (तथा) उसी प्रकार अर्थात् परमापूर्वप्रयुक्त होवे । (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो ।

---

१. अस्यावान्तराधिकरणस्य विषये टुप्टीका द्रष्टव्या—**'नन्विदानीमेवोक्तम्'** (२४ तमे सूत्रभाष्ये) **'स्थितादुत्तरम्'** (२५ तमसूत्रभाष्यादौ) **इति चैतस्माद् ग्रन्थादनुमीयतेऽधिकरणान्तरम्'** इति । २२ तमस्य सूत्रस्य भाष्यान्ते प्रत्तमस्मदीयं विवरणमपि द्रष्टव्यम् ।

इति यदुक्तं तत्परिहतव्यम् ॥२३॥

न यज्ञस्याश्रुतित्वात् ॥२४॥

नैतदेवम् । तद्देशपदार्थप्रयुक्ततैव स्यात्, न परमापूर्वप्रयुक्ततेति । नात्र पदार्थानां यज्ञभागविशेष्यता वाग्यमसम्बन्धेनावगम्यते[1] । यज्ञस्याश्रुतित्वात् । नात्र सम्बन्धी यज्ञशब्दः श्रूयते । नन्विदानीमेवोक्तम्[2]—**यज्ञं तनिष्यन्तावध्वर्युयजमानौ वाचं यच्छतः**[3] इति । उच्यते । तद्देशपदार्थप्रयुक्ततायामप्येतदवकल्पते । कथम्? यज्ञं विस्तारयितुं वाचं यच्छतः । तौ वाचंयमौ सन्तावविक्षिप्यमाणचेतस्कौ, पदार्थेषु क्रियमाणेष्वप्रमाद्यन्तौ तथा करिष्येते, यथा न कश्चित् पदार्थः पदार्थावयवो वा हीयते । अध्वर्युर्वाग्यमेनानन्यचेतस्को न पदार्थान् प्रमादयिष्यति । यजमानश्चैवं वाग्यमेनानन्यचेतस्कः प्रमादयिष्यन्तं तं बोधयिष्यति । अङ्गैरप्यनन्तरीयमाणैर्यज्ञो विस्तार्यते, न केवलैः स्वैरवयवैरङ्गैश्च विस्तारयितुं वाग्यमः शक्नोति । अस्मिन्

व्याख्या—[प्रणीतादि वाक्यस्थ वाग्यमन भी उसी प्रकार परमापूर्वप्रयुक्त होवे] यह जो कहा उस का परिहार करो ॥२३॥

न यज्ञस्याश्रुतित्वात् ॥२४॥

सूत्रार्थः—प्रणीता प्रणयन वाग्यमन भी परमापूर्वप्रयुक्त (न) नहीं है । (यज्ञस्य) उस वाक्य में यज्ञ के (अश्रुतित्वात्) श्रुत न होने से ।

व्याख्या—ऐसा नहीं है । उस देशस्थ (प्रणीता प्रणयन से लेकर हविष्कृदाह्वान से पूर्वदेश में विद्यमान) पदार्थप्रयुक्तता ही [वाग्यमन में] होवे, परमापूर्वप्रयुक्तता न होवे । यहां पदार्थों की यज्ञभाग विशेष्यता (=उक्त यज्ञभाग रूप देश में वर्तमान ऐसे पदार्थ) नहीं है, यह वाग्यमन सम्बन्ध से जाना जाता है । यज्ञ के अश्रुत होने से । यहां सम्बन्धी यज्ञ शब्द नहीं सुना जाता है । (आक्षेप) अभी तो यह कहा है—यज्ञं तनिष्यन्तावध्वर्युयजमानौ वाचं यच्छतः (=यज्ञ का विस्तार करते हुए अध्वर्यु और यजमान वाणी को रोकते हैं, अर्थात् मौन रहते हैं) । (समाधान) यह वाग्यमन तद्देश (=हविष्कृत् के आह्वान से पूर्व) के पदार्थप्रयुक्तता में उपपन्न होता है । कैसे ? यज्ञ को विस्तृत करने के लिये वे दोनों (=अध्वर्यु और यजमान) वाणी को रोकते हैं । वे वाचंयम होते हुए अविक्षिप्त चित्तवाले क्रियमाण पदार्थों में प्रमाद न करते हुए उस प्रकार कार्य करेंगे, जिस से कोई पदार्थ वा पदार्थ का अवयव नहीं छूटे । अध्वर्यु वाग्यमन से अविक्षिप्त चित्तवाला पदार्थों के प्रति प्रमाद नहीं करेगा और यजमान इस प्रकार वाग्यमन से अनन्यचित्तवाला प्रमाद करनेवाले उस (अध्वर्यु) को बोध करायेगा(=जतायेगा) । मध्यपतित अङ्गों से भी यज्ञ विस्तारित होता है, केवल स्व

---

१. 'वाग्यमसम्बन्धे तावद् अवगम्यते' इति पाठान्तरम् ।

२. अग्र उद्धरिष्यमाणं वचनं न तावत् पूर्वमुक्तम् ।

३. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—अध्वर्युयजमानौ वाचं यच्छेताम् आहविष्कृतः । वाराहश्रौत १।२।४।११॥

काले क्रियमाणो न स्वेनाऽऽत्मना। यज्ञसंयोगश्चात्र विस्तारसम्बद्धः। तस्मादङ्ग-प्रयुक्ततायामप्युपपद्यते, यदध्वर्युयजमानौ वाचं यच्छतस्तत्प्रजापतिभूयंगतौ यज्ञं मन्वाते इति दृष्टेन कारणेन, नादृष्टेनेति वर्तमानकालापदेशादवगम्यते। यथा वयं वाग्यमेन तायमानं=यज्ञं विद्मस्तथेति ॥२४॥

[इति वाङ्नियमास्यावान्तरापूर्वप्रयुक्तताधिकरणम्]

स्थितादुत्तरम्—

तद्देशानां वा संघातस्याचोदितत्वात् ॥२५॥ (उ०)

वाशब्दात् पक्षो विपरिवर्तते। नैतदस्ति, परमापूर्वप्रयुक्तमुपांशुत्वमिति। कथं तर्हि? प्राचीनमग्नीषोमीयात्, ये पदार्थास्तत्प्रयुक्तम्। कुतः? संघातस्याचोदितत्वात्। संघात इति ग्रहयज्यभ्याससंघातं ब्रूमः। न तस्यायं भाग उपांशुत्वेन सम्बद्ध इति चोदना। नैवं सम्बन्धः क्रियते, यज्ञस्य यत्प्राचीनमिति। कथं तर्हि? त्सरा वा एषा यज्ञस्येति। कुतः? तस्मादिति पदेन व्यवधानात्। अथापि प्राचीनेन सम्बन्धः।

अवयवरूप अङ्गों से वाग्यमन [यज्ञ का] विस्तार नहीं कर सकता। इस काल में क्रियमाण कर्म अपने स्वरूप से [भी विस्तार] नहीं कर सकता। यहां यज्ञ का संयोग विस्तार से सम्बद्ध है। इससे [वाग्यमन] अङ्गप्रयुक्तता में भी उपपन्न होता है। जो अध्वर्यु और यजमान वाग्यमन करते हैं,वह प्रजापति भाव को प्राप्त हुए यज्ञ का विस्तार करते हैं। इस दृष्ट कारण से,अदृष्ट कारण से नहीं। यह वर्तमान काल के कथन (=तन्वाते)से जाना जाता है। जैसे हम वाग्यमन से विस्तृत किये जा रहे यज्ञ को जानते हैं, उस प्रकार विस्तृत करते हैं। [पुणेमुद्रित भाष्य में टिप्पणी में 'तायमान' का 'पाल्यमान' अर्थ दर्शाया है ॥२४॥

व्याख्या—[२२ वें सूत्र के पूर्वपक्ष पर] स्थित (=रुके हुए) के अनन्तर—

तद्देशानां वा संघातस्याचोदितत्वात् ॥२५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द से पक्ष परिवर्तित होता है—यह नहीं है कि परमापूर्व से प्रयुक्त उपांशुत्व है। (तद्देशानाम्) अग्नीषोमीय से प्राक् देशों के (संघातस्य) समुदाय के (अचोदितत्वात्) कथन न होने से।

व्याख्या—'वा' शब्द से पक्ष परिवर्तित होता है। यह नहीं है कि परमापूर्वप्रयुक्त उपांशुत्व है। तो कैसे है? अग्नीषोमीय से प्राचीन जो पदार्थ हैं, उनसे प्रयुक्त है। किस हेतु से? संघात के कथित न होने से। संघात ग्रह यजि अभ्यास के संघात को कहते हैं। उसका (=अग्नीषोमीय से पूर्व का) यह भाग उपांशुत्व से सम्बद्ध है, ऐसी चोदना है। इस प्रकार सम्बन्ध नहीं किया जाता है—यज्ञ का जो प्राचीन भाग। तो कैसे सम्बन्ध किया जाता है? छद्म गति है यह यज्ञ की। किस हेतु से? 'तस्मात्' पद के व्यवधान से। और यदि प्राचीन

एवमपि न परमापूर्वप्रयुक्तम्। न हि यदित्यनेन देशोऽभिसम्बध्यते। किं तर्हि? देशगतः पदार्थः।

यदि देशोऽभिसम्बध्येत, यत्प्राचीनमग्नीषोमीयादिति भवेत्, न यत्किंचिदिति। वीप्सायां ह्येतद्भवति। वीप्सा च बहुषु भवति, नैकस्मिन्। एकश्च देशो बहवस्तत्र पदार्थाः। तस्मात् पदार्थानामुपांशुत्वेन सम्बन्धो न तद्देशस्येति। कथं पुनर्वीप्साऽवगम्यत इति? यदित्यनेन लक्ष्यते। किमित्यज्ञानवचनम्। विशेषाश्चाज्ञाता ज्ञातुमिष्टाः प्रतीयन्ते। बहुषु च सामान्यं विशेषाश्च भवन्ति। तस्मात्तद्देशाः पदार्था वीप्सया लक्ष्यत्वेन ते चोपांशुत्वेन सम्बध्यन्त इति।

ननु दीक्षणीयादिष्वन्यो धर्म उक्तः—**यावत्या वाचा कामयेत तावत्या दीक्षणीयायामनुब्रूयात्, मन्द्रं प्रायणीयायां, मन्द्रतरमातिथ्यायामुपांशूपसत्स्विति।** कथं तत्रोपांशुत्वं कर्तुं शक्यमिति? उच्यते। स धर्मः प्रधानेषु भविष्यति। दीक्षणीयादिषु प्रधानशब्दोपबन्धत्वात्। उपांशुत्वं प्रधानवर्जितेष्वङ्गेषु विवेक्ष्यते। सामान्योपदेशात्।

पद से सम्बन्ध होवे, तो इस प्रकार भी परमापूर्वप्रयुक्त नहीं है। 'यत्' इस पद से देश सम्बद्ध नहीं होता है। तो क्या सम्बद्ध होता है? देशगत पदार्थ।

यदि देश सम्बद्ध होवे तो 'जो प्राचीन अग्नीषोम से' ऐसा होवे। 'यत् किञ्चित्' (=जो कोई) ऐसा निर्देश न होवे। यह (=यत्किञ्चित्) वीप्सा (=व्याप्ति) में ही होता है। वीप्सा बहुतों में होती है, एक में नहीं होती। देश एक है, वहां पदार्थ बहुत हैं। इसलिये उपांशुत्व से पदार्थों का सम्बन्ध है, उस देश का नहीं। कैसे वीप्सा जानी जाती है? 'यत्' इस निर्देश से लक्षित होती है। [किञ्चित् में] 'किम्' यह अज्ञान को कहनेवाला है। अज्ञात 'विशेष' जानने के लिये इष्ट प्रतीत होते हैं और बहुतों में सामान्य विशेष होते हैं। इसलिये उस देशवाले [जो] पदार्थ [हैं] वीप्सा से लक्ष्यरूप वे उपांशुत्व से सम्बद्ध होते हैं।

(आक्षेप) [अग्नीषोमीय से प्राचीन] दीक्षणीयादि में अन्यधर्म कहा है—यावत्या वाचा कामयेत तावत्या दीक्षणीयायामनुब्रूयात्, मन्द्रं प्रायणीयायाम्, मन्द्रतरमातिथ्यायाम्, उपांशूपसत्सु (द्र०—९।१।३ सूत्रभाष्य)। उन में उपांशु कैसे किया जा सकता है? (समाधान) वह (='यावत्या वाचा' आदि) धर्म प्रधानों में होता होगा। दीक्षणीयादि में प्रधान शब्द के उपबन्ध से। उपांशुत्व प्रधानवर्जित अङ्गों में निविष्ट होगा, सामान्य उपदेश से।

विवरण—प्रधानशब्दोपबन्धात्—दीक्षणीयादि इष्टियां हैं। इष्टियों में प्रधान और अङ्ग दो भाग होते हैं। दीक्षणीयादि शब्द प्रधान भाग के वाचक हैं। प्रवर्ग्य कर्म भी अग्नीषोमीय से प्राक् किया जाता है। इस में उच्चैः प्रवर्ग्येण (मै० सं० ३।६।५) विहित उच्चैस्त्व प्रधानकर्म में और अङ्गों में उपांशुत्व प्राप्त होता है, ऐसी शङ्का हो सकती है, परन्तु यह ठीक नहीं। दीक्षणीयायाम्, प्रायणीयायाम्, आतिथ्यायाम्, उपसत्सु में सर्वत्र सप्तमी विभक्ति से

प्रयोजनम्—कुण्डपायिनामयने **मासमग्निहोत्रं जुह्वति**[1] इत्येवमादीनि प्राग् अग्नीषोमीयात् । एषूपांशुत्वसम्बन्धो भवति, यथा पूर्वः पक्षः । यथा तर्हि सिद्धान्तः, न सम्बन्धः ॥२५॥

❀❀❀

निर्देश है। उच्चैः प्रवर्ग्येण में तृतीया विभक्ति से निर्देश है। अतः उससे विहित उच्चैस्त्व प्रवर्ग्य के अङ्गों में भी होता है। द्र०—भाट्टदीपिका अ० ३, पा० ८, अधि० १६ (पृष्ठ २६८ कलकत्ता संस्करण)।

व्याख्या—[इस विचार का] प्रयोजन है—कुण्डपायिनामयन में **मासमग्निहोत्रं जुह्वति** (=महिना भर अग्निहोत्र करता है) इत्यादि अग्नीषोमीय से प्राक् विहित हैं, उनमें भी उपांशुत्व का सम्बन्ध होता है, जैसा कि पूर्वपक्ष है, और जैसा सिद्धान्त है, उपांशुत्व का सम्बन्ध नहीं होता।

विवरण—भाष्यकार ने 'प्राचीनमग्नीषोमीयात्' में पूर्व पक्ष में देशप्रयुक्तत्व होने पर उपांशुत्व का सम्बन्ध दर्शाया है, यह ठीक नहीं है। उन अग्निहोत्रादि का नाम्ना धर्मों का अतिदेश (द्र०—७।३। अधि० १, सूत्र १-४) से अन्यस्वर (अग्निहोत्रादि का अपना स्वर) प्राप्त होता है और चोदक से उपांशुत्व। दोनों में चोदक से नामधेय बलवान् होता है (द्र०—टुप् टीका, तथा भाट्टदीपिका)। आगे टुप्टीका में कहा है—इस कारण अन्य प्रयोजन कहना चाहिये। नामयुक्त से रहित **'पुरस्तादुपसदां सौम्येन प्रचरन्ति अन्तरा त्वाष्ट्रेण उपरिष्टाद् वैष्णवेन'**[2] (उपसद् इष्टियों से पूर्व सौम्य=सोमदेवताक चरु से याग करते हैं। पूर्वाह्ण और अपराह्ण की उपसदों के मध्य त्वष्टादेवताक अष्टाकपाल पुरोडाश से याग करते हैं। अपराह्ण की उपसद् के अनन्तर विष्णुदेवताक त्रिकपाल पुरोडाश से याग करते हैं[3])।

इस पर खण्डदेव ने भाट्टदीपिका में लिखा है—**यदपि वार्तिककारेण पुरस्तादुपसदां सौम्येन चरन्तीत्यादौ उपांशुत्वेनोह इत्युक्तम्। तदपि सौम्यमात्रपुरस्कारेण कल्पितस्यातिदेशस्य सामान्यविहितोपांशुत्वातिदेशापेक्षया प्राबल्यादुपेक्षितम्।** अर्थात् जो वार्तिककार ने टुप्टीका में पुरस्तादुपसदां इत्यादि में उपांशुत्व का अतिदेश कहा है, वह भी सौम्यमात्र पुरस्कार (=निर्देश) से कल्पित अतिदेश के सामान्य विहित उपांशुत्व अतिदेश की अपेक्षा प्रबल होने से उसकी हमने उपेक्षा की है। अर्थात् वार्तिककार का कथन युक्त नहीं है। मी० ४।४। अधि० २, सूत्र ५।६ में सौम्यादि यागों को उपसदों का अनङ्गत्व सिद्ध किया है। अर्थात् सौम्यादि यागों के विधान में कालमात्र का निर्देश किया है। अतः सौम्यादि यागों का जो स्वर है, वही यहां जानना चाहिये ॥२५॥

❀❀❀

---

१. ताण्डय ब्रा० २५।४।१॥ कात्या० श्रौत २४।४।२४॥ आप० श्रौत २३।१०।६॥ मी० २।३।२४॥ भाष्ये 'जुहोति' पाठः।

२. 'पुरस्तादुपसदाम्' इत्यादि वाक्य तै० ब्राह्मण १।८।१ में स्वल्प भेद से पठित है।

३. उक्त वाक्यों के भाषार्थ के लिये मी० ४।४।५ देखें। भाग ४, पृष्ठ १३८१।

(अग्नौ प्रोक्षणादेः सकृदनुष्ठानाधिकरणम् ॥७॥)

अस्त्यग्निः—य एवं विद्वानग्निं चिनुते[1] इति। तत्रैवं समाम्नायते—हिरण्यशकलसहस्रेणाग्निं प्रोक्षति[2], दध्ना मधुमिश्रेणाग्निं प्रोक्षति[3], वेतसशाखयाऽवकाभिश्चाग्निं विकर्षति[4], मण्डूकेनाग्निं विकर्षति[5]। तत्रायमर्थः सांशयिकः—प्रतीष्टकं किं विकर्षणं प्रोक्षणं च कर्तव्यम् अथ सकृदेव कर्तव्यमिति।

तत्रैवं तावद्विचार्यते—किमिष्टकासमुदायेऽग्निशब्द उत तद्व्यतिरिक्ते द्रव्यान्तर इति। यदि समुदाये, ततस्तल्लक्षितानामिष्टकानामगम्यमाने विशेषे सर्वासां प्रोक्षणं विकर्षणं च। यदा च द्रव्यान्तरे, ततः सकृदेवेति। किं प्राप्तम्?

व्याख्या—अग्नि [का विधान] है—य एवं विद्वान् अग्निं चिनुते (=जो विद्वान् इस प्रकार अग्नि का चयन करता है)। उस प्रकरण में ऐसा पढ़ते हैं—हिरण्यशकलसहस्रेण अग्निं प्रोक्षति (=हिरण्य के सहस्र टुकड़ों से अग्नि का प्रोक्षण करता है)। दध्ना मधुमिश्रेणाग्निं प्रोक्षति (=मधुमिश्रित दहि से अग्नि का प्रोक्षण करता है)। वेतसशाखयाऽवकाभिश्चाग्निं विकर्षति(=बेंत की शाखा और शैवाल=काई से अग्नि को खींचता है)। मण्डूकेनाग्निं विकर्षति(=मण्डूक से अग्नि को खींचता है)। इस में यह अर्थ सांशयिक है—क्या प्रति इष्टका विकर्षण और प्रोक्षण करना चाहिए अथवा एक बार ही करना चाहिये।

विवरण—अग्निं चिनुते—चयन इष्टकाओं का होता है। 'अग्निम्' में द्वितीया है अतः यहां अग्नि शब्द से इष्टका अभिप्रेत हैं। ऐसा मान कर अगला विचार किया गया है। वेतसशाखयावकाभिश्च—बेंत की शाखा पर शैवाल को लपेट कर अग्नि का विकर्षण अभिप्रेत है। इसी प्रकार मण्डूकेनाग्निं विकर्षति में मण्डूक को किसी काष्ठ की छड़ी के कोने में बांध कर उस से अग्नि का विकर्षण जानना चाहिये। प्रतीष्टकम्—चयन अनेक ईंटों का किया गया है। अग्नि शब्द से यहां ईंटें अभिप्रेत हैं। अतः अग्नि में एकवचन चयन की गई ईंटों के समुदाय की दृष्टि से है। यह मानकर प्रति ईंट विकर्षण और प्रोक्षण करना चाहिये या एक बार, यह पक्ष उपपन्न होता है।

व्याख्या—इस विषय में पूर्व यह विचार किया जाता है—क्या इष्टका-समुदाय में अग्नि शब्द वर्तमान है अथवा इष्टका से भिन्न द्रव्यान्तर स्थण्डिल में। यदि [इष्टका] समुदाय में अग्नि शब्द है तो उस (=अग्नि) से लक्षित इष्टकाओं में विशेष का ज्ञान न होने पर सभी इष्टकाओं का प्रोक्षण और विकर्षण करना चाहिये। और जब द्रव्यान्तर (=स्थण्डिल) में [अग्नि शब्द है] तो एक बार ही [प्रोक्षण विकर्षण करना चाहिये]। क्या प्राप्त होता है—

---

१. द्र०—तै० सं० ५।५।२।१॥
२. द्र०—तै० सं० ५।४।२।२ ३—हिरण्यशल्कैः प्रोक्षति·····सहस्रवता प्रोक्षति।
३. द्र०—तै० सं० ५।४।५।२—यद् दध्ना मधुमिश्रेणावोक्षति।
४. द्र०—तै० सं० ५।४।४।३—वेतसशाखया चावकाभिश्च विकीर्षति।
५. द्र०—तै० सं० ५।४।४।३—मण्डूकेन विकर्षति।

अग्निधर्मः प्रतीष्टकं संघातात् पौर्णमासीवत् ॥२६॥ (पू०)

प्रतीष्टकमिति। कुतः? समुदाये ह्यग्निशब्दो वर्तते। कथमवगम्यते? द्रव्यान्तरस्याभावात्। द्रव्यान्तरमेवान्यन्नास्ति, कोऽग्निशब्देनाभिधीयेत, कस्मिन्नग्निर्निधीयेतेति? कथं पुनर्नास्तीति गम्यते? द्रव्यान्तरवैलक्षण्यात्।

तत्र हि द्रव्यान्तरमस्तीति गम्यते, यत्रैकस्मिन्नवयवे गृहीत्वा कृष्यमाणे कृत्स्नः कृष्यते। कोऽभिप्रायः? यद्येकोऽवयवो हस्तेन संयुक्तः कृष्यते, न द्रव्यान्तरं, कः प्रसङ्गो यत्तत्र द्वितीयोऽप्यवयवः कृष्येतेति। अथ द्रव्यान्तरमपि तत्र कृष्यते, तत्र द्रव्यान्तरस्य समवायिनामवयवानामपि निर्भागात् कर्षणमुपपन्नम्। न च संयुक्तसंयोगस्य द्रव्यान्तरादृते धर्म एषोऽवकल्पते। न ह्यबद्धे काष्ठमूलके, काष्ठ एकस्मिन्नाकृष्यमाणे काष्ठान्तराणि कृष्यन्ते। यत्र हि परस्परव्यतिषङ्गजनिता एका बुद्धिर्भवति, नावयवबुद्धिर्दृश्यते, नापि केनचिदनुमानेनानुमीयते, तत्र द्रव्यान्तरं जातमित्युच्यते।

अग्निधर्मः प्रतीष्टकं संघातात् पौर्णमासीवत् ॥२६॥

सूत्रार्थः—(अग्निधर्मः) अग्नि को कहा गया धर्म प्रोक्षण और विकर्षण (प्रतीष्टकम्) प्रत्येक ईंट का करना चाहिये। (संघातात्) चयन ईंटों का सघात होने से (पौर्णमासीवत्) जैसे य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते वाक्य में पौर्णमासी शब्द आग्नेय, अग्नीषोमीय और उपांशुयाग के समुदाय को कहता है तद्वत् अग्निशब्द ईंटों के समुदाय का वाचक है।

व्याख्या—प्रत्येक ईंट का [प्रोक्षण और विकर्षण] करना चाहिये। अग्नि शब्द ईंटों के समुदाय में वर्तमान है। कैसे जाना जाता है? [ईंटों के समुदाय से भिन्न] द्रव्यान्तर का अभाव होने से। [ईंटों के व्यतिरिक्त] द्रव्यान्तर ही नहीं है फिर कौन अग्नि शब्द से कहा जायेगा और किस पर अग्नि रखा जायेगा। द्रव्यान्तर नहीं है, यह कैसे जाना जाता है? अन्य द्रव्यों से विलक्षण (=भिन्न) होने से।

द्रव्यान्तर है यह वहां जाना जाता है, जहां एक अवयव को पकड़ कर खींचने पर पूरा द्रव्य खिचता है। इसका क्या अभिप्राय है? यदि एक अवयव हाथ से संयुक्त खिचता है, द्रव्यान्तर नहीं खिचता। वहां क्या प्रसंग है कि वहां दूसरा अवयव भी खिच जाये। और द्रव्यान्तर भी वहां खिचता है तो वहां द्रव्यान्तर के समवायी अवयवों का भी भागरहित होने से [एक अवयव को खींचने पर समग्र का] खिचना उपपन्न होता है। द्रव्यान्तर के विना जिन में संयुक्त संयोग है उन का यह धर्म (=एक अवयव के खींचने से दूसरे अवयव का खिचना) उपपन्न नहीं होता। विना बन्धे हुए काष्ठ पूली में एक काष्ठ के खींचे जाने पर काष्ठान्तर नहीं खिचते। जहाँ पर परस्पर व्यतिषङ्ग (=मिलने) से उत्पन्न एक बुद्धि होती है, अवयव बुद्धि उपपन्न नहीं होती और किसी अनुमान से अवयवत्व नहीं जाना जाता, वहां द्रव्यान्तर उत्पन्न हुआ ऐसा कहा जाता है।

विवरण—**समवायिनाम् अवयवानाम्**—समवायी सम्बन्ध से मिले हुए अवयवों के। समवायी सम्बन्ध नित्य होता है। अत: किसी एक द्रव्य के अवयव आपस में ऐसे मिले हुए होते हैं कि उन का विभाग नहीं जाना जाता। **संयुक्तसंयोगस्य**—'संयुक्त: संयोगो येषाम्' अर्थात् जिनका संयोग मिलनेमात्र का है, जैसे नीचे ऊपर या आगे पीछे मिला कर रखे गये पदार्थ। वन नाम केवल वृक्षों के समुदाय का है। वृक्ष-समुदाय के अतिरिक्त वन कोई द्रव्यान्तर नहीं है, यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। वन का पर्याय एक है अरण्य। अरण्य शब्द का स्त्रीलिङ्ग शब्द है—अरण्यानी। पाणिनि ने **इन्द्रवरुण** (४।१।४९) आदि सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय और आनुक् आगम का विधान किया है। इससे हिम और अरण्य शब्दों से भी स्त्रीलिङ्ग में ङीष् और आनुक् होता है। परन्तु इनके अचेतन होने से पुंयोग सम्भव नहीं, अत: वार्त्तिककार कात्यायन ने लिखा है—**हिमारण्ययोर्महत्त्वे** (अष्टा० ४।१।४६)। अर्थात् हिम और अरण्य से महत्त्व अर्थ में ङीष् और आनुक् होता है—**महद्धिमं हिमानी, महदरण्यमरण्यानी।** यास्क ने निरुक्त (९।३०) में अरण्यानी शब्द पर लिखा है—**अरण्यस्य पत्नी**—अर्थात् अरण्य की भार्या। निरुक्तव्याख्याता प्राय: अरण्य के अधिष्ठातृदेव की पत्नी तात्पर्य प्रकट करते हैं। इसी प्रकार साहित्यग्रन्थों में वनदेवी का बहुधा उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वान् अरण्यानी शब्द के यास्क और कात्यायन के अर्थों में विरोध मानते हैं। परन्तु हमारा विचार है कि दोनों में कोई विरोध नहीं। अचेतन की पत्नी चेतनवत् तो हो नहीं सकती, अत: यहां पत्नी शब्द का अर्थ है—**पालयित्री**। इस अर्थ को ध्यान में रखते ही विरोध कपूरवत् उड़ जाता है। वार्त्तिककार ने जो महत्त्व अर्थ लिखा है, उस का तात्पर्य अरण्य-भूभाग के आधिक्य से नहीं है, अपितु 'गहनता' से है। प्राय: बड़े अरण्यों के तीन भाग होते हैं। केन्द्रीय भाग, दूसरा मध्य भाग, तीसरा बाह्य भाग। बाह्य भाग में ग्रामीण मनुष्य और पशुओं का आवागमन लकड़ी लेने वा पशु चराने के लिये होता रहता है। द्वितीय भाग में मनुष्य और ग्रामीण पशुओं का आवागमन बहुत कम होता है। इस भाग में आरण्य पशु प्राय: विचरते हैं। यह भाग तृतीय भाग से अधिक गहन होता है। केन्द्रीय भाग में मनुष्यों वा ग्रामीण पशुओं का आवागमन नहीं होता। वहां आरण्य पशुओं का एकछत्र राज्य होने से वह अत्यन्त गहन होता है। अरण्य के केन्द्रीय गहन भाग पर ही दोनों बाह्य भागों की स्थिति निर्भर होती है। अत: अरण्य का जो केन्द्रीय गहन भाग है, वही अरण्य की पत्नी=पालयित्री है। इस प्रकार अरण्यानी में महत्त्व और पत्नी दोनों में कोई आर्थिक अन्तर नहीं है। इसी प्रकार जिस प्रदेश में हिम बारहों महिने जमी रहती है, कभी पिघलती नहीं, वह हिमप्रदेश हिमानी कहाता है। यहां हिम का महत्त्व उसके घनत्व से है और वही बर्फीले पार्वत्य प्रदेशों का केन्द्रबिन्दु शीत ऋतु में आसपास के प्रदेशों में हिमपात में सहायक होने से पत्नी भी है।

वैदिक ज्ञान (वास्तविक ज्ञान) के अभाव में प्राय: भारतीयों में पण्डित से लेकर गंवारों तक में अचेतन वस्तुओं में भी काल्पनिक स्त्रीपुंभाव की कल्पना करने की प्रवृत्ति देखी जाती है। यहां मैं एक वार मेरे साथ घटी घटना का उल्लेख करना आवश्यक समझता हूं।

जब मैं विरजानन्द आश्रम अमृतसर में अध्ययन करता था, तब मुझे बाल्यावस्था में

इह तु ययैवेष्टका गृहीत्वा कृष्यते, सैवाऽऽगच्छति, नेष्टकान्तराणि। संधिश्च लक्ष्यते। तेन नावयवसंस्यूतिरस्तीति गम्यते। तस्मान्नास्ति द्रव्यान्तरम्। तत्र, **इष्टकाभिरग्निं चिनुते**[1] इति चयनमात्रमिष्टकाभिः कर्तव्यम्। न चयनमात्रेण कृतेन किंचिद् दृष्टमस्ति। तस्मादस्मादग्निनिधानार्थानामिष्टकानां चयनसमुदायोपलक्षितानामगम्यमाने विशेषे सर्वासामेव प्रोक्षणं विकर्षणं च कर्तव्यम्। पौर्णमासीवत्। यथा—**य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते**[2], **य एवं विद्वानमावास्यां यजते**[3] इति, आग्नेयादय एव क्रियन्ते, नार्थान्तरं किंचित्। एवमिहापीति ॥२६॥

अग्नेर्वा स्याद् द्रव्यैकत्वादितरासां तदर्थत्वात् ॥२७॥ (उ०)

एक बार अपने ग्राम 'विरकच्यावास' (अजमेर) आने का अवसर मिला। वहां एक दिन एक ग्रामीण ने मुझ से पूछा वेद कितने हैं? मैंने उत्तर दिया—वेद चार हैं। वह ग्रामीण बोला—नहीं, क्या चार वेद क्वांरे थे? उन की स्त्रियां नहीं थी? चार वेद और चार वेदानी आठ हुए। फिर उनके चार लड़के (तत्सम्बन्धी नाम याद नहीं) हुए, उनकी भी चार स्त्रियां थीं। इस प्रकार वेद १६ सोलह हैं। मैंने पूछा क्या वेद-वेदानी के पुत्रों की स्त्रियां बांझ थीं या पुत्र नपुंसक थे, जो उन की सन्तानें नहीं हुईं? इस पर वह महाशय चुप हो गये। उन्होंने यहीं तक कल्पना कर रखी थी। तात्पर्य यह है कि अचेतन पदार्थों को चेतन मानकर उस प्रकार की कल्पना करना प्रायः भारतीय समाज में इस प्रकार प्रचलित हो गया है कि उस ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। कतिपय दार्शनिकों ने अधिष्ठात्री देवता की कल्पना करके इसे और सम्पुष्ट कर दिया है।

व्याख्या—यहां तो जिस ही ईंट को पकड़ कर खींचते हैं, वही आती है, अन्य ईंट खिचकर नहीं आती। और [इष्टकाओं के चयन में] सन्धि भी विदित होती है। अवयवों की संस्यूति (=सम्यक् बन्धन) नहीं है, ऐसा जाना जाता है। इस कारण [इष्टकाओं के चयन से] भिन्न द्रव्यान्तर नहीं है। वहां इष्टकाभिरग्निं चिनुते **(=ईंटों से अग्नि का चयन करता है) से चयन मात्र इष्टकाओं से करना चाहिये। चयनमात्र करने से कुछ दृष्ट प्रयोजन नहीं है। इससे इस वचन से अग्नि रखने के लिये ईंटों के चयन समुदाय से उपलक्षित कोई विशेष प्रतीत न होने पर सभी ईंटों का प्रोक्षण और विकर्षण करना चाहिये। पौर्णमासी के समान। जैसे—**य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवं विद्वान् अमावास्यां यजते **में आग्नेयादि याग ही किये जाते हैं [पौर्णमासी अथवा अमावास्या] कोई अर्थान्तर नहीं है। इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये ॥२६॥**

अग्नेर्वा स्याद् द्रव्यैकत्वाद् इतरासां तदर्थत्वात् ॥२७॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वोक्त पक्ष 'प्रति इष्टका प्रोक्षण वा विकर्षण करना

---

१. द्र०—तै० सं० ५।६।६।३—यदिष्टकाभिरग्निं चिनोति।

२. तै० सं० १।६।९।१॥ ३. तै० सं० १।६।९।१॥

वाशब्दात् पक्षो विपरिवर्तते । नैतदस्ति प्रतीष्टक कर्तव्यमिति । कथं तर्हि ? सकृदेवेति । तत एतद्वर्ण्यते, द्रव्यान्तरमिष्टकाभिः क्रियते । तत्राग्निर्निधातव्यः । तत्र चाग्निशब्दो वर्तत इति । कथम् ? परार्थेनेष्टकानां निर्देशात् । **इष्टकाभिरग्निं चिनुते**, इति तृतीयया विभक्त्या पारार्थ्यमिष्टकानामवगम्यते । यदि चयनमात्रमत्रो-च्यते, तदिष्टकासंस्कारार्थमवगम्यते । तत्र द्वितीयया विभक्त्या संयोगः स्यात् । तृतीयया संयोगो बाध्येत । तस्मादिष्टकाभिरन्यत् क्रियते । तत्राग्निर्निधातव्यः । तदर्था इष्टकाश्चयनं चेति ।

आह । नन्वेतदुक्तं, तस्याभावादयमन्यः पक्षः परिगृह्यत इति । अत्रोच्यते । नाभावः । प्रत्यक्षा तत्रैकबुद्धिः । सा बह्वीष्विष्टकासु नावकल्पते । न चावयवसंन्धि-र्दृश्यते पुरीषच्छन्नानाम् । तस्मात् पक्वामसंयोगेऽप्येकबुद्धेरुत्पादादेकमिष्टकाभ्यो व्यतिरिक्तं द्रव्यमग्निनिधानार्थमस्ति । यदि वा, इष्टकासंस्यूतिरप्येकबुद्धेरेवाव-गम्यते । यत्तु, एकाकर्षणे न कृत्स्नाकर्षणमिति । सत्यं, संस्यूतौ तत्र विच्छेदः क्रियते । द्विविधानि हि द्रव्याणि, स्थावराणि जंगमानि च । तत्र स्थावरेषु विच्छेदो भवति ।

चाहिये' का निवर्तन करता है। (अग्नेः) अग्नि के (द्रव्यैकत्वात्) एक द्रव्य होने से एक वार प्रोक्षण और विकर्षण (स्यात्) होवे । (इतरासाम्) अन्य इष्टकाओं का (तदर्थत्वात्) अग्नि के लिये होने से प्रोक्षण और विकषर्ण न होवे ।

व्याख्या—'वा' शब्द से पक्ष बदलता है। यह नहीं है कि प्रति इष्टका [प्रोक्षण और विकर्षण] करना चाहिये । तो कैसे करना चाहिये ? एक बार ही । उससे यह कहा जाता है कि इष्टकाओं से द्रव्यान्तर [स्थण्डिल] किया जाता है। वहां अग्नि रखने योग्य है। उस [स्थण्डिल] में अग्नि शब्द है। कैसे जाना जाता है ? इष्टकाओं के परार्थरूप से निर्देश होने से । इष्टकाभिरग्निं चिनुते में तृतीया विभक्ति से इष्टकाओं का पारार्थ्य (=अन्य के लिये होना) जाना जाता है । यदि यहां चयनमात्र कहा जागे तो वह इष्टकाओं के संस्कारार्थ जाना जाये । वहां द्वितीया विभक्ति से संयोग होवे । तृतीया से संयोग बाधित होवे । इसलिये इष्टकाओं से अन्य बनाया जाता है । उस पर अग्नि रखनी चाहिये । उस [अन्यत्=स्थण्डिल] के लिये इष्टकाएं हैं और उन का चयन ।

(आक्षेप) यह कह चुके कि द्रव्यान्तर के अभाव से यह अन्य पक्ष ग्रहण किया जाता है। (समाधान) इस विषय में कहते हैं—द्रव्यान्तर का अभाव नहीं है। वहां (=चयन में) प्रत्यक्ष एक बुद्धि है। वह (=एकबुद्धि) बहुत ईंटों में उत्पन्न नहीं हो सकती। पुरीष (=मिट्टी) से आच्छादित अवयवों (=ईंटों) की सन्धि भी नहीं दिखाई पड़ती। इससे पके और कच्चे के संयोग होने पर भी एकबुद्धि के उत्पन्न होने से इष्टकाओं से व्यतिरिक्त द्रव्यान्तर अग्नि की स्थापना के लिये है। यदि ईंटों की संस्यूति (=बन्धन) भी एकबुद्धि से ही जानी जाती है। जो यह कहा—'एकके खींचने पर सम्पूर्ण ईंटें नहीं खिचतीं।' यह सत्य है। संस्यूति में वहां विच्छेद होता है। द्रव्य दो प्रकार के हैं—स्थावर और जंगम। उनमें स्थावर द्रव्यों में

यथा वनस्पतौ पर्णं गृहीत्वा कृष्यमाणे न कृत्स्नः कृष्यते, स्थावरत्वात्। एवमिदमपि। स्थावरं हीदमग्निद्रव्यम्। तस्मात् सकृदेव प्रोक्षणं विकर्षणं च कर्तव्यमिति ॥२७॥

अथ यदुक्तम्—य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवं विद्वानमावास्यां यजत इति। नात्राऽऽग्नेयादिभ्यः किंचिदर्थान्तरम्। तथेहापीति। उच्यते—

चोदनासमुदायात्तु पौर्णमास्यां तथा स्यात् ॥२८॥

युक्तं पौर्णमास्यां तथाभावः। चोदनासमुदायो हि तत्र कर्म। न च कर्मसाध्यं विद्यते। इह तु द्रव्यान्तरमस्तीत्युक्तम्। तस्माद् वैषम्यं पौर्णमास्येति ॥२८॥

❀★❀

विच्छेद होता है। जैसे वनस्पति में पत्ते को पकड़ कर खींचने पर सारा वृक्ष नहीं खिचता, स्थावर होने से। इसी प्रकार यह भी है। यह अग्निद्रव्य (=ईंटों का स्थण्डिल) स्थावर है। इसलिये प्रोक्षण और विकर्षण एक बार ही करना चाहिये।

विवरण—पक्वामसंयोगेऽपि—इस पाठ पर पुराने संस्करण में टिप्पणी है—**अपिना 'पक्वामसंयोगे न द्रव्यान्तरम्' इति गौतमीयवचनं निर्मूलत्वादप्रमाणमिति सूचितं ज्ञेयम्।** अर्थात् यहां 'अपि' शब्द से गौतम-वचन 'पके और कच्चे का संयोग होने पर द्रव्यान्तर नहीं होता' के निर्मूल होने से प्रमाण नहीं है, यह सूचित किया है ॥२७॥

व्याख्या—जो यह कहा है—य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवं विद्वान् अमावास्यां यजते यहां आग्नेय आदि यागों के अतिरिक्त कोई अर्थान्तर नहीं है। उसी प्रकार यहां भी होवे। इस विषय में कहते हैं—

चोदनासमुदायात् तु पौर्णमास्यां तथा स्यात् ॥२८॥

सूत्रार्थः—(पौर्णमास्याम्) *'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते'* में (तु) तो (चोदनासमुदायात्) आग्नेय अग्नीषोमीय पुरोडाश यागों और उपांशुयाज की चोदनाओं का समूह होने से (तथा) उस प्रकार (स्यात्) होवे। अर्थात् 'पौर्णमासीं यजते' में यागसमुदायों का ग्रहण इसलिये होता है कि वहां तीन यागविषयक चोदनाएं=विधियां हैं। यहां तो अग्नि प्रोक्षति आदि में अग्निविषयक ही विधियां हैं।

व्याख्या—पौर्णमासी में तथाभाव (=समुदाय का निर्देश) युक्त है। वहां पौर्णमासी कर्मचोदनाओं का समुदाय है। और कर्मों से साध्य अन्य कुछ नहीं है। यहां तो द्रव्यान्तर (=स्थण्डिल) है, यह कह चुके। इसलिये पौर्णमासी से यहां वैषम्य है ॥२८॥

❀★❀

[द्वादशाहे, उत्तमाहवर्जं पत्नीसंयाजान्तत्वाधिकरणम् ॥८॥]

अस्त्यहर्गण:— द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेद्[1] इति । तत्र श्रूयते—**पत्नीसंयाजान्तान्यहानि सन्तिष्ठते**[2] इति । तत्रायमर्थः सांशयिकः—किं सर्वेषामह्नां पत्नीसंयाजान्तत्वमुत प्रागुत्तमादिति ? दशमं वर्जयित्वा सन्देहः क्रियते । तस्य हि मानसान्तता वचनेनोक्ता । किं तावत् प्राप्तम् ?

पत्नीसंयाजान्तत्वं सर्वेषामविशेषात् ॥२९॥ (पू०)

व्याख्या—**अहर्गण है—द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्** (=द्वादशाह से प्रजा की कामनावाले को यज्ञ कराये) । वहां सुना जाता है—**पत्नीसंयाजान्तान्यहानि संतिष्ठन्ते** (=पत्नीसंयाज अन्त में है जिनके ऐसे अह: ठहर जाते हैं अर्थात् पत्नीसंयाज के पश्चात् उस दिन का कार्य पूरा हो जाता है) । उसमें यह अर्थ सांशयिक है—क्या सब दिनों के कार्य पत्नीसंयाजान्त होते हैं अथवा उत्तम (=अन्त्य अह) से पूर्व के ? दसवें दिन को छोड़ कर यह सन्देह किया जाता है, क्योंकि उसकी मानसान्तता (=प्रजापति ग्रहान्तता) वचन से कही है । क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—अस्त्यहर्गण:—एकाह से लेकर द्वादशाह पर्यन्त । इन्हें अहीन कहा जाता है । **अह्नः खः क्रतौ** (अष्टा० ४।२।४२ वार्तिक) से 'अहन्' शब्द से समूह अर्थ में क्रतु अभिधेय होने पर ख (=ईन) प्रत्यय होता है । **द्वादशाहेन**—द्वादशाहसंज्ञक याग सत्र-अहीन भेद से दो प्रकार का है—**द्वादशाह: सत्रमहीनश्च** (कात्या० श्रौत १२।१।४) । सत्र में **ये यजमानास्ते ऋत्विजः** नियम से १७ परिवार मिलकर सत्र में प्रवृत्त होते हैं । सब का द्रव्य समान होता है । ये सभी यजमान होते हैं, परन्तु कर्म करने के लिये एक यजमान का कर्म करता है और शेष १६ ऋत्विजों के । **अहानि संतिष्ठन्ते**—सं पूर्वक 'स्था' धातु का अर्थ होता है समाप्ति । इसीलिये सोमयाग की जिस कर्म पर समाप्ति होती है, उसी से उसका नाम होता है । **मानसान्तता**—दशम अह प्राजापत्य मनोग्रह की आहुति पर समाप्त हो जाता है । यहां आपस्तम्ब श्रौत २१।१०।१-१० द्रष्टव्य है (**'सन्तिष्ठते दशममहः'** आप० श्रौत २१।१२।११) ।

पत्नीसंयाजान्तत्वं सर्वेषामविशेषात् ॥२९॥

सूत्रार्थ:—द्वादशाह में उक्त (**पत्नीसंयाजान्तत्वम्**) पत्नीसंयाज के अन्त तक कहा कर्म (**अविशेषात्**) विशेष के श्रवण न होने से (**सर्वेषाम्**) सभी अहों के सम्बन्ध में जानना चाहिये । अर्थात् द्वादशाह के किस दिन या किन दिनों का 'कर्म' पत्नीसंयाजपर्यन्त होता है, इस विशेष अर्थ के श्रवण न होने से सभी दिनों के कर्म पत्नीसंयाजपर्यन्त होते हैं, यह जानना

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—पत्नीसंयाजान्तमहः संतिष्ठते । आप० श्रौत २१।४।४॥ मीमांसोद्धरणकोशे तु 'तै० ब्रा० १।३।१।६॥ निर्देश उपलभ्यते, परं तत्र ब्राह्मणे नैतदवचनमुपलभ्यते ।

सर्वेषामह्नामिति। कुतः? अविशेषात्। अविशेषेणोच्यते—पत्नीसंयाजान्तान्यहानि सन्तिष्ठन्त इति। न च कश्चिद्विशेष आश्रीयते। तस्मात् सर्वेषामिति॥२९॥

लिङ्गाद्वा प्रागुत्तमात् ॥३०॥ (उ०)

वाशब्दः पक्षव्यावृत्तौ। प्रागुत्तमादह्नः पत्नीसंयाजान्तता स्यात्। कुतः? लिङ्गात्। लिङ्गं भवति—पत्नीसंयाजान्तान्यहानि सन्तिष्ठन्ते, न बर्हिरनुप्रहरति, असंस्थितो हि तर्हि यज्ञः[1] इति। यस्मिन्नहन्यसंस्थितो यज्ञस्तस्मिन् पत्नीसंयाजान्ततां दर्शयति। कथम्? हेत्वर्थेनासंस्था निर्दिश्यते। यस्मादिमान्यसंस्थितान्यहानि तस्मादेषु पत्नीसंयाजान्ततेति। संस्थितिश्चान्त्येऽहनि। अपि च, येष्वहःसु पत्नीसंयाजान्तता, तेष्वसंस्था दृश्यते कीर्त्यमाना। तस्मादसंस्थायाः पत्नीसंयाजान्ततायाश्च सामानाधिकरण्यम्। असंस्थां च प्रागुत्तमाद्दृष्ट्वा प्रागुत्तमादेव पत्नीसंयाजान्ततामध्यवस्यामः॥३०॥

चाहिये। दशम दिन का कर्म प्रजाप्रतिग्रह याग पर समाप्त होता है। इस विशेष श्रवण से दशम दिन को छोड़ कर अन्य ११ दिनों के सम्बन्ध में जानना चाहिये।

व्याख्या—सब दिनों का [कर्म पत्नीसंयाजान्त] होता है। किस हेतु से? अविशेष श्रवण से। सामान्यरूप से कहा है—पत्नीसंयाजान्तान्यहानि संतिष्ठन्ते। किसी विशेष का आश्रयण नहीं किया है। इससे सब दिनों का कर्म पत्नीसंयाजान्त जानना चाहिये॥२९॥

लिङ्गाद् वा प्रागुत्तमात्॥३०॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (लिङ्गात्) लिङ्ग से (उत्तमात्) अन्त्य १२ वें दिन से (प्राक्) पत्नीसंयाजान्त कर्म होते हैं। [लिङ्ग भाष्य-व्याख्या में देखें]।

व्याख्या—'वा' शब्द पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है। उत्तम अह से पूर्व पत्नीसंयाजान्तता होवे। किस हेतु से? लिङ्ग से। लिङ्ग होता है—पत्नीसंयाजान्तन्यहानि संतिष्ठन्ते, न बर्हिरनु प्रहरति, असंस्थितो हि तर्हि यज्ञः (=पत्नीसंयाजान्त दिन रुक जाते हैं, बर्हि का अनुप्रहार नहीं होता इससे यज्ञ असमाप्त होता है)। [यह वचन] जिस दिन में यज्ञ समाप्त नहीं हुआ है, उसमें पत्नीसंयाजान्तता को दर्शाता है। कैसे? हेतु के लिये असंस्था (=असमाप्ति) का निर्देश किया है। जिस कारण ये असमाप्त दिन हैं अर्थात् इन दिनों में कर्म पूर्ण नहीं हुआ है, इस कारण इन दिनों में पत्नीसंयाजान्तता होवे। अन्त्य (१२वें) दिन कर्म की पूर्णता है। और भी, जिन दिनों में पत्नीसंयाजान्तता होती है, उनमें [यज्ञ की] असंस्था (=असमाप्ति) कीर्त्यमान देखी जाती है। इससे असंस्था का और पत्नीसंयाजान्तता का सामानाधिकरण्य जाना जाता है। और असंस्था का उत्तम (१२ वें) दिन से पूर्व देखकर ही पत्नीसंयाजाजान्तता का भी उत्तम दिन से पूर्व निश्चय करते हैं।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। मीमांसोद्धरणकोशे तु 'तै० ब्रा० २।४।६।' इत्युद्धरणस्थलो निर्दिष्टः। स चिन्त्यः। तत्रैतद् वचनम् अग्निहोत्रविषयकं, न द्वादशाहविषयकम्।

अनुवादो वा दीक्षा यथा नक्तं संस्थापनस्य ॥३१॥ (पू०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदस्ति । प्रागुत्तमात् पत्नीसंयाजान्तता स्या-

---

विवरण—न बर्हिरनुप्रहरति—सर्वप्रकृति दर्शपौर्णमास में समिष्टयजुःसंज्ञक कर्म के पश्चात् सं बर्हिरङ्क्तां हविषा घृतेन (यजु० २।२२) इत्यादि मन्त्र से वेदि में आस्तृत बर्हि का अग्नि में प्रक्षेप किया जाता है (शत० १।९।२।२९-३१)। आप० श्रौत ३।१३।३ के अनुसार समिष्टयजुः के देवा गातुविदः मन्त्र के मध्यम स्वाहाकार उच्चारण के समय बर्हि का प्रक्षेप कहा है—मध्यमे स्वाहाकारे बर्हिरनुप्रहरति । यहां कालमात्र का निर्देश है, बर्हिप्रहरण समिष्ट-यजुः का अङ्ग नहीं है । इसी प्रकार इस शाखा के मन्त्र देवा गातुविदः (तै० सं० १।१।१३) में यज्ञं स्वाहा वाचि स्वाहा में पठित दोनों स्वाहा पदों से समिष्टयजुः की आहुति नहीं दी जाती है । मन्त्र के अन्त में स्वाहाकार से आहुति दी जाती है । (द्र०—आप० श्रौत ३।१३।१२ रुद्रदत्त, तथा रामाग्निचिद्वृत्ति; दर्शपूर्णमासप्रकाश, पृष्ठ ३६७, आनन्दाश्रम पुणे) । बर्हि के स्तरण से यज्ञ का आरम्भ होता है । बर्हिलवन मन्त्र में बर्हि को देवसदन (जिस पर देव बैठें) कहा है—बर्हिर्देवसदनं दामि (मै० सं० १।१।२) । आरम्भ में आस्तृत देवसदन बर्हि का यज्ञकार्य पूरा होने पर अग्नि में प्रक्षेप किया जाता है । यह बर्हि का प्रक्षेप प्रतिपत्ति कर्म (अन्यत्र कार्य में प्रयुक्त वस्तु का उचित स्थान में रखना) है । जहां भी यज्ञ के अन्त में बर्हि का प्रक्षेप नहीं किया जाता है, वहां यह समझा जाता है कि बर्हिस्तरण से प्रारब्ध यज्ञ अभी पूरा नहीं हुआ ॥३०॥

अनुवादो वा दीक्षा यथा नक्तं संस्थापनस्य ॥३१॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वनिर्दिष्टपक्ष 'उत्तमाह से प्राक् पत्नीसंयाजान्तता है' को निवर्तित करता है । (अनुवादः) 'असंस्थितो हि तर्हि यज्ञः' यह अनुवाद है । (यथा) जैसे (दीक्षा) दीक्षा वचन (नक्त संस्थापनस्य) रात्रि में संस्थापन का अनुवाद है ।

विशेष—सूत्र के पदों का जो अर्थ किया है, उससे तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है । अतः सूत्र का तात्पर्य आगे लिखा जाता है ।

'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष 'उत्तम अह से पूर्व पत्नीसंयाजान्त कर्म होवें' की निवृत्ति के लिये है । 'असंस्थितो हि तर्हि यज्ञः' यह वचन पत्नीसंयाजान्तता की स्तुति के लिये है । जैसे दीक्षा में 'वरुणपाशाभ्यां वा एषोऽभिधीयते' (=वरुणपाशों से यह बद्ध होता है जो दीक्षित है) वचन नक्तं संस्थाप्यः दीक्षा के नियम रात्रि में समापनीय है, की स्तुति के लिये है । क्योंकि दीक्षा के नियम श्रुतिविहित होने से श्रेयस्कर हैं, अतः दीक्षित के वरुणपाशों से बद्ध होने का कथन उपपन्न ही नहीं होता है । इस कारण वह नक्तं संस्थाप्यः की स्तुति के लिये है तद्वत् यहां भी जानना चाहिये ।

व्याख्या—'वा' शब्द [पूर्व उक्त] पक्ष को हटाता है । यह नहीं है—'उत्तम अह से पूर्व पत्नीसंयाजान्तता होवे' । तो क्या है ? विशेष कथन न होने से सब दिनों की पत्नीसया-

दिति। किं तर्हि ? सर्वेषामविशेषात्। यदुक्तम्—येषु पत्नीसंयाजान्तता, तेष्वसंस्था दृश्यते। तस्मादसंस्थायाः प्रागुत्तमादह्नां पत्नीसंयाजान्ततां नियच्छाम इति। नैतदेवम्, न हीदं विधिमूलं दर्शनम्, नान्यप्रमाणमूलम्। अतो मृगतृष्णारूपमेतद् दर्शनम्। यदप्यसंस्था हेतुरिति, तदपि न स्यात्। उक्तं हि—स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वाद्[1] इति। न च सामानाधिकरण्यमसंस्थापत्नीसंयाजान्ततयोः। पत्नीसंयाजान्तता सर्वेषामह्नां शब्देन गम्यते। असंस्था पुनर्न्यायेन प्रागुत्तमादह्नः। यदेतदसंस्थितो हि तर्हि यज्ञ इति। अर्थवाद एष पत्नीसंयाजान्ततास्तुत्यर्थः।

यथा हि। असंस्थितो यज्ञश्चिरेण संस्थास्यत इत्यालोच्यते। यस्माच्चिरेण संस्थास्यते तस्मादवलुप्यतां, पत्नीसंयाजान्तान्यहानि भवन्त्विति। संतिष्ठमानेष्वेवाहःसु, असंस्थावचनं पत्नीसंयाजान्ततापशंसार्थम्। संस्थावन्ति हि तान्यहानि। अवभृथादय एषां शेषाः पदार्थाः करिष्यन्ते। यथा, दीक्षोन्मोचनवचनं नक्तं संस्थापनस्यार्थवादः। एवमेतद् द्रष्टव्यम्। **वरुणपाशाभ्यां वा एषोऽभिधीयते यो दीक्षितः। अहोरात्रे वै वरुणपाशौ। यद्दिवा संस्थापयेदनुन्मुक्तो वरुणपाशाभ्यां स्यात्। नक्तं**

जान्तता होवे। जो यह कहा है—'जिन दिनों में पत्नीसंयाजान्तता है उनमें[यज्ञ की] असमाप्ति देखी जाती है। इससे असंस्था (=असमाप्ति) का उत्तम अह से पूर्व के दिनों की पत्नीसंयाजान्तता को नियन्त्रित करते हैं'। ऐसा नहीं है। न यह विधिमूलक दर्शन है, न अन्यप्रमाणमूलक। इससे मृगतृष्णा रूप यह दर्शन है। और जो असंस्था हेतु है, यह भी न होवे। कहा है— स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वात् **(=स्तुति होवे, शब्द पूर्व होने से)। और असंस्था तथा पत्नीसंयाजान्तता का सामानाधिकरण्य भी नहीं। शब्द से पत्नीसंयाजान्तता सब दिनों की जानी जाती है। उत्तम अह से पूर्व अहों की असंस्था न्याय से। और जो यह** 'असंस्थिता हि तर्हि यज्ञः', **यह पत्नीसंयाजान्तता की स्तुति से लिये अर्थवाद है।**

विवरण—शब्दपूर्वत्वात्—'शूर्पेण जुहोति' इस विधि के होने से तेन ह्यन्नं क्रियते स्तुति=अर्थवाद वचन है। असंस्था पुनर्न्यायेन—यदि उत्तम अह (१२वें दिन) में भी पत्नीसंयाजान्तता होवे तो यज्ञ कभी पूरा नहीं होगा। अतः यज्ञ की पूर्ति के लिये १२वें दिन पत्नीसंयाजान्त कर्म नहीं होते।

व्याख्या—जैसे असंस्थित यज्ञ चिरकाल से पूर्ण होगा यह विचारते हैं, जिससे चिरकाल से यज्ञ पूर्ण होगा इससे [पत्नीसंयाज के उत्तर भाग का] लोप होवे, पत्नीसंयाजान्त अह होवें। [यज्ञ के] पूर्ण होनेवाले अहों में असंस्था का वचन पत्नीसंयाजान्तता के प्रशंसार्थ है। वे सब (१२) दिन यज्ञ की पूर्तिवाले ही हैं, उनके अवभृथ आदि शेष पदार्थ करेंगे। जैसे दीक्षा छोड़ने का वचन रात्रि में छोड़ने का अर्थवाद है। उसी प्रकार यह (=असंस्थावचन) जानना चाहिये। वरुणपाशाभ्यां वा एषोऽभिधीयते यो दीक्षितः। अहोरात्रे **वै** वरुणपाशौ। यद् दिवा संस्थापयेदनुन्मुक्तो वरुणपाशाभ्यां स्यात्। नक्तं संस्थाप्यो वरुण-

१. मी० १।२।२७॥

संस्थाप्यो वरुणपाशाभ्यामेवोन्मुच्यते, आत्मनोऽहिंसायै[1] इति । अनुन्मुक्तः स वरुणपाशाभ्यां, न तावद्दीक्षया मुच्यते । अवभृथो हि दीक्षोन्मोचनार्थः । अथवोच्यते—वरुणपाशाभ्यामिव निर्मुच्यत इति बहवो नियमास्तदानीं विसृज्यन्ते, यानालोच्य एष वादो भवति । एवमिहापि चिरेण संस्थामालोच्यासंस्थितवचनं भवतीति ॥३१॥

स्याद्वाऽनारभ्यविधानादन्ते लिङ्गविरोधात् ॥३२॥

पाशाभ्यामेवोन्मुच्यते आत्मनोऽहिंसायै (=निश्चय ही वरुणपाशों से बांधा जाता है जो दीक्षित होता है । दिन और रात ही वरुण के दो पाश हैं । यदि दिन में [दीक्षानियम] समाप्त कर दे तो वरुणपाशों से अनुन्मुक्त=बद्ध होवे । रात में समाप्त करने योग्य वरुणपाशों से उन्मुक्त होता है अपनी अहिंसा के लिये) । अनुन्मुक्त है वह वरुण पाशों से=दीक्षा से मुक्त नहीं होता । अवभृथ कर्म ही दीक्षा की मुक्ति के लिये है । अथवा इस प्रकार कहते हैं—वरुणपाशों [से जैसे कोई युक्त होवे उस] के समान निर्मुक्त होता है [इसका अभिप्राय यह है कि] बहुत से नियम उस समय (=रात्रि में) छोड़ दिये जाते हैं । जिन को ध्यान में रखकर यह कथन होता है। इसी प्रकार यहां भी चिरकाल से यज्ञ की समाप्ति को ध्यान में रखकर असंस्थित वचन होता है । [जैसे भोजन खाने में अधिक देर लगानेवाले के लिये कहा जाता है 'इस का तो भोजन समाप्त ही नहीं होता'] ।

विवरण– सतिष्ठमानेष्वहःसु—वस्तुतः द्वादशाह के प्रतिदिन का कर्म पत्नीसंयाज पर पूर्ण हो जाता है, फिर भी उन में असंस्था (=असमाप्ति) वचन पत्नीसंयाजान्तता की प्रशंसार्थ है । वरुणपाशाभ्यां वा एषोऽभिधीयते—मै० सं० ३।७।८ में ऐसा ही पाठ है । परन्तु सुबोधिनीवृत्ति तथा कुतूहलवृत्ति में 'एष बध्यते' पाठ ही उपलब्ध होता है । चौखम्बा (काशी) मुद्रित भाष्य में 'एषो विधीयते' पाठ है । अध्ययनकाल में श्री गुरुवर्य ने उसके स्थान पर 'एषोऽभिबध्यते' संशोधन कराया था । सम्भव है 'एष बध्यते' पाठ शाखान्तर का हो । उसके प्रकाश में 'एषोऽभिधीयते' का अर्थ भी 'एष बध्यते' ही करना चाहिये । पाशों का प्रयोजन बांधना ही है । दीक्षा के श्रुतिविहित होने से यतः वह श्रेयस्कर है, अतः दीक्षित के वरुणपाशों में बंधने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता । अतः यह वचन रात्रि में नियमत्याग की स्तुति के लिये है ॥३१॥

स्याद् वाऽनारभ्यविधानादन्ते लिङ्गविरोधात् ॥३२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व सूत्रोक्त पक्ष 'सभी अहों में पत्नीसंयाजान्तता है' की निवृत्ति के लिये है । (अनारभ्यविधानात्) १२वें दिन के विषय में यह अनारभ्य विधि होने अर्थात् पत्नीसंयाजान्ततान्यहानि सन्तिष्ठन्ते के सामान्य विधान होने से (स्यात्) प्राक् उत्तमाह पत्नीसंयाजान्तता होवे । (अन्ते) अन्त में अर्थात् १२वें दिन में (लिङ्गविरोधात्) लिङ्ग के विरोध से पत्नीसंयाजान्तता न होवे ।

विशेष—लिङ्गविरोध भाष्यव्याख्या में देखें । कुतूहलवृत्ति में 'अन्त्ये' पाठ है ।

---

१. मै० सं० ३।७।८॥

वाशब्दात् पक्षो विपरिवर्तते। भवेद्वा; प्रागुत्तमात् पत्नीसंयाजान्तता। न ह्यारभ्योत्तममहः, एष विधीयते। कथं तर्हि? सामान्येन, **पत्नीसंयाजान्तान्यहानि भवन्ति** इति। तत्रान्ते लिङ्गविरोधो भवति। का पुनर्न्यायेन प्राप्तिरिति? **पत्नीसंयाजान्तान्यहानि संतिष्ठन्त** इति, नैतदुक्तं भवति, शिष्टमवलुप्यत इति। सन्तिष्ठन्ते नानुष्ठीयन्त इति। कर्तृव्यापार एषूपरमतीति। तेषु सह क्रियमाणेष्वहःसु, अवश्यं कस्मिंश्चित् पदार्थेऽवस्थायावश्यमपरस्याह्नः पदार्था अनुष्ठातव्याः। तत्रानियमे प्राप्ते पत्नीसंयाजान्ते सस्थाप्यमिति नियम्यते। तस्यावस्थानस्यैतत् प्रयोजनं, कथमहरन्तरस्य पदार्थानुष्ठानेन यौगपद्यमनुगृह्येतेति। एतद्धि दृष्टमवस्थानकार्यम्। यस्मिन्नेतद् दृष्टं, न शक्यं कल्पयितुं तत्रादृष्टम्। तत्र न पत्नीसंयाजान्तता। तच्चान्त्यस्य प्रयोजनं न विद्यते। तस्मात् प्रागन्त्यात् पत्नीसंयाजान्ततेति न्यायेन प्राप्ते लिङ्गदर्शनम्—**असंस्थितो हि तर्हि यज्ञ** इति ॥३२॥

व्याख्या—'वा' शब्द से पक्ष परिवर्तित होता है। अथवा प्राक् उत्तम अह से पत्नीसयाजान्तता होवे। उत्तम अह का आरम्भ (=निर्देश) न करके यह 'पत्नीसंयाजान्तान्यहानि सन्तिष्ठन्ते' विधान नहीं किया जाता है। तो कैसे किया जाता है? सामान्यरूप से 'पत्नीसंयाजान्त अह होते हैं' कहा है। वहाँ (=उत्तम अह में पत्नीसंयाजान्तता मानने पर) लिङ्ग का विरोध होता है। न्याय से क्या प्राप्ति होती है? पत्नीसंयाजान्तान्यहानि सन्तिष्ठन्ते से यह नहीं कहा जाता है कि अवशिष्ट कर्म लुप्त किये जाते हैं। 'सन्तिष्ठन्ते' का अर्थ न अनुष्ठीयन्ते (=अनुष्ठान नहीं किया जाता है) है। इनमें कर्त्ता का व्यापार उपरत (=समाप्त) होता है। उन साथ किये जानेवाले दिनों में अवश्य किसी पदार्थ पर वा अवस्था में [कार्य रोक कर] अवश्य दूसरे दिन का पदार्थ अनुष्ठान करना चाहिये। इस विषय में अनियम प्राप्त होने पर 'पत्नीसंयाज के अन्त में कर्म रोकना चाहिये' यह नियम किया जाता है। उस कर्म के रोकने का यह प्रयोजन है कि अगले दिन के पदार्थों के अनुष्ठान में यौगपद्य अनुगृहीत होवे। यह दृष्ट प्रयोजनवाला अवस्थान कार्य है। जिस में यह दृष्ट प्रयोजन है, उस में अदृष्ट की कल्पना नहीं की जा सकती। [जहां अदृष्ट की कल्पना होती है] वहां पत्नीसंयाजान्तता नहीं होती। अतः वह (=दृष्ट प्रयोजन) अन्तिम अह का नहीं है। इससे न्याय से प्राक् उत्तम अह पत्नीसंयाजान्तता के प्राप्त होने पर लिङ्गदर्शन होता है—असंस्थितो तर्हि यज्ञः ॥

विवरण—इस सूत्रभाष्य का तात्पर्य यह है कि **द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत** वचन के अनुसार द्वादश दिन साध्य यह एक कर्म है। इसमें प्रतिदिन सोमयाग किया जाता है। सोमयागों की प्रकृति अग्निष्टोम में हारियोजन ग्रह अन्तिम है। अतः सामान्य रूप से सोमयागों में हारियोजनान्तता होनी चाहिये। इसी में **पत्नीसंयाजान्तान्यहानि संतिष्ठन्ते** वचन से द्वादशाह में प्रतिदिन के कर्म की समाप्ति पत्नीसंयाज के अन्त में कही गई है। अतः इस विषय में सन्देह होता है कि क्या बारहों दिनों में पत्नीसंयाजान्त कर्म होवें वा १२वें दिन को छोड़कर शेष दिनों में। यहां यह भी ध्यान में रखें कि दशम दिन प्राजापत्यमानस-ग्रह पर समाप्त हो जाता

[सामिधेन्यां त्रिरभ्यासस्य प्रथमोत्तमस्थानधर्मत्वाधिकरणम् ।।६।।]

स्तो दर्शपूर्णमासौ । तत्र सामिधेनीः प्रकृत्योच्यते—**त्रिः प्रथमामन्वाह, त्रिरुत्तमामन्वाह**[1] इति । तत्रैषोऽर्थः सांशयिकः—किम् ऋग्धर्म एषः, यत्र तत्रस्था, **प्र वो वाजा**[2] त्रिरभ्यासितव्या, उत स्थानधर्मः, याऽन्याऽपि प्रथममुच्यते सा त्रिरभ्यसितव्येति । कुतः संशयः ? ·उभयथोपपत्तेः । यद्येवमभिसम्बन्धः क्रियते—याऽसावुच्चारितानां सामिधेनीनां प्रथममुच्चारिता, सा त्रिरभ्यसितव्येति । ततः प्रवोवाजाया ऋचो धर्मः । अथैवं विज्ञायते, प्राथम्यसंयुक्तं त्रिर्ब्रूयादिति, ततो वचनस्य स्थानधर्मता ।

है । यह विशेष विधान है, तदनुसार शेष १-६ तथा ११वें दिन पत्नीसंयाजान्त कर्म होवें । द्वादशाह के एक कर्म होने से १२वें दिन के कर्म से ही अपूर्व की उत्पत्ति होती है । शेष ११ दिन के कर्म उस के सहायक हैं । इसलिये प्रतिदिन हारियोजनान्त की प्राप्ति होने पर भी उस से कर्म समाप्त नहीं करना है अन्यथा एक दिन के कर्म की दूसरे दिन के कर्म के साथ शृङ्खला नहीं बनेगी, अतः उत्तम ग्रह को छोड़ कर शेष दिनों में कर्म को कहीं न कहीं अवसान देना ही होगा । अतः अनियम की प्राप्ति में नियम किया—उत्तम ग्रह से पूर्व दिन के कर्म पत्नीसंयाज के अनन्तर समाप्त हो जायें । १२वें दिन यदि हारियोजनान्त कर्म नहीं होता है तो उस से अपूर्व उत्पन्न नहीं होगा । यदि प्रधान सोमयाग के पूर्व और उत्तर अङ्गों को भी प्रतिदिन किया जायेगा तो सहत्त्व उपपन्न नहीं होगा । इसलिये सहत्त्व की उत्पत्ति के लिये पूर्व दिन किसी कर्म के पश्चात् उसे समाप्त करके अगले दिन का कर्म करना चाहिये । अतः दीक्षादि पूर्व अङ्ग और अवभृथ आदि उत्तर अङ्ग तन्त्र से (=एक बार) ही अनुष्ठित होंगे तथा अभिषव आदि सन्निपत्य उपकारक और सवनीय आदि आराद् उपकारक कर्म काण्डानुक्रमन्याय से प्रतिदिन आवर्तनीय हैं ।।३२।।

व्याख्या—दर्शपूर्णमास हैं । वहां सामिधेनियों के प्रकरण में कहा है—त्रिः प्रथमामन्वाह, त्रिरुत्तमामन्वाह (=प्रथम सामिधेनी मन्त्र को तीन बार बोले, अन्तिम को तीन बार बोले) । वहां यह अर्थ सांशयिक है—क्या यह ऋचा का धर्म है । जहां कहीं भी पढ़ी गई प्र वो वाजाः इस ऋचा का तीन बार पाठ करे अथवा स्थान का धर्म है । जो अन्य भी प्रथम पढ़ी जाये उसे तीन बार पढ़ना चाहिये ? किस कारण यह संशय है ? दोनों प्रकार उपपत्ति होने से । यदि ऐसा सम्बन्ध किया जाता है—जो यह उच्चारित सामिधेनियों में प्रथम उच्चारित है उसका तीन बार अभ्यास करना चाहिये । इससे प्र वो वाजा ऋचा का धर्म [त्रि उच्चारण] होता है । और यदि इस प्रकार सम्बन्ध जाना जाता है—प्राथम्य युक्त को तीन बार बोले, तो वचन इसके स्थान का धर्म होता है ।

---

१. द्र०—त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम् । तै० सं० २।५।७।१।।
२. तै० सं० २।५।७।२।।

किं तावत् प्राप्तम् ? ऋचो धर्म इति। कुतः ? प्राथम्यस्य व्यक्त्या सम्बन्धात्। व्यक्तेरभ्यासेन। कथमवगम्यते ? स्त्रीलिङ्गनिर्देशात्। व्यक्तिविशेषो हि स्त्री नाम। यदि तद्विशेषणं प्राथम्यं स्यात्ततो लिङ्गविशेषनिर्देशोऽवकल्पते। साऽपि स्त्री, अभ्यासेन संभन्त्स्यते। अथ प्रथममनुब्रुवता त्रिरभ्यसितव्यमिति, ततो व्यक्तिविशेषो न विवक्ष्येत। तत्र स्त्रीलिङ्गविशेषनिर्देशो नोपपद्यते। अपि च, वाक्यभेदः प्रसज्येत। प्रथममुक्तं त्रिरभ्यसितव्यं, प्रथममुक्ता ऋक् त्रिरभ्यसितव्येति। मत्पक्षे पुनः प्राथम्यलक्षिताया ऋचो धर्म उच्यते। तत्रैकार्थविधाने न भवेद्वाक्यभेदः। अपि च श्रुत्या प्राथम्येन स्त्री सम्बध्यते। वाक्येनाभ्यासः। तस्माद् ऋग्धर्मो यत्र तत्रस्था, प्र वो वाजा त्रिरभ्यसितव्यतेति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

अभ्यासः सामिधेनीनां प्राथम्यात् स्थानधर्मः स्यात् ॥३३॥ (उ०)

योऽयं सामिधेनीनां प्रथमायास्त्रिरभ्यास उच्यते स प्रथमस्थाननिमित्तो धर्मो, न ऋचः कस्याश्चिज्जातिनिमित्तः। कुतः ? न हि कृत्स्नेऽपि ऋग्वेदे प्रथमा नाम

क्या प्राप्त होता है ? ऋचा का धर्म है। किस हेतु से ? प्राथम्य की व्यक्ति [ऋक्] के साथ सम्बन्ध होने से। व्यक्ति के अभ्यास से [त्रित्व सम्पादन करे]। कैसे जाना जाता है ? [प्रथमाम्] स्त्रीलिङ्ग के निर्देश से। व्यक्तिविशेष ही स्त्री है। यदि उसका विशेषण प्राथम्य होवे तो लिङ्गविशेष निर्देश उपपन्न होता है। वह (=व्यक्ति ऋक्) भी स्त्री है, [वह] अभ्यास के साथ सम्बद्ध होवेगी। और यदि प्रथम को बोलते हुए का तीन बार अभ्यास करना चाहिये [ऐसा कहें तो] तो व्यक्ति विशेष विवक्षित न होवे। उस स्थिति में ['प्रथमां' यह] स्त्रीलिङ्ग निर्देश उपपन्न न होवे। और भी, वाक्यभेद होवे—प्रथम कहा गया तीन बार अभ्यसनीय है, प्रथम कही गई ऋक् तीन बार अभ्यसनीय है। मेरे पक्ष में प्राथम्य से लक्षित ऋचा का धर्म कहा जाता है। उस स्थिति में एक अर्थ के विधान में वाक्यभेद न होवे। और भी, श्रुति से प्राथम्य के साथ स्त्री [ऋक्] सम्बद्ध होती है, वाक्य से अभ्यास। इसलिये ऋक् का धर्म है जहां कहीं भी वर्तमान प्र वो वाजा तीन बार पढ़नी चाहिये। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

अभ्यासः सामिधेनीनां प्राथम्यात् स्थानधर्मः स्यात् ॥३३॥

सूत्रार्थः—(अभ्यासः) तीन बार अभ्यास (सामिधेनीनाम्) सामिधेनियों की (प्राथम्यात्) प्रथमता कहने से (स्थानधर्मः) स्थान का धर्म (स्यात्) होवे।

व्याख्या—जो यह सामिधेनियों में प्रथम का तीन बार अभ्यास कहा जाता है, वह प्रथमस्थाननिमित्तक धर्म है, ऋचा का किसी का जातिनिमित्तक नहीं है। किस कारण? सम्पूर्ण ऋग्वेद में प्रथमा नाम की कोई ऋचा नहीं है, जिसका तीन बार पाठ किया जाये। इस पक्ष में

काचिदृग् विद्यते, या त्रिरभ्यस्येत। तत्र प्राथम्यमृग्लक्षणार्थं स्यात्। इतरस्मिन् पक्षे श्रुतिर्न लक्षणा। श्रुतिश्च ज्यायसी लक्षणायाः। तस्मादस्मत्पक्षः।

अथ यदुक्तं, स्त्रीलिङ्गसम्बन्धादस्मत्पक्ष एव श्रुतिः। वाक्यं च न भिद्यते। स्त्रीलिङ्गोपपत्तिश्चेति। अत्रोच्यते—**गुणवचनानां हि शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति**[1] इत्यविशेष्यमाणायामपि व्यक्तौ यदवश्यं प्राप्तं लिङ्गं, तदाश्रयभूतं गुणस्य भवति। अविधित्सितेऽपि तस्मिल्लिँङ्गविशेषनिर्देशोऽनुवादभूतो भवत्येव। यथा शुक्लः पुमान्, शुक्ला स्त्री, शुक्लं नपुंसकम्। शुक्ल एकः, शुक्लौ द्वौ, शुक्ला बहव इति। शुक्लां शाटीमानयेति—यद्यपि शाटयाद्यानयनं न विधीयते, शुक्लसम्बन्धमात्रविधित्सा भवति, न तत्र लिङ्गेन विशेषणं क्रियते तथाऽप्यनुवादभूतः स्त्रीलिङ्गनिर्देशो भवत्येव शुक्लमानयेति। अनुवादभूतत्वाच्च न वाक्यभेदो भविष्यति। एवं च सति यद्यपि प्राथम्यस्य स्त्रीलिङ्गसम्बन्धः श्रौतस्तथाऽपि प्राथम्यस्यैवाभ्यासेन सम्बन्धो न लिङ्गस्य। यदि लिङ्गस्यैतेन सम्बन्धोऽभिधीयते, प्राथम्यस्यानुवादता कल्प्येत। प्राथम्यसम्बन्धेऽप्यभिधीयमाने वाक्यं भिद्येत।

अपि च, नैवात्र विवदितव्यम्। प्रातिपदिकविशेषणं हि स्त्रीशब्दः। **स्त्रियां**

प्राथम्य ऋचा के उपलक्षण के लिये होवे। दूसरे पक्ष में श्रुति है लक्षणा नहीं है। श्रुति लक्षणा से ज्यायसी है। इस से हमारा पक्ष [युक्त है]।

और जो यह कहा—स्त्रीलिङ्ग सम्बन्ध से हमारे पक्ष में श्रुति है, और वाक्यभेद भी नहीं होता तथा स्त्रीलिङ्ग की उपपत्ति भी हो जाती है। इस विषय में कहते हैं—गुणवचनानां हि शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति (=गुणवचन शब्दों के आश्रय के अनुसार लिङ्ग और वचन होते हैं) से व्यक्ति के अविशेष्य भाग होने पर भी जो अवश्य प्राप्त लिङ्ग है, उसके आश्रयभूत गुण के होते हैं। विधान की विवक्षा न होने पर भी उसमें लिङ्गविशेष का निर्देश अनुवादभूत होता ही है। यथा—शुक्लः पुमान्, शुक्ला स्त्री, शुक्लं नपुंसकम्। शुक्लः एकः, शुक्लौ द्वौ, शुक्ला बहवः। 'शुक्लां शाटीमानय' यहां यद्यपि शाटी के आनयन का विधान नहीं किया जाता है, शुक्ल के सम्बन्ध मात्र के विधान की इच्छा होती है। वहां लिङ्ग से विशेषण नहीं बनाया जाता है तथापि अनुवादभूत स्त्रीलिङ्गनिर्देश होता ही है—शुक्लामानय। अनुवादरूप होने से वाक्यभेद नहीं होगा। इस प्रकार यद्यपि प्राथम्य का स्त्रीलिङ्ग सम्बन्ध श्रौत है तथापि प्राथम्य के अभ्यास के साथ सम्बन्ध है, लिङ्ग का सम्बन्ध नहीं है। यदि लिङ्ग का इसके साथ सम्बन्ध कहा जाता है तो प्राथम्य की अनुवादरूपता होवे। प्राथम्य के साथ [लिङ्ग का] सम्बन्ध कहा जाता है तो वाक्यभेद होवे।

और भी, यहां विवाद नहीं करना चाहिये। प्रातिपदिक का विशेषण है स्त्रीशब्द।

---

१. महाभाष्य ५।३।५५॥

यत्प्रातिपदिकं वर्तते, ततष्टाबादयः[1] इति। न विशेषणस्य पदान्तरेण सम्बन्धो भवति। यथा राजपुरुषो गच्छतीति। यदा तु प्राथम्यस्याभ्यासेन सम्बन्धः, तत्र प्राप्तमनूद्यते स्त्रीत्वम्। यानि सामिधेनीषु वचनानि, ऋचस्ताः। स्त्रीलिङ्गश्च ऋक्शब्दः। तत्र यत्प्रथमं वचनं, तस्याऽऽश्रय ऋक्। **गुणवचनानां च शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति**[2] इत्यविशेषितायामप्यृचि स्त्रीलिङ्गं भविष्यतीति। यत्प्रथमवचनं, तत्त्रिराहेति। स्त्री च सा ऋक् सामिधेनी। तस्मात् त्रिः प्रथमामन्वाह इति प्राप्तस्य लिङ्गस्यानुवादः। **त्रिः प्रथमामन्वाह, त्रिरुत्तमां, ताः पञ्चदश संपद्यन्ते**[3], इति पञ्चदशानां सामिधेनीनां सम्पत्तये त्रिवचनमुच्यमानं परिपूर्णाया ऋचो भवति, न ऋगवयवस्य। परिपूर्णा च समिन्धनवती, न ऋगवयवः। तस्मात् प्राप्तानुवादो लिङ्गस्येति प्राथम्यस्य धर्मो न ऋचः ॥३३॥

❋★❋

स्त्रियां यत्प्रातिपदिकं वर्तते ततष्टाबादयः (=स्त्रीलिङ्ग में जो प्रातिपदिक है उससे टाप् आदि होते हैं)। विशेषण का पदान्तर के साथ सम्बन्ध नहीं होता है। जैसे राजपुरुषो गच्छति [यहां 'गच्छति' का सम्बन्ध विशेषणरूप राजा के साथ सम्बन्ध नहीं होता है—'राजा गच्छति' यह अर्थ नहीं जाना जाता है]। जब प्राथम्य का अभ्यास के साथ सम्बन्ध है तो वहां प्राप्त स्त्रीत्व का अनुवाद होता है। जो सामिधेनियों में वचन हैं वे ऋचाएं हैं। ऋक् शब्द स्त्रीलिङ्ग है। वहां (=सामिधेनियों में) जो प्रथमवचन है उस का आश्रय ऋक् है। गुणवचनानां च शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति से ऋक् अविशेषित होने पर भी [प्रथमा] में स्त्रीलिङ्ग हो जायेगा। जो प्रथमवचन है उसको तीन बार बोलता है। और वह [प्रथमवचन] स्त्री ऋक् सामिधेनी है। इससे त्रिः प्रथमामन्वाह में प्राप्त स्त्रीलिङ्ग का अनुवाद है। त्रिः प्रथमामन्वाह, त्रिरुत्तमां ताः पञ्चदश सम्पद्यन्ते (=[सामिधेनियों की ११ ऋचाओं में से] प्रथमा को तीन बार पढ़े, उत्तमा=अन्तिमा को तीन बार पढ़े। इस प्रकार वे १५ हो जाती हैं)। पन्द्रह सामिधेनियों की सम्पत्ति (=पूर्णता) के लिये तीन बार उच्यमान परिपूर्ण (=समग्र) ऋचा होती है, ऋचा का अवयव [तीन बार उच्चरित] नहीं होता है। परिपूर्ण ऋचा सामिधेनी है, ऋचा का अवयव सामिधेनी नहीं है। इससे प्राप्त स्त्रीलिङ्ग का अनुवाद है, अतः प्राथम्य का धर्म [स्त्रीलिङ्ग] है, ऋचा का धर्म नहीं है ॥३३॥

❋★❋

---

१. महाभाष्य ४।१।३। तत्र 'भवन्ति' पदमधिकं वर्तते।

२. महा० ५।३।५५॥ पूर्वत्र निर्देशे 'गुणवचनानां हि' पाठः। स एव महाभाष्यारूढः।

३. ताः 'पञ्चदश सम्पद्यन्ते' इत्यनुपलब्धमूलं वचनम्। तै० ब्रा० ३।५।२ इत्यत्रैकादश सामिधेनीमन्त्राः पठ्यन्ते। तेषां प्रथमोत्तमयोस्त्रिस्त्रिरन्वाख्याने पञ्चदश सामिधेन्यो भवन्ति।

[दर्शपूर्णमासयोरन्वारम्भणीयायाः सकृदनुष्ठानाधिकरणम् ॥१०॥]

स्तो दर्शपूर्णमासौ, दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत[1] इति। तत्राऽऽरम्भणीयेष्टिः समाम्नाता—आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत्, सरस्वत्यै चरुं, सरस्वते द्वादशकपालम्, अग्नये भगिनेऽष्टाकपालं निर्वपेद्यः कामयेतान्नादः स्याम्[2] इति। नित्यवदेके भगिनमामनन्ति[3]। आवृत्तिश्च दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत इति। तत्रेष्टयावृत्तौ सन्देहः। किमारम्भणीयाऽप्यावर्तते, नेति। किं प्राप्तम् ?

इष्टयावृत्तौ प्रयाजवदावर्तेताऽऽरम्भणीया ॥३४॥ (पू०)

आवर्तेतेति। असकृदेव कर्तव्यतेति। कुतः? एवं प्रयोगवचनोऽनुगृहीतो

व्याख्या—दर्शपूर्णमास हैं—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत (=दर्शपूर्णमास से स्वर्ग की कामनावाला यजन करे)। वहां (=दर्शपूर्णमास के प्रकरण में) अन्वारम्भणीया इष्टि पढ़ी गई है—आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत्, सरस्वत्यै चरुम्, सरस्वते द्वादशकपालम्, अग्नये भगिनेऽष्टाकपालं निर्वपेद् यः कामयेत अन्नादः स्याम् (=अग्नि और विष्णुदेवताक एकादशकपाल पुरोडाश का निर्वाप करे, सरस्वती के लिये चरु का, सरस्वान् के लिये द्वादशकपाल का, भगी अग्नि के लिये अष्टाकपाल का निर्वाप करे। जो चाहना करे कि मैं अन्नाद होऊं)। नित्यवदेके भगिनमामनन्ति (=कुछ आचार्य भगी [अग्नि] का नित्यवत् विधान करते हैं)। दर्शपूर्णमास की आवृत्ति सुनी जाती है—यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत (=यावज्जीवन दर्शपूर्णमास से यजन करें)। वहां इष्टि की आवृत्ति में सन्देह है—क्या आरम्भणीया भी [दर्शपूर्णमास के साथ] आवर्तित होती है अथवा नहीं ? क्या प्राप्त होता है ?

इष्टयावृत्तौ प्रयाजवदावर्तेताऽऽरम्भणीया ॥३४॥

सूत्रार्थः—(इष्टयावृत्तौ) दर्शपूर्णमास इष्टि की आवृत्ति होने से (प्रयाजवत्) जैसे प्रयाज इष्टि के आवर्तन के साथ आवर्तित होते हैं, उसी प्रकार (आरम्भणीया) आरम्भणीया इष्टि भी दर्शपूर्णमास की आवृत्ति के साथ (आवर्तेत) आवर्तित होवे।

व्याख्या—[आरम्भणीया भी] आवर्तित होवे। असकृत् (=बार-बार) ही करनी

१. द्र०—आप० श्रौत ३।१४।८,९—स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासौ, एककामः, सर्वकामो वा।

२. इदमुद्धरणं स्वल्पभेदेन मी० भाष्य १०।१।४ सूत्रेऽपि पठ्यते। इयमानुपूर्वी न क्वचिदस्माभिरुपलब्धा। द्र०—आग्नावैष्णवमेकादशकपालम्, सरस्वत्यै चरुम्, सरस्वते द्वादशकपालम्, अग्नये भगिनेऽष्टाकपालम्। यः कामयेत भयन्नादः स्याम इति। आप० श्रौत ५।२३।५,६॥ अत्र मै० सं० १।४।१४,१५॥ तै० सं० ३।५।१॥ अपि द्रष्टव्यम्।

३. द्र०—आप० श्रौत ५।२३।७॥ नित्यवदेके समामनन्ति, नानातन्त्रमेके।

भविष्यति। प्रयाजवत्। यथाऽङ्गभूताः प्रयाजा आवर्तन्त] एवमङ्गभूताऽऽरम्भणीयाऽप्यावर्तत ॥३४॥

सकृद्वाऽऽरम्भसंयोगादेकः पुनरारम्भो यावज्जीवप्रयोगात् ॥३५॥ (उ०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति, यदुक्तमारम्भणीयाऽऽवर्ततेति। सकृदेव कर्तव्या। कुतः? आरम्भसंयोगात्। दर्शपूर्णमासयोरारम्भेण संयुज्यते। साधारणश्च सर्वेषां प्रयोगाणामारम्भः। कथम्? अग्नीनाधाय सर्वः संकल्पयति। पर्वणि पर्वणि मया दर्शपूर्णमासौ कर्तव्याविति। एवं चाध्यवसाय दर्शपूर्णमासौ कर्तव्यावित्यारम्भणीया क्रियते। एष एवास्याऽऽरम्भो यदध्यवसानं नाम। तच्च साधारणं सर्वेषां प्रयोगाणाम्। यावज्जीवप्रयोगात्। अथापि प्रथमं प्रवर्तनमारम्भस्तथाऽपि प्रथमवृत्तेन सर्वे प्रयोगाः कृता भवन्ति। तस्मात् सकृदारम्भणीया कर्तव्येति ॥३५॥

चाहिये। किस हेतु से? इस प्रकार प्रयोगवचन (=इतिकर्तव्यता) अनुगृहीत होता होगा। प्रयाज की तरह। जैसे अङ्गभूत प्रयाज [प्रति इष्टि] आवर्तित होते हैं, उसी प्रकार अङ्गभूत आरम्भणीया भी आवर्तित होवे ॥३४॥

सकृद् वा आरम्भसंयोगादेकः पुनरारम्भो यावज्जीवप्रयोगात् ॥३५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है। (सकृत्) आरम्भणीया एक बार ही करनी चाहिये (आरम्भसंयोगात्) आरम्भ का संयोग होने से (एकः) एक ही दर्शपूर्णमास का आरम्भ है। (पुनरारम्भः) दर्शपूर्णमास का पुनः प्रयोग का आरम्भ तो (यावज्जीवप्रयोगात्) यावज्जीवन प्रयोग का विधान होने से होता है।

विशेष—आरम्भसंयोगात्—मै० सं० १।४।१४ में कहा है—आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेद् दर्शपूर्णमासा आलप्स्यमानः अर्थात् दर्शपूर्णमास का आरम्भ करनेवाला आग्नावैष्णव एकादशकपाल का निर्वाप करे। 'आलप्स्यमानः' में रेफ को छान्दस लकार हुआ है। इस इष्टि की शेष हवियों का आगे अनुवाक १४, १५ में खण्डशः विधान किया है। यतः दर्शपूर्णमास के आरम्भ में यह इष्टि होती है, अतएव इसका नाम आरम्भणीया है।

व्याख्या—'वा' शब्द पूर्व पक्ष को हटाता है। यह नहीं है जो कहा है कि आरम्भणीया का आवर्तन होवे। एक बार ही करनी चाहिये। किस हेतु से? आरम्भ के संयोग से। दर्शपूर्णमास के आरम्भ से संयुक्त होती है। सब प्रयोगों का आरम्भ साधारण है। कैसे? अग्नियों का आधान करके सब संकल्प करते हैं—प्रतिपर्व मैंने दर्शपूर्णमास करने हैं। इस प्रकार संकल्प करके दर्शपूर्णमास करने चाहिये, इससे आरम्भणीया की जाती है। इस दर्शपूर्णमास का आरम्भ एक ही है, जो निश्चय है। वह संकल्प सब प्रयोगों का साधारण है, यावज्जीवन प्रयोग से। और यदि प्रथम प्रवर्तन आरम्भ माना जाये तो भी प्रथम वर्तन से सब प्रयोग सम्पन्न होते हैं। इससे सकृत् ही आरम्भणीया करनी चाहिये॥

विवरण—मीमांसा व्याख्याकारों के मतानुसार आरम्भणीया इष्टि के सम्बन्ध में जो विचार किया है, वह वृत्तिकार उपवर्ष के मतानुसार है। इस मत के सदोष होने से भाष्यकार अपने मतानुसार आगे विचार करेंगे।

वृत्तिकार उपवर्ष के मत में क्या दोष है, इसका वर्णन कुतूहलवृत्तिकार ने इस प्रकार दर्शाया है—आधाता आधान के अनन्तर शास्त्र द्वारा सब नित्य काम्य कर्मों को जानता है। किन्तु उन सबको करूंगा, यह संकल्प उस समय नहीं होता (करना) अविहित होने से। और जो अविहित है, वह अङ्ग नहीं होता। और भी, नित्य प्रयोग तो निश्चित होने से संकल्प किये जा सकते हैं, किन्तु काम्य प्रयोग कामना की उत्पत्ति के अनियत होने से किसी प्रकार भी आधान के अनन्तर संकल्पयोग्य हैं। अतः उन काम्य कर्मों में तो आरम्भणीया का आवर्तन होगा ही। इसलिये वृत्तिकार उपवर्ष आचार्य का मत युक्त नहीं है।

कुतूहलवृत्तिकार ने भट्ट कुमारिल के मतानुसार वृत्तिकार के मत को अयुक्त बताया है। शबरस्वामी के मन में भी सम्भवतः यही बात थी। अतएव उसने **एवं वा** कहकर व्याख्यान्तर प्रस्तुत किया है। इस सब के मूल में कारण यह है कि तैत्तिरीय संहिता में अन्वारम्भणीया अनारभ्याधीत है।[1] अनारभ्याधीत प्रकृतिगामी होते हैं अर्थात् उनका प्रकृति दर्शपूर्णमास में अङ्गरूप से निवेश होता है, यह मी० ३।६। अधि० १ में सिद्धान्त किया है। प्रकृतिगामी होने से जैसे अन्य पालाशी जुहू आदि का दर्शपूर्णमास में निवेश होता है, ऐसे ही आरम्भणीया इष्टि का भी दर्शपूर्णमास में निवेश होने से जैसे प्रयाजादि प्रतिप्रयोग होते हैं, तद्वत् आरम्भणीयेष्टि भी प्रतिप्रयोग होगी। ऐसी अवस्था में यह सन्देह उपपन्न ही नहीं होता कि आरम्भणीयेष्टि सकृत् की जाये या प्रतिप्रयोग की जाय।

इतना ही नहीं, भाष्यकार ने जो श्रुति उदाहृत की है, उसमें स्पष्ट **दर्शपूर्णमासावारभमाणः** निर्देश है (द्र०—मी० १०।१।४ भाष्य)। यद्यपि यहां भाष्य में यह पाठ नहीं है, तथापि भाष्य में जो व्याख्या की है, उस से ज्ञात होता है कि यहां सम्भवतः यह पाठ त्रुटित हो गया है। इस पाठ के अनुसार वृत्तिकार का विचार युक्तियुक्त है। इस विषय में काम्य इष्टि निमित्तक जो दोष दर्शाया गया है, वह भी अकिञ्चित्कर है। अग्न्याधान द्वारा अग्नियों के सिद्ध हो जाने पर उन के द्वारा साध्य समस्त नित्य-काम्य-नैमित्तिक श्रौतकर्म का यजमान अधिकारी हो जाता है। संकल्प का जो स्वरूप **पर्वणि पर्वणि मया दर्शपूर्णमासौ कर्तव्यौ** दर्शाया है, वह आधानोत्तर प्रथम इष्टि के रूप में प्राप्त दर्शपूर्णमासविषयक है। जब भी यजमान को कोई श्रौतकर्म करना होता है तब वह उस कर्म के विषय में संकल्प करता है। इसलिये जब भी यजमान काम्य इष्टि करना चाहेगा उसे तद्विषयक संकल्प करना ही पड़ेगा।

१. शबरस्वामी तैत्तिरीयशाखाध्येता था। यह हमने प्रथमभाग के आरम्भ में मुद्रित 'शास्त्रावतार' निबन्ध में शबरस्वामी के प्रकरण में सप्रमाण दर्शाया है। द्र०—द्वितीय संस्करण पृष्ठ ४१।

एवं[1] वा—

यस्तु प्रथमः पदार्थ आरम्भ इति, तत्रैष संशयः—किं दर्शपूर्णमासयोरारभ्यमाणयोरारम्भणीया प्रथमं पदार्थं सम्यञ्चं करोति, उत पुरुषस्याऽऽरभमाणस्य प्रथमं दर्शपूर्णमासयोः प्रवर्तमानस्याऽऽरम्भणीया कर्तारमारम्भणयोग्यं करोति ? किं प्राप्तम् ?

इष्ट्यावृत्तौ प्रयाजवदावर्तेताऽऽरम्भणीया ॥३४॥

दर्शपूर्णमासयोः प्रकरणात् तयोरारम्भे स्यात् । पुरुषसम्बन्धे फलं कल्पयितव्यम् । तस्माद् दर्शपूर्णमासारम्भे । एवं चेदारम्भभेदादिष्ट्यावृत्तौ प्रत्यारम्भं

अतः काम्येष्टिविषयक जो दोष वृत्तिकार के मत में दर्शाया है, वह प्राप्त ही नहीं है। वस्तुतः भाष्यकार की दृष्टि में स्वशाखा में अन्वारम्भणीया के अनारभ्याधीत होने से जो दोष आता था, उस से बचने के लिये यह द्रविड़ प्राणायाम है । सूत्रकार ने तो इस अधिकरण को दर्शपूर्णमास तक ही सीमित रखा है, यह ३५वें सूत्र के यावज्जीवप्रयोगात् से स्पष्ट है। इस स्थिति में अप्रसक्त काम्येष्टियों को प्रस्तुत करके दोष देना कथंचित् भी उचित नहीं है ॥३५॥

व्याख्या—अथवा इस प्रकार [अधिकरण की योजना करें]—

जो प्रथम पदार्थ 'आरम्भ' है, उसी के विषय में संशय है। क्या दर्शपूर्णमास को आरम्यमाण का प्रथम पदार्थ है उस को ही आरम्भणीया सम्यक् करती है, अथवा आरम्भ करने वाले पुरुष के प्रथम दर्शपूर्णमास में प्रवृत्त होनेवाले पुरुष को आरम्भणीया आरम्भणयोग्य बनाती है ? क्या प्राप्त होता है ?

इष्ट्यावृत्तौ प्रयाजवदावर्तेत आरम्भणीया ॥३४॥

सूत्रार्थः—दर्शपूर्णमास के आरम्भ में कही कई आरम्भणीया (इष्ट्यावृत्तौ) इष्टि के आवर्तित होने पर उस के आरम्भ में भी (प्रयाजवत्) प्रयाजों के समान (आरम्भणीया) आरम्भणीया (आवर्तेत) आवर्तित (=पुनः पुनः) होवे ।

व्याख्या—दर्शपूर्णमास का प्रकरण होने से उनके आरम्भ में [आरम्भणीया] होवे । पुरुष के साथ सम्बन्ध करने पर फल की कल्पना करनी पड़ेगी । इससे दर्शपूर्णमास के आरम्भ में [आरम्भणीया]होवे । यदि ऐसा होवे तो आरम्भ भेद से इष्टि की आवृत्ति होने पर प्रत्येक[दर्श-

---

१. 'एवं तावद्वृत्तिकारमतेनाधिकरणमुपवर्ण्य स्वमतेनाधिकरणं प्रकारान्तरेणोपवर्णयति—एवं वेत्यादिना' । इति पुणेसंस्करणे टिप्पणी ।

स्यात् । यथा प्रयोगावृत्तौ प्रयाजाः ॥३४॥

सकृद्वाऽऽरम्भसंयोगादेकः पुनरारम्भो यावज्जीवप्रयोगात् ॥३५॥ (सि०)

सकृद् वा भवितुमर्हति । कुतः ? पुरुषारम्भसंयोगात् । पुरुषे दर्शपूर्णमासावारभमाणे विधीयते । कुतः ? निर्वपेदिति हि श्रुत्या कर्तृसम्बन्धः क्रियते । तत्र पुरुषप्रयत्नवचनं विवक्षितस्वार्थं भवति । इतरथा पदार्थमात्रे विधित्सिते कर्तुः प्रयत्नवचनमविवक्षितं स्यात् । प्रयोगवचनप्राप्तमेवानूद्यते । यत्तु कर्तृसम्बन्धे फलं कल्पयितव्यम् । तन्न कल्पयिष्यते । कृतारम्भणीयाकः पुरुषः प्रयोगवचनेन ग्रहीष्यते । एवं चेदेकस्मिन्नेवाऽऽरम्भे कृतारम्भणीयाके कृते पुरुषे तन्त्रप्रयोगात्, यावज्जीवं प्रयोगे कृतारम्भणीयाकः पुरुषो भवति । प्रथमं दर्शपूर्णमासावारभमाणः कृतारम्भ-

---

पूर्णमास के] आरम्भ में आरम्भणीया होवे । जैसे प्रयोग की आवृत्ति में [प्रति प्रयोग] प्रयाज होते हैं ॥

विवरण—दर्शपूर्णमासावारप्स्यमानः—यहां 'शानच्' प्रत्यय आरम्भ करनेवाले को कहता है । उस आरम्भ में सन्देह है । क्या आरम्भ दर्शपूर्णमास के लिए आरम्भणीया का प्रथम पदार्थ को सम्यक् (=कर्मसमर्थ) करती है अथवा आरम्भणीया दर्शपूर्णमास करने वाले पुरुष को दर्शपूर्णमास करने योग्य बनाती है ? आरम्भणीया के क्रत्वर्थ होने से उसका प्रति प्रयोग आवर्तन होगा ॥३४॥

सकृद्वाऽऽरम्भसंयोगादेकः, पुनरारम्भो यावज्जीवप्रयोगात् ॥३५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है । (सकृत्) आरम्भणीया एक बार होवे । (आरम्भसंयोगात्) पुरुष के साथ आरम्भ का संयोग होने से । वह पुरुष का दर्शपूर्णमास के साथ आरम्भ संयोग (एकः) एक है । (पुनरारम्भः) दर्शपौर्णमास का पुनः आरम्भ (यावज्जीवप्रयोगात्) यावज्जीवन करने का निर्देश होने से होता है ।

व्याख्या—एक बार आरम्भणीया करनी होती है । किस हेतु से ? पुरुष का आरम्भ के साथ संयोग होने से । पुरुष के दर्शपूर्णमास के आरम्भ करने पर [आरम्भणीया का] विधान किया जाता है । किस हेतु से ? 'निर्वपेत्' इस श्रुति से कर्तृसम्बन्ध किया जाता है । इस से पुरुष के प्रयत्न का कथन विवक्षित स्वार्थवाला होता है । अन्यथा पदार्थमात्र के विधान की इच्छा में कर्ता का प्रयत्नवचन अविवक्षित होवे । प्रयोगवचन से प्राप्त का ही अनुवाद होवे । और जो 'कर्ता का सम्बन्ध करने पर फल की कल्पना करनी होगी' । उसकी कल्पना नहीं करेंगे । कर ली है आरम्भणीया जिसने, वह पुरुष प्रयोगवचन से ग्रहण किया जायेगा । ऐसा होने पर एक ही आरम्भ में 'कर ली है आरम्भणीया जिसने' उस पुरुष में तन्त्रप्रयोग(=सकृत् प्रयोग)से यावज्जीवन प्रयोग में कृतारम्भणीयक पुरुष होता है । प्रथम दर्शपूर्णमासों को आरम्भ

णीयाको जातः। द्वितीयादिष्वपि प्रयोगेषु दर्शपूर्णमासावारप्स्यमानः कृतारम्भणीयाको जात इति योग्य एव भविष्यति।

अथोच्यते—समानेऽहनि, आरप्स्यमान इति भवति। न च द्वितीयादिषु प्रयोगेषु समानेऽहनि कृतारम्भणीयाकोऽसाविति। अत्रोच्यते—द्वितीयादिष्वपि प्रयोगेषु समान एवाहनि दर्शपूर्णमासावारप्स्यमानोऽसौ कृतारम्भणीयाको जात इति योग्य एवं भविष्यति ॥३५॥

❀★❀

[निर्वापमन्त्रे सवित्रादिपदानामसमवेतार्थानां विकृतावनूहाधिकरणम् ॥११॥]

स्तो दर्शपूर्णमासौ—तत्र निर्वापमन्त्रः—देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि[1] इति। तत्रैषोऽर्थः सांशयिकः—किं सवित्रश्विपूषशब्दानां विकृतावूह उतानूह इति? तत एतत् तावत् परीक्ष्यते—

करनेवाला कृतारम्भणीयक पुरुष हो गया। द्वितीयादि प्रयोगों में भी दर्शपूर्णमासों का आरम्भ करनेवाला कृतारम्भणीय हो गया, इस से वह योग्य (=समर्थ) ही होगा।

यदि कहते हो 'समान दिन में [कार्य करनेवाला] आरप्स्यमान कहा जाता है। द्वितीय आदि प्रयोगों में समान दिन में कृत आरम्भणीवाला वह नहीं होता। इस विषय में कहते हैं—द्वितीयादि प्रयोगों में समान दिन में दर्शपूर्णमास को आरम्भ करनेवाला पुरुष कृतारम्भणीयक हो गया, अतः वह योग्य ही होवेगा ॥३५॥

❀★❀

[उपोद्घात प्रसक्तानुप्रसक्त कथन पूर्ण हुआ। अब 'ऊह' पर विचार किया जाता है (टुप्टीका)]

व्याख्या—दर्शपूर्णमास याग विहित हैं। उनमें निर्वाप मन्त्र है—देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि (=तुझ सविता देव की अनुज्ञा में अश्विनौ बाहुओं से, पूषा के हाथों से अग्नि के लिये प्रीतिकर हवि का निर्वाप करता हूं)। यहां यह अर्थ सांशयिक है—क्या सवितृ अश्विन् और पूषन् शब्दों का विकृति में ऊह होता है अथवा ऊह नहीं होता? इस के लिये पहले यह परीक्षा करते हैं—कर्म में समवेत

---

१. यजुः १।१०।

कर्मणि समवेतमर्थमेते शब्दा अभिदधति, उतासमवेतमिति ? यदि समवेतम्, ऊहिष्यन्ते। अथासमवेतम्, अविकृताः प्रयोक्ष्यन्ते। तदुभयमपि सह परीक्ष्यते।

किं तावन्नः प्रतिभाति ? तत्र समवेतमभिवदन्तीति। कुतः ? एतद्धि मन्त्रपदानां दृष्ट प्रयोजनं, यत् समवेतमर्थं प्रकाशयन्तीति। तत्रासमवेतार्थप्रकाशने न किंचिदपि दृष्टं प्रयोजनम्। समवेतानां तु प्रकाशने दृष्टमस्ति। तद्यदि समवेताभिधायिन एते शब्दास्ततः प्रयोजनवन्तः। कथं पुनः समवेताभिधायिनः ? यदि नाम सवित्रादयः शब्दा अग्न्यादीनां वाचका भवेयुः। यदि वा सवित्रादयो देवताविशेषा दर्शपूर्णमासयोः स्युः। तन्मन्त्रपदानामदृष्टार्थता मा भूदित्यन्यतरदध्यवसीयते—मान्त्रवर्णिको वा देवताविधिः, सवित्रादयो वा शब्दा अग्न्यादीनां वाचका भवेयुः। तस्मादर्थवत्त्वादन्यतरदध्यवसेयम्।

(=सम्बद्ध) अर्थ को ये शब्द कहते हैं अथवा असमवेत अर्थ को? यदि समवेत अर्थ को कहते हैं तो इनका ऊह करेंगे (=होगा), यदि असमवेत अर्थ को कहते हैं तो अविकृत (=जैसे के तैसे) प्रयुक्त किये जायेंगे। इसलिये दोनों की साथ-साथ परीक्षा की जाती है।

विवरण—प्रसवे—प्रसव शब्द अनुज्ञा अथवा आदेश का वाचक है। द्र०—देवोऽनयत् सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम ऊर्वीः (ऋ० ३।३३।६)। 'प्रसवेऽनुज्ञायामादेशे वर्तमानाः' (निरुक्तव्याख्या, दुर्ग २।२६)। वेद में प्रसव शब्द प्रायः सविता देवता के साथ प्रयुक्त होता है। सविता और प्रसव दोनों 'षु प्रेरणे' धातु से निष्पन्न होते हैं। सब के प्रेरक सविता देव की प्रेरणा में अर्थात् प्रेरणा से। प्रेरणा अनुज्ञा और आदेश दोनों रूप से होती है। उपर्युक्त मन्त्रार्थ पदार्थरूप है। भाष्यकार ने इस मन्त्र का जो विशिष्टार्थ किया है, उसे आगे सूत्र ३७ में देखें।

व्याख्या—तो हम को क्या विदित होता है ? वहां कर्म में समवेत अर्थ को कहते हैं। किस हेतु से ? यही मन्त्रपदों का दृष्ट प्रयोजन है जो वे कर्मसमवेत अर्थ को प्रकाशित करते हैं। असमवेत अर्थ को प्रकाशित करने में कोई भी दृष्ट प्रयोजन नहीं है। समवेत अर्थों के प्रकाशन में तो दृष्ट प्रयोजन है। यदि समवेत अर्थों को कहनेवाले ये [सवित्रादि] शब्द होवें तो प्रयोजनवाले होते हैं। तो समवेत अर्थों को कहनेवाले ये शब्द कैसे होते हैं ? यदि सवितृ आदि शब्द अग्न्यादि के वाचक होवें, अथवा सवितादि देवताविशेष दर्शपूर्णमास में होवें। मन्त्रपदों की अदृष्टार्थता न होवे इस से दोनों में एकतर अर्थ जाना जाता है—मन्त्र में वर्णित देवता की विधि होवे अथवा सवितादि शब्द अग्न्यादि के वाचक होवें। इस अर्थवत्त्व से (=के लिये) अन्यतर अर्थ जानना चाहिये।

विवरण—समवेतमर्थं प्रकाशयन्ति—द्र०—अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्। तच्चोदकेषु मन्त्राख्या (मी० २।१।३१,३२)। तद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वा अभिवदति (द्र०—गोपथ २।२।६, ऐ० ब्रा० १।४)। अर्थात् यही यज्ञ की समृद्धि है जो रूप की समृद्धि है—जिस किये जानेवाले कर्म को ऋक् वा यजुः कहता है।

अत्राऽऽह । ननु **अग्नये जुष्टम्** इत्यत्रावयवभूताः सवित्रादयोऽग्न्यादीनां वचना अपि सन्तोऽग्न्यादिभिः प्रकाशिताया देवताया न किंचिदप्यधिकं कुर्युः । नो खल्वपि सवित्रादिवचना एव मान्त्रवर्णिकाः शक्नुवन्त्युपकर्तुम् । अत्रोच्यते । पृथग्वाक्यान्येतानि भविष्यन्ति, तेषां **जुष्टं निर्वपामि** इति साधारणोऽनुषङ्गः । तानि वाक्यानि दर्शपूर्णमासयोर्गुणभूतानि । यद्येतद् देवत्यान्यत्र हवींषि विद्यन्ते, ततोऽवकल्पयन्त इत्यर्थापत्त्या मान्त्रवर्णिक्यो देवता विधीयन्ते । अग्न्यादिवचनता वा[1] सवित्रादीनाम् । पृथग्वाक्यानि वाऽग्निवाक्येन वैकल्पिकानीति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

अर्थाभिधानसंयोगान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात् तत्राचोदितमप्राप्तं चोदिताभिधानात् ॥३६॥ (उ०)

अग्न्यादीनां वाचकाः—सविता आदि शब्द लक्षणा से अग्नि आदि के वाचक होवें। यहां आदि शब्द से अग्नीषोमीय तथा इन्द्र का ग्रहण है।

व्याख्या—इस विषय में कहते हैं (आक्षेप) 'अग्नये जुष्टम्' यहां अवयवभूत सविता आदि अग्नि आदि को कहनेवाले होने पर भी अग्न्यादि से प्रकाशित देवता का कुछ अधिक उपकार नहीं करेंगे। और ना ही सवित्रादिवाचक मन्त्र में वर्णित देवता ही कुछ उपकार कर सकेंगे। (समाधान) इस विषय में कहते हैं—ये (=सवितुः प्रसवे, अश्विनो बाहुभ्याम्, पूष्णो हस्ताभ्याम्) पृथक् वाक्य होंगे। उनका जुष्टं निर्वपामि यह साधारण (=सर्वसामान्य) अनुषङ्ग होगा। वे वाक्य दर्शपूर्णमासों के गुणभूत हैं। यदि इस देवतावाली [दर्शपूर्णमास से] अन्यत्र हवियाँ हैं तो ये समर्थ होते हैं। इस अर्थापत्ति से मन्त्रवर्णित देवताओं का विधान किया जाता है। अथवा अग्न्यादि वचनता सवित्रादि की होगी। अथवा ये पृथक् वाक्य अग्नि वाक्य के साथ वैकल्पिक है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—सवित्रादिवचना एव मान्त्रवर्णिका०—इसका तात्पर्य यह है कि यदि सविता आदि वाचक ही ये शब्द हैं तो मन्त्र में वर्णित देवता सविता आदि भी इसलिये उपकार में असमर्थ होंगे कि इन देवतावाली को हवि दर्शपूर्णमास में है ही नहीं। **जुष्टं निर्वपामीति साधारणोऽनुषङ्गः**—सवितुः प्रसवे आदि वाक्यों का यह अनुषङ्ग होगा—सवितुः प्रसवे जुष्टं निर्वपामि, अश्विनोर्बाहुभ्यां जुष्टं निर्वपामि, पूष्णो हस्ताभ्यां जुष्टं निर्वपामि इस प्रकार पूर्ण वाक्य होंगे। **दर्शपूर्णयासयोर्गुणभूतानि**—ये वाक्य दर्शपूर्णमास में गुणभूत हैं, एतद्देवताक हवियां न होने से।

अर्थाभिधानसंयोगान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात् तत्राचोदितमप्राप्तं चोदिताभिधानात् ॥३६॥

---

१. 'अग्न्यादिवचनं तावत् सवित्रादीनाम्' इति काशीसंस्करणे पाठः। 'अग्न्यादिवचना वा सवित्रादीनाम्' इति पुणेसंस्करणे पाठः।

नैवमादीन्यूहितव्यानीति। अचोदित ऊहो न प्राप्नोति। चोदिताभिधानान् मन्त्रस्येति। तत एतद् वर्ण्यते—असमवेताभिधायिनः सवित्रादय इति। कथम्? न ह्यत्र सवित्रादिदेवत्यं कर्म चोद्यते। न चाग्न्यादीनामर्थेषु सवित्रादयः शब्दाः प्रसिद्धाः। अत्राऽऽह—नन्वर्थापत्त्याऽन्यतरदध्यवसीयेतेत्युक्तम्। सति एतद् देवत्ये कर्मणि सवित्रादिवाक्यान्युपपद्यन्ते, अग्निवचनत्वे वा सति। या हविषो देवता, सा मन्त्रवचनेन प्रकाशयितव्या, सवित्रादयश्च शब्दा निर्वापवाक्ये प्रकाशनार्थाः। ते हविर्देवता प्रकाशयन्त उपपद्यन्ते, नान्यथेति। अग्न्यादयश्च हविर्देवता इति तद्-वचना इत्यध्यवसीयते।

अत्रोच्यते—यद्यकल्प्यमान आनर्थक्यमेषां स्यात् ततोऽन्यतरत् कल्प्यते। अर्थाभिधानसंयोगान्मन्त्रेषु शेषभावो भवतीति। न त्वेवमकल्प्यमानेऽप्यानर्थक्यम्। तस्मान्नान्यतरस्यापि कल्पने किंचिदस्ति प्रमाणम्। न च चोद्यन्त एतच्छब्दिका

सूत्रार्थः—'सवितुः प्रसवे' आदि का (अर्थाभिधानसंयोगात्) अर्थप्रकाशन के संयोग से (मन्त्रेषु) मन्त्रों में (शेषभावः) अङ्गत्व (स्यात्) होवे। इस हेतु से सौर्यादि याग में 'सवितृ' पद के स्थान में सूर्यपद प्रक्षेपरूप ऊह होवे [इस आधे सूत्र से पूर्वपक्ष का निर्देश किया है, अगले आधे सूत्र से उत्तरपक्ष का निर्देश किया है] मन्त्र के (चोदिताभिधानात्) चोदित अर्थ के अभिधान से विधिविहित का प्रकाशन होता है, इस नियम से (तत्र) दर्शपौर्णमास में सवितृ आदि देवता वाला याग (अचोदितम्) अविहित होने से (अप्राप्तम्) ऊह प्राप्त नहीं होता है।

व्याख्या—इस प्रकार के शब्दों का ऊह नहीं करना चाहिये। अविहित ऊह प्राप्त नहीं होता। चोदितार्थाभिधानमन्त्रस्य इसका कथन करते हैं—सवित्रादि शब्द [दर्शपूर्णमास में] असमवेत (=असम्बद्ध) अर्थ को कहनेवाले हैं। कैसे? यहां [=दर्शपूर्णमास में] सविता आदि देवतावाले कर्म नहीं कहे गये हैं। और अग्नि आदि के अर्थों में सविता आदि शब्द प्रसिद्ध नहीं हैं। (पूर्वपक्ष) इस विषय में कहते हैं—अर्थापत्ति से दोनों में से एक अर्थ जाना जाता है, यह कह चुके। इस देवतावाले कर्म के होने पर सवितादि वाक्य उपपन्न होते हैं, अथवा सवितादि के अग्नि आदि का वाचक होने से। जो हवि का देवता है, वह मन्त्र वचन के द्वारा प्रकाशित करने योग्य है, निर्वाप वाक्य में सवित्रादि शब्द प्रकाशन के लिये हैं। वे हवि के देवता का प्रकाशन करते हैं [अतः] उपपन्न होते हैं, अन्य प्रकार उपपन्न नहीं होते। अग्नि आदि हवि के देवता हैं, इस से वे उन अर्थों [हविर्देवताओं] को कहनेवाले हैं, यह जाना जाता है।

(समाधान) इस विषय में कहते हैं—यदि कल्पना न करने पर इन [सविता आदि पदों का] आनर्थक्य होवे तो उक्त दोनों अर्थों में से एक की कल्पना उपपन्न होवे। अर्थ के अभिधान के साथ संयोग होने से मन्त्रों में शेषभाव होता है। इस प्रकार कल्पना न करने पर भी आनर्थक्य नहीं है। इस कारण अन्यतर की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। इन शब्दोंवाले

देवताः। तत्राचोदितमप्राप्तमूहं, चोदिताभिधानात् ॥३६॥

अथ यदुक्तं, प्रत्यायकेन शब्देन प्रकाश्यन्ते देवताः तत्राप्यश्रुतानां प्रकाशने न किंचिदस्ति प्रयोजनमिति। तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—

ततश्चावचनं तेषामितरार्थं प्रयुज्यते ॥३७॥

ततश्च—तेन कारणेन, अश्रुतानां वचनं न क्रियते सवित्रादिभिः शब्दैः। केन तर्हि कारणेन क्रियते? इतरार्थं प्रयुज्यते। निर्वापस्तुत्यर्थम्। देवस्य सवितुः प्रसवे—देवेन सवित्रा यजमानेन प्रसूते, उदिते वा सवितरि। अश्विनोर्बाहुभ्यां परिक्रयमभिप्रेत्य[1] यजमानयोर्दम्पत्योर्बाहुभ्याम्। अश्विनौ हि तौ अग्न्याधेयेऽश्वदानेन,

---

देवता [दर्शपूर्णमास में] नहीं कहे गये हैं। इस कारण अचोदित है ऊह अप्राप्त है। चोदित [देवता]के कथन से [अर्थात् दर्शपूर्णमासों में विहित देवता अग्न्यादि ही हैं, सविता आदि नहीं। चोदित देवता के विषय में ही ऊह होता है]।३६॥

व्याख्या—जो यह कहा—प्रत्यायक (=अर्थ का बोध करानेवाले) शब्द से [सविता आदि] देवताओं का प्रकाशन होता है। उस स्थिति में [दर्शपूर्णमासों में] अश्रुत देवताओं के प्रकाशन में कोई प्रयोजन नहीं है। उसका परिहार करें। इस विषय में कहते हैं—

ततश्चावचनं तेषामितरार्थं प्रयुज्यते ॥३७॥

सूत्रार्थः—(ततः) इस कारण से (तेषाम्) दर्शपूर्णमासों में अश्रुत देवताओं का (अवचनम्) कथन सविता आदि शब्दों से नहीं करते हैं। (इतरार्थम्)अन्य प्रयोजन जो निर्वाप है, उसकी स्तुति के लिये (प्रयुज्यते) प्रयुक्त होते हैं। (च) यह पादपूर्त्यर्थक है।

विशेष—ततश्चावचनं तेषाम्, इतरार्थं प्रयुज्यते। यह अनुष्टुप् छन्द के दो चरण हैं। यह सूत्र किसी प्राचीन श्लोकबद्ध मीमांसाशास्त्र से लिया गया है। अतएव यहां 'च' पादपूर्त्यर्थकमात्र है। पाणिनीय सूत्रपाठ एवं धातुपाठ में अनेकों ऐसे छन्दोबद्ध अंश हैं, जो प्राचीन किसी व्याकरण से यथावत् संगृहीत हो गये हैं। द्र०—हमारा 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास'' भाग १, पृष्ठ २४९-२५२ (सूत्रों के लिये), भाग २, पृष्ठ ७५-७८ (धातुपाठ के लिये)।

व्याख्या—ततश्च—उस कारण से अश्रुत देवताओं का वचन नहीं करते सवित्रादि शब्दों से। तो किस कारण से किया जाता है? इतर के लिये प्रयुक्त होता है, निर्वाप की स्तुति के लिये। देवस्य सवितुः प्रसवे—सविता देव यजमान से प्रसूत [निर्वाप] में, अथवा सविता के उदय होने पर। अश्विनोर्बाहुभ्याम्—परिक्रयमभिप्रेत्य यजमान दम्पतियों के बाहुओं से। वे दोनों (=यजमान दम्पती) ही अग्न्याधेय में अश्व के दान से [अश्विनौ हैं],

---

१. 'परिक्रयमभिप्रेत्येति—अध्वर्योः परिक्रीतत्वात्तदीयबाह्वोर्यजमानसम्बन्धित्वं परिक्रयमभिप्रेत्येत्यर्थः' इति पुणेसंस्करणे टिप्पणी।

अशितवन्तौ वा यद् यज्ञफलमश्नुवाते। तद्बाहू इति स्वौ बाहू व्यपदिशति। देवताध्वर्य्योर्वाऽश्विनोरेतौ बाहू इति। पूषणं तु यजमानमेव मन्यते पुष्णातेः। एवं सर्वे निर्वापविशेषप्रकाशनार्थाः।

अत्राऽऽह। कस्मान्नोत्कृष्टाः सवित्रादयः शब्दाः प्रकरणान्तरे सवितारम् अश्विनौ पूषणं चाभिवदन्ति ? लिङ्गेन तत उत्कृष्यमाणाः प्रकरणं बाधितुमर्हन्ति। अत्रोच्यते। सवित्रादयः परविशेषणं विभक्तिश्रुत्या क्रियन्ते। प्रातिपदिकार्थस्त्वव्यतिरिक्त इति गम्यते। तत्र लिङ्गं श्रुत्या बाध्यते। लिङ्गं हि प्रातिपदिकार्थप्रकाशनं देवतार्थमिति कृत्वा, इह देवताभावाद् यत्र देवता तत्रोत्कर्षति। विभक्तिश्रुतिस्तु प्रातिपदिकार्थं पदार्थान्तरविशेषणं ज्ञापयति। तच्चेहास्ति पदान्तरम्। श्रुतिश्च लिङ्गाद् बलीयसी। तस्मान्नोत्कर्षः।

आह। यदा सवित्रादयो यजमानपराः, तदा सत्रे कथमनूह इति ? उच्यते। जोषणार्थमिदं वाक्यं, नानुज्ञापनार्थम्। अजोषितस्य जोषणं कर्तव्यम्। तत्र

अथवा अशितवान् हैं जो यज्ञफल का भोग करते हैं। उस [परिक्रीत अध्वर्यु]के बाहुओं को स्व-बाहु कथन करता है। अथवा देवता और अध्वर्यु के अश्विनों के दो बाहु। पूषन् तो यजमान को ही मानते हैं पुष्णातेः=पोषण करने से। इस प्रकार सब निर्वाप विशेष के प्रकाशनार्थ[सवितादि शब्द] हैं।

विवरण—परिक्रयमभिप्रेत्य—अध्वर्यु के दक्षिणा द्वारा परिक्रीत होने से उस के बाहुओं द्वारा किया जा रहा निर्वाप यजमान दम्पतियों के बाहुओं से जानना चाहिये।

व्याख्या—(आक्षेप) इस विषय में कहते हैं—सवित्रादि शब्द किस हेतु से उत्कृष्ट हुए प्रकरणान्तर में पठित सविता अश्विनौ और पूषा को नहीं कहते ? लिङ्ग [रूप प्रमाण] से उस (=दर्शपूर्णमासों) से उत्कृष्ट हुए प्रकरण को बाध सकते हैं [अर्थात् लिङ्ग प्रकरण से बलवान् है]। (समाधान) इस विषय में कहते हैं—सवितृ आदि शब्द विभक्ति श्रुति से पर के विशेषण बनाये जाते हैं। प्रातिपदिकार्थ तो अव्यतिरिक्त (=सामान्य) है ऐसा जाना जाता है। इस कारण लिङ्ग श्रुति से बाधित होता है। लिङ्ग तो प्रातिपदिक के अर्थ का प्रकाशन देवता के लिये है, इस कारण यहां (=दर्शपूर्णमासों में)[सविता आदि] देवताओं का अभाव होने से जहां वह देवता होवे वहां देवता उत्कृष्ट होता है, परन्तु विभक्ति श्रुति तो प्रातिपदिकार्थ को पदार्थान्तर का विशेषण बताता है। वह [निर्वाप रूप] पदार्थान्तर यहां है। श्रुति लिङ्ग से बलवती है। इस कारण [सवित्रादि का]उत्कर्ष नहीं होता।

(आक्षेप) जब सवित्रादि पद यजमानपरक हैं तो सत्र में [सब के यजमान होने से] कैसे अनूह (=ऊह का अभाव) होगा ? (समाधान) जोषण (=प्रीति) के लिये यह वाक्य है, अनुज्ञा के ज्ञापन के लिये नहीं है। अजोषित (=अप्रीतिकर) का जोषण करना

दृष्टोऽर्थः। अनुज्ञापनं पूर्वं वृणानेन कृतं, तददृष्टार्थमापद्येत। अपि च, जुष्टं निर्वपामि इति, जोषणकरणं निर्वपामीति भावशब्देनोच्यते। सवितुः प्रसवे, इत्यनुज्ञानिर्वृत्ता परविशेषणार्थं कीर्त्यते। अननुज्ञातमपि निर्वपणशब्दार्थं[1] कुर्यादेव, न त्वजोषितेन यागः श्रूयते। तस्माज्जोषणार्थत्वात् परार्थाः सवित्रादयः शब्दा नोहिष्यन्त इति ॥३७॥

❁★❁

[निर्वापमन्त्रे श्रुतस्याग्निशब्दस्य समवेतार्थस्य विकृतावूहाधिकरणम् ॥१२॥]

तस्मिन्नेव वाक्ये दर्शपूर्णमासयोः—अग्नये जुष्टं निर्वपामि[2] इति समाम्नायते। तत्रायमर्थः सांशयिकः—किमग्निशब्दोऽपि विकृतौ नोह्यते, सोऽपि न समवेतवचनः, उतोहितव्यः, समवेतवचनो हि स इति? किं प्राप्तम्? एवं चेत् तत्र संशयः—

गुणशब्दस्तथेति चेत् ॥३८॥ (पू०)

चाहिये। इसमें दृष्ट प्रयोजन है। [कर्म के लिये] अनुज्ञापन तो पूर्व ऋत्विजों के वरण करने वाले यजमान ने कर ही दिया। उस अवस्था में [यह अनुज्ञापन] अदृष्टार्थ होवे। और भी, जुष्टं निर्वपामि में जोषणकरण 'निर्वपामि' क्रियाशब्द से कहा जाता है। अनुज्ञा प्राप्त हो चुकी, इस कारण 'सवितुः प्रसवे' आदि पर (=अन्य) के विशेषण के लिये पढ़े जाते हैं। अननुज्ञात होते हुए भी [अध्वर्यु] निर्वपण शब्द का जो अर्थ है उसे कहेगा ही, किन्तु अजोषित (=अप्रीतिकर) से याग श्रुत नहीं है, [अर्थात् याग देवता के प्रीतिकर पदार्थ से ही किया जाता है]। इसलिये जोषण के लिये होने से परार्थ सवितृ आदि शब्द ऊहित नहीं होंगे ॥३७॥

❁★❁

व्याख्या—दर्शपूर्णमास के उसी वाक्य में अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि (=अग्नि के लिये प्रीतिकर का निर्वाप करता हूं) ऐसा पढ़ते हैं। वहां यह अर्थ सांशयिक है—क्या अग्नि शब्द भी विकृति में ऊहित नहीं होता, वह भी समवेत वचन (=वाक्य में सम्बद्ध होने वाले अर्थ को कहनेवाला) नहीं है, अथवा ऊहा करनी चाहिये, वह समवेतवचन है? क्या प्राप्त होता है? इस प्रकार वहां संशय है तो—

गुणशब्दस्तथेति चेत् ॥३८॥

सूत्रार्थः—अग्नि शब्द भी (तथा) सविता आदि के समान (गुणवचनः) गौण अर्थ को अर्थात् वाक्य में असमवेत अर्थ को कहनेवाला (इति चेत्) होवे तो विकृति में ऊहित न होवे।

---

१. 'निर्वपणं शब्दार्थं' इति पाठान्तरम्। २. यजुः १।१०।

सोऽपि गुणशब्दस्तथैवासमवेतवचनः। कुतः ? सवित्रादयोऽस्मिन् वाक्येऽसमवेतवचनाः। यद्यग्निशब्दोऽप्यसमवेतवचनः, एवमवैलक्षण्यं भविष्यति। अवैलक्षण्यं च न्याय्यम्। यदि समानं कारणं तेन न्यायेनावैलक्षण्यमुच्यते। समानं चेह कारणं, य एषां शब्दानामर्थः स इह प्रयोगे नास्तीति। **अग्नये जुष्टं निर्वपामि** इत्यस्यापि योऽर्थः स इह नास्ति। अग्नये जुष्टं निर्वपामि, इत्यनेन जुष्टस्य निर्वाप उच्यते। न चेह जुष्टस्य निर्वापोऽस्ति। अजुष्टं चेह निर्वप्तव्यम्। निर्वापेणैव तज्जोष्यते। तस्मान्न समवेतवचनः। तस्याप्यश्रुतार्थस्य वचनमितरार्थं[1] प्रयुज्येत, निर्वापस्तुत्यर्थेनेति। तस्मादेतदपि विकृतौ नोहितव्यमिति ॥३८॥

न समवायात् ॥३९॥ (उ०)

नैतदेवम्। समवेतवचनो हि **अग्नये जुष्टं निर्वपामि** इति। नन्वेतदुक्तं,

---

व्याख्या—वह भी गुणशब्द है, उसी प्रकार असमवेत वचन है। किस हेतु से ? सवितृ आदि इस वाक्य में असमवेत के वाचक हैं। यदि अग्नि शब्द भी असमवेतवचन हो तो इस प्रकार अवैलक्षण्य (=सवित्रादि के समान) होगा। अविलक्षणता (=समान होना) न्याय्य है। यदि समान कारण है तो उस न्याय से अवैलक्षण्य कहा जाता है। यहां कारण समान है, जो इन [=सवित्रादि]शब्दों का अर्थ है, वह इस प्रयोग में नहीं है। अग्नये जुष्टं निर्वपामि इसका भी जो अर्थ है वह यहां नहीं है। अग्नये जुष्टं निर्वपामि इस से जुष्ट (=सेवित) का निर्वाप कहा जाता है। यहां सेवित का निर्वाप नहीं है। असेवित का यहां निर्वाप करना चाहिये। निर्वाप के द्वारा ही वह सेवित होता है। इस से [अग्नि शब्द] समवेतवचन नहीं है। उस [अग्नि] का भी अश्रुत अर्थवाले का वचन इतर के लिये प्रयुक्त होता है, निर्वाप की स्तुति प्रयोजन से। इससे यह (=अग्नि शब्द) भी विकृति में ऊहा के योग्य नहीं है ॥३८॥

विवरण—जुष धातु के दो अर्थ हैं—प्रीति और सेवन (जुषी प्रीतिसेवनयोः)। पूर्व सूत्र में प्रीति अर्थ स्वीकार किया था। यहां 'सेवन' अर्थ स्वीकार करके पूर्वपक्षी कहता है कि जिस द्रव्य का निर्वाप किया जाता है वह अग्नि से सेवित नहीं है। निर्वाप होने पर ही वह अग्नि से सेवित होगा। अतः यहां असमवेत अर्थ होने से विकृति में अग्नि का ऊह नहीं होगा।

न समवायात् ॥३९॥

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है कि अग्निशब्द असमवेतार्थ को कहनेवाला है, अपितु (समवायात्) अग्नि शब्द का वाक्य के साथ समवाय=सम्बन्ध होने से सौर्यादि विकृति में अग्नि का ऊह होगा।

व्याख्या—इस प्रकार नहीं है। समवेतवचन ही है—अग्नये जुष्टं निर्वपामि।

---

१. 'वचनमुत्तरार्थम्' इति काशीसंस्करणे पाठः। 'वचनमितरार्थस्य' इति पुणेसंस्करणे पाठः। उपर्युक्तस्तु पाठ आचार्यवर्यैरध्यापनकाले निर्दिष्टः।

जुष्टस्यात्र निर्वाप उच्यते। न च जुष्टं निर्वप्तव्यमिति। अत्रोच्यते। नैव जुष्टस्य निर्वाप एतेन वाक्येनोच्यते। किं तर्हि ? निर्वापेण जुष्टकरणम्, अग्नये जुष्टं करोमि इति। एवं हि दृष्टार्थं भवतीति। अतोऽतुल्यकारणत्वाद् वैलक्षण्यमेव न्याय्यम्। तस्मात् समवेतवचनोऽग्निशब्द ऊहितव्यश्च विकृताविति ॥३६॥

एवं वा—

दर्शपूर्णमासयोरामनन्ति[1]—धान्यमसि धिनुहि देवान्[2] इति दृषदि तण्डुलानावपतति[3] इति। तत्र धान्यशब्दं प्रति संशयः—किं समवेतवचनो न वेति ? किं प्राप्तम्[4] ?

गुणशब्दस्तथेति चेत् ॥३८॥ (पू०)

योऽयं गुणशब्द[5] एव लक्ष्यते धान्यशब्दः, नासौ समवेतवचनः स्यात्। धान्य-

---

(आक्षेप) यह कहा है जुष्ट (=सेवित) का यहां निर्वाप कहा है, और सेवित निर्वाप योग्य नहीं है। (समाधान) इस विषय में कहते हैं—सेवित का निर्वाप इस वाक्य से नहीं कहा जाता है, तो क्या कहा जाता है ? निर्वाप से जुष्टकरण—अग्नि के लिये जुष्ट (=सेवित) करता है। इस प्रकार ही यह दृष्टार्थ होता है। इससे तुल्यकारण न होने से [सवित्रादि से अग्नि का] वैलक्षण्य ही न्याय्य है। इससे अग्नि शब्द समवेतवचन है और विकृति में ऊहितव्य है ॥३६॥

व्याख्या—अथवा इस प्रकार [अधिकरण की योजना] जाननी चाहिये—

दर्शपूर्णमासों में पढ़ते हैं—धान्यमसि धिनुहि देवान् (=तुम धान्य हो, देवों को तृप्त करो) ऐसा बोलकर शिला पर तण्डुलों का आवपन करता है [अर्थात् शिला पर तण्डुलों को रखता है]। यहां धान्य शब्द के प्रति संशय है—क्या यह समवेतवचन है या नहीं ? क्या प्राप्त होता है ?

गुणशब्दस्तथेति चेत् ॥३८॥

सूत्रार्थः—धान्य शब्द (तथा) उसी प्रकार है जैसे सवित्रादि (गुणशब्दः) गौण शब्द है। (इति चेत्) ऐसा होवे तो इसका विकृति में ऊह नहीं होगा।

व्याख्या—जो यह [धान्य शब्द है वह] गुण शब्द ही विदित होता है। यह समवेत

---

१. 'दर्शपूर्णमासयोरिदं समामनन्ति' इति पाठान्तरम्।

२. तै० सं० १।१।६।१॥

३. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—आप० श्रौत १।२१।५—दृषदि तण्डुलान् अधिवपति।

४. 'किं तावत् प्राप्तम्' इति पाठान्तरम्।

५. 'गुणवचनशब्दः' इति पाठान्तरम्।

शब्दो हि धान्यमभिवदति न तु धान्यमेवोप्यते। सतुषे हि धान्यशब्दो वर्तते। तण्डुलेष्वेवोप्यमानेषु धान्यप्रकाशनं क्रियते। तदसमवेतस्य प्रकाशनेऽदृष्टं यथा स्यादिति। तस्माद् विकृतिषु नोहितव्यमिति ॥३८॥

न समवायात् ॥३९॥ (उ०)

नैतदेवम्। समवेतो हि धान्यशब्दार्थः। स हि तण्डुलेषु वर्तते तद्विकारत्वाल्लक्षणया। यथा, काशिकेषु शालयो भुज्यन्ते, गावः पीयन्त इति, श्रुत्युपादानेऽदृष्टं कल्पयितव्यमिति लक्षणाशब्दः परिकल्प्यते। तस्मात् समवेतवचनो विकारे चोहितव्य इति। प्रयोजनम्—

अस्ति शाक्त्यानामयनं षट्त्रिंशत्संवत्सरम्[1]। तत्रेदं समाम्नायते—**संस्थिते संस्थितेऽहनि गृहपतिर्मृगयां याति, स तत्र यान् मृगान् हन्ति, तेषां तरसाः सवनीयाः पुरोडाशा भवन्ति**[2] इति। तत्राविकारेण धान्यमसि धिनुहि देवान् इति प्रयोगः

(=प्रकरण में सम्बद्ध) को कहनेवाला नहीं होवे। धान्य शब्द धान्य (=धान) को कहता है, [शिला पर पीसने के लिये] धान्य को नहीं रखा जाता। तुष सहित में धान्य शब्द प्रयुक्त होता है। तण्डुलों के ही शिला पर रखे जाते हुए धान्य का प्रकाशन (=कथन) किया जाता है, उस असमवेत के प्रकाशन में अदृष्ट जैसे होवे [अर्थात् असमवेत का निर्देश अदृष्टार्थ है] इससे विकृति में [धान्य शब्द का] ऊह नहीं करना चाहिये ॥३८॥

न समवायात् ॥३९॥

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है कि धान्य शब्द असमवेत अर्थ को कहनेवाला है, अपितु (समवायात्) धान्य शब्द लक्षणा द्वारा समवेत अर्थ तण्डुल को कहता है। अत: उसका विकृति में ऊह होगा।

व्याख्या—ऐसा नहीं है। धान्य शब्द का अर्थ समवेत (=सम्बद्ध) है। धान्य का विकार होने से लक्षणा से वह तण्डुलों में प्रयुक्त है। जैसे—काशी जनपद में शालि खाये जाते हैं, गौयें पी जाती हैं। श्रुति शब्द के उपादान में अदृष्ट की कल्पना करनी होगी, इस कारण लक्षणा शब्द की परिकल्पना की जाती है। इससे [धान्य शब्द के] समवेतवचन होने से विकृति में ऊहितव्य है। इस विचार का प्रयोजन है—

३६ वर्ष का शाक्त्यानामयन नाम का सत्र है। वहां पढ़ा है—संस्थिते संस्थितेऽहनि गृहपतिर्मृगयां याति, स तत्र यान् मृगान् हन्ति तेषां तरसाः सवनीयाः पुरोडाशा भवन्ति (=प्रतिदिन कर्म समाप्त होने पर गृहपति मृगया के लिये जाता है, वह मृगया में

---

१. ताण्ड्य ब्रा० २५।७।१॥ कात्या० श्रौत २४।५।२०॥ आप० श्रौत २३।११।१॥

२. पूर्वत्र मी० भाष्य ३।८।४२॥ अतिस्वल्पभेदेन आप० श्रौत २३।११।१२-१३॥ कात्या० श्रौत २४।५।२०॥

कर्तव्यः, पूर्वः पक्षः। यथा सिद्धान्तः, ऊहः कर्तव्यः, **मांसमसि धिनुहि देवान्** इति ॥३६॥

जिन मृगों को मारता है, उनके मांस के सवनीय पुरोडाश होते हैं)। वहां बिना विकार के धान्यमसि धिनुहि देवान् ऐसा प्रयोग करना चाहिये, जैसा कि पूर्वपक्ष है और जैसा सिद्धान्त है—ऊह करना चाहिये—मांसमसि धिनुहि देवान्।

विवरण—तद्विकारत्वाल्लक्षणा—'दृषदि तण्डुलानावपति' इस उद्धरण में तण्डुल का निर्देश है। मन्त्र में धान्य शब्द का निर्देश है। धान्य शब्द सतुष 'धान' का वाचक है। उसकी उपपत्ति के लिये **तद्विकारात्वाल्लक्षणया तण्डुलेषु** वर्तते कहा गया है। यवमय पुरोडाश में **धान्यमसि** मन्त्र का समन्वय कैसे होगा, इस पर श्रौतसूत्र-व्याख्याकारों का सकेत नहीं मिलता। कात्या० श्रौत २।५।६ में **तण्डुलानोप्य पिनष्टि** कहा है। इस पर विद्याधर कृत व्याख्या में टिप्पणी में **'अत्र धान्यशब्दो लक्षणया तण्डुलवाचकः'** लिखकर ( ) कोष्ठ में लिखा है—**तण्डुलशब्देन ओदनो यवाश्च गृह्यन्ते।** इस प्रकार धान्यमसि मन्त्र को यवों के पेषण में सङ्गत माना है। धान्य का अपभ्रंश धान शब्द प्रायः सतुष तण्डुलों में ही प्रयुक्त होता है तथापि राजस्थानादि कुछ प्रदेशों में धान शब्द अन्नमात्र के लिये भी प्रयुक्त होता है।

शावत्यानामयन सम्बन्धी यह उद्धरण पूर्वत्र मी० ३।८।४२ पर उद्धृत है। इस उद्धरण का एकदेश **तरसमयाः पुरोडाशाः सवनीयाः** मी० २।१।१२ भाष्य में भी उद्धृत है। वहां हमने इस वाक्य पर विवरण में विशेषरूप से लिखा है, अतः पाठक महानुभाव मी० भा० २। १।१२, भाग २, पृष्ठ ३८४, ३८५ में देखें। पिष्टपेषण से बचने के लिये हम यहां कुछ नहीं लिखते।

तरसाः सवनीयाः पुरोडाशाः—इस विषय में कात्या० श्रौत २।५।६ की विद्याधरकृत व्याख्या में नीचे टिप्पणी ४ में जो लिखा है, उसका भाषानुवाद इस प्रकार है—वहां पुरोडाश प्रकृतिभूत मांसों का तण्डुलस्थानापन्न होने से पेषण भी प्राप्त होता है। पेषण का अङ्गभूत **'धान्यमसि'** मन्त्र के भी प्राप्त होने पर 'धान्य' पद के स्थान में 'तरस' पद का प्रक्षेप करना चाहिये। प्रकृति (=दर्शपूर्णमास) में यद्यपि धान्य शब्द सतुष द्रव्यपरक लक्षणा से तण्डुल में प्रयुक्त हुआ है, तथापि विकृति में लाक्षणिक 'मृग' शब्द का प्रयोग समुचित नहीं है। 'स्वाधीन शब्द प्रयोग में लाक्षणिक का क्यों प्रयोग करें' (टुप्टीका ६।१।३) इस न्याय से। इसलिये 'धान्य' पद के स्थान में 'तरस' शब्द का प्रयोग करना चाहिये। 'वस्तुतः पिष्टपिण्डरूप पुरोडाश मांस से करना अशक्य होने से उसके लिये पेषण की वहां प्राप्ति ही नहीं है, तो पेषण अङ्गभूत मन्त्र की प्रवृत्ति तो दूर की बात है। तथापि यह कृत्वा चिन्ता है, न्याय के कथन के लिये यह मीमांसा ३।८। अधि० २२ (सूत्र ४२) में कहा है। कुछ लोग केवल मांस से पुरो-

[इडानिगदे यज्ञपतिशब्दस्यासमवेतार्थकस्य विकृतावनूहाधिकरणम् ॥१३॥]

स्तो दर्शपूर्णमासौ—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत इति। तत्र इडानिगदः—इडोपहूता[1]—इत्येवमादिः। तत्रेदमाम्नायते—दैव्या अध्वर्यव उपहूता उपहूता मनुष्या य इमं यज्ञमवान्, ये च यज्ञपतिं वर्धान्[2] इति। तत्रायमर्थः सांशयिकः—किं बहुयजमानके यज्ञपतिशब्द ऊहितव्य उताविकारेण प्रयोक्तव्य इति? तत्रेदं तावत् परीक्ष्यते—किं समवेतवचनो यज्ञपतिशब्द उतासमवेतवचन इति? कथं समवेतवचनः? यदि यज्ञपतिवृद्धिवचनं यज्ञपतेरुपकारकं, ततः समवेताभिधायी। अथैतत् स्तुत्यर्थं ततो न समवेताभिधायी।

डाशकरण के असम्भव होने पर भी तण्डुलमिश्रित मांस से पुरोडाश बनाया जा सकता है। अतः तण्डुलमिश्रित मांस का पेषण होता ही है। उसके लिये वहां मन्त्र की प्राप्ति होती ही है, इस पक्ष में पदान्तर (तरस) का प्रक्षेपरूप ऊह होता ही है, ऐसा कहते हैं ॥३६॥

व्याख्या—दर्शपूर्णमास [विहित] हैं—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत। वहां इडानिगद पढ़ा है—इडोपहूता इत्यादि। उस (=इडानिगद) में पढ़ा है—दैव्या अध्वर्यंव उपहूता उपहूता मनुष्या य इमं यज्ञमवान्, ये च यज्ञपतिं वर्धान् (=दैव्य अध्वर्यु उपहूत हुए=बुलाये गये, और मनुष्य अध्वर्यु बुलाये गये, जो इस यज्ञ की रक्षा करते हैं और जो यज्ञपति को बढ़ाते हैं)। वहां यह अर्थ सांशयिक है—क्या बहुयजमानवाले याग में यज्ञपति शब्द की ऊहा करनी चाहिये अथवा अविकार (=विना विकार किये यथातथ रूप) से प्रयोग करना चाहिये? इस में पहले इसकी परीक्षा की जाती है—क्या यज्ञपति शब्द समवेत वचन है अथवा असमवेत वचन? कैसे समवेत वचन होवे? यदि यज्ञपति का वृद्धिवचन यजमान का उपकारक होवे, तो यह समवेत अर्थ को कहनेवाला है, और यदि यह स्तुत्यर्थ है तो समवेत अर्थ को कहनेवाला नहीं है।

विवरण—दैव्या अध्वर्यवः—सायण ने तै० सं० २।६।७॥ में लिखा है—अश्विनौ हि देवानमध्वर्यू आस्ताम् (तै० सं० २।६।४) इत्यादि श्रुति में श्रुत दैव्य अध्वर्युवों का ग्रहण जानना चाहिये। सायण ने तै० सं० २।६।४ के जिस पाठ की ओर संकेत किया है, वहां पाठ है—अश्विनोर्बाहुभ्यामित्याह, अश्विनौ हि देवानामध्वर्यू आस्ताम्, पूष्णो हस्ताभ्यामित्याह यत्यै। यहां २ अश्विनौ और १ पूषा=ये ३ दैव्य अध्वर्यु हैं।

---

१. तै० ब्रा० ३।५।८।२॥
२. तै० ब्रा० ३।५।८।३॥

किं प्राप्तम् ? ऊहितव्यः समवेताभिधायीति । कथम् ? यज्ञपतिवृद्धिवचनाद् यज्ञपतयः प्रोत्सहन्ते । इडापदानपेक्षैश्च पदैर्यज्ञपतिवृद्धिरभिधीयते । तस्मान्मुख्यः प्रत्यय इडास्तुतौ जघन्यः । तस्मादर्थविप्रकर्षान्नेडास्तुतिः । अतो यज्ञपतिशब्द ऊहितव्यः । यस्यैव वृद्धिर्नोच्यते, स एवोत्साहसंस्कारेण संस्कृतो न स्यात् । तस्मात् सर्वे वृद्धिसंस्कारार्थं वदितव्याः । सर्वेषु वदितव्येषु बहुवचनम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

चोदिते तु परार्थत्वाद् विधिवदविकारः स्यात् ॥४०॥ (उ०)

चोदिते तु परार्थत्वाद्विधिवदविकारः स्यात् । चोदितमपि यत्, समवेतं परार्थं कीर्त्यते[1] न स्वसंस्कारार्थं, तदप्यविकारेण प्रयुज्यते । तन्नोहितव्यं स्यात् । परार्थत्वात् । अत्र हि यज्ञपतिवचनं वृद्धिविशेषणार्थं, वृद्धिवचनं चेडास्तुत्यर्थम् । कथमवगम्यते ? इडोपह्वानेनैकवाक्यत्वात् । इडाप्रकरणाच्च ।

व्याख्या—क्या प्राप्त होता है ? ऊहा करनी चाहिये, [यजमान शब्द] समवेत अर्थ को कहनेवाला है । कैसे ? यज्ञपति की वृद्धि वचन से यज्ञपति प्रोत्साहित होते हैं । इडा पदों की अपेक्षा रखनेवाले पदों से यज्ञपति की वृद्धि कही जाती है । इस से [यज्ञपति का] मुख्य अर्थ है, इडा की स्तुति में [यज्ञपति का] हीन [लाक्षणिक] अर्थ होता है । इसलिये अर्थ के विप्रकर्ष से इडा की स्तुति नहीं है । अतः यज्ञपति शब्द [बहुयजमानवाले यागों में] ऊहितव्य है । जिस [यजमान] की वृद्धि नहीं कही जाती, वह ही उत्साहरूप संस्कार से संस्कृत नहीं होगा । इस से सबका वृद्धि संस्कार के लिये कथन करना चाहिये । सब के कहने में बहुवचन होना चाहिये । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

चोदितं तु परार्थत्वाद् विधिवदविकारः स्यात् ॥४०॥

सूत्रार्थः—(चोदितम्) यज्ञपति शब्द के चोदित=पठित होने पर (तु) भी (परार्थत्वात्) इडा की स्तुति के लिए होने से (अविकारः) विकार=ऊह न (स्यात्) होवे (विधिवत्) विधि के समान । जैसे सत्र में अनेक यजमान होने पर भी यजमानसम्मिता औदुम्बरी भवति विधि में किसी एक यजमान के बराबर ऊंची औदुम्बरी होने से विधि सम्पन्न हो जाती है, तद्वत् यहां भी एक यजमान की वृद्धि कहने से सब यजमान अपनी वृद्धि अनुभव करते हैं ।

व्याख्या—चोदित (=पठित) हुआ भी [यजमान शब्द] परार्थ होने से विधि के समान अविकृत (=अनूहित) होवे । चोदित भी जो समवेत परार्थ कीर्तित होवे, स्वसंस्कार के लिये न होवे वह भी अविकार से प्रयुक्त किया जाता है । वह ऊहा के योग्य न होवे, परार्थ होने से । यहां यज्ञपति वचन वृद्धि के विशेषण के लिये है और वृद्धि वचन इडा की स्तुति के लिये । यह कैसे जाना जाता है ? इडा के उपह्वान (=बुलावे) के साथ एक वाक्य होने से और इडा के प्रकरण से ।

---

१. 'चिकीर्ष्यते' इति पाठान्तरम् ।

अथ यदुक्तं—गम्यते इडापदानपेक्षं यज्ञपतिवृद्धिवचनं तेषामुत्साहकम् । उपहूता मनुष्या ये यज्ञपतिं वर्धयेयुरिति । अत्रोच्यते—**स यो हैवं विद्वानिडया चरति**[1] इत्यभिधाय **अथ प्रतिपद्यते, इडोपहूतोपहूतेडोपास्माँ इडाह्वयतामिडोपहूतेति**[2] आह । तेनावगम्यते यस्यैष आरम्भः स इडाया मन्त्र इति । तन्मध्यपतितश्च, **उपहूता मनुष्या** इत्येवमादिः, **यज्ञपतिं वर्धान्** इत्यन्तः । तस्मादिडामुपह्वातुं वदितव्य इति वाक्यादवगम्यते । समर्थश्चेडोपाह्वाने । यजमानं तु प्रोत्साहयितुं वदितव्य इति नास्ति वाक्यम् । केवलं वदितुं सामर्थ्यमस्ति । न च सामर्थ्यमात्रेण वाक्यादृते विनियोगा भवन्ति । इडाप्रकरणं चैवमनुगृहीतं भविष्यतीति । इडया च सहैकवाक्यता । तस्मादियं वचनव्यक्तिः, उपहूता मनुष्या ये यज्ञपतिं वर्धयितुं समर्था इति । तत्र यज्ञपतिविशिष्टा वृद्धिर्वक्तव्येति, एकस्मिन्नपि यजमाने कीर्तिते भवति विशेषणकार्यम् । तस्मादविकारः स्यात् । विधिवत् । यथा तत्र यजमानो गुणभूतो विधीयते, तत्र येन केनचिद् यजमानेन स विधिः सिध्यति । यथा—यजमानसम्मितौ-

---

विवरण—इडोपह्वानेनैकवाक्यत्वात्—याग करने के अनन्तर शेष बचे पुरोडाश, जो इडापात्री में रखे हुए हैं, उनका तात्स्थ्य उपाधि से **मञ्चाः क्रोशन्ति** के समान यहां इडा शब्द से निर्देश किया है । इडापात्रीस्थ पुरोडाश के भक्षण के लिये इस मन्त्र में अध्वर्यु आदि को निमन्त्रित किया जाता है अर्थात् सब परस्पर एक दूसरे की अनुज्ञा से इडापात्र पुरोडाशों के अपने-अपने भाग का भक्षण करते हैं । इसे 'इडाभक्षण' कहा जाता है ।

व्याख्या—**और जो यह कहा है—इडा पद से अनपेक्ष (=अपेक्षा न रखते हुए) यज्ञपति की वृद्धि का वचन उनका उत्साहक होता है—उपहूत हुए जो मनुष्य हैं, वे यज्ञपति को बढ़ावें । इस विषय में कहते हैं**—स यो हैवं विद्वानिडया चरति (**=वह जो विद्वान् इस प्रकार इडा से व्यवहार करता है) ऐसा बोलकर** अथ प्रतिपद्यते इडोपहूतोपहूतेडोपास्माँ इडाह्वयतामिडोपहूतेति (**=अनन्तर इडा का आह्वान करता है—इडा उपहूत हुई, उपहूत हुई इडा हमको इडा बुलावे इडा उपहूत हुई) ऐसा कहा है । इससे जाना जाता है कि जिस का यह आरम्भ है, वह इडा का मन्त्र है । और उस मन्त्र के मध्य में पड़ा हुआ** उपहूता मनुष्याः **से लेकर** यज्ञपतिं वर्धान् **पर्यन्त । इसलिये इडा के उपह्वान के लिये बोलना चाहिये, ऐसा वाक्य से जाना जाता है । और समर्थ है इडा के उपाह्वान में । यजमान को प्रोत्साहित करने के लिए बोलना चाहिये, ऐसा वचन नहीं है । केवल बोलने के लिये सामर्थ्य है । और सामर्थ्यमात्र से, वाक्य के बिना विनियोग नहीं होते । इसलिये यह वचन—'उपहूत हुए ये मनुष्य यजमान को बढ़ाने में समर्थ हैं । वहां यज्ञपति से विशेषित वृद्धि कहने योग्य है । अतः एक यजमान के भी कीर्तित (=कहे जाने) होने पर विशेषण कार्य सम्पन्न हो जाता है । इस से अविकार (=ऊहाभाव) होवे । विधि के समान । जहां यजमान गुणभूत कहा जाता है, वहां जिस किसी यजमान से वह विधि सिद्ध हो जाती है । जैसे**—यजमानसम्मितौदुम्बरी भवति (**=यजमान-**

---

१. शत० १।८।१।११॥ २. शत० १।८।१।२४॥

दुम्बरी भवति[1], **शुक्रं यजमानोऽन्वारभते**[2] **इति ॥४०॥**

[सूक्तवाके श्रूयमाणस्य यजमानपदस्य विकृतावूहाधिकरणम् ॥१४॥]

अस्ति दर्शपूर्णमासयोः सूक्तवाकः—**सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति**[3] इति। तत्रेदं समाम्नायते—**अयं यजमान आयुराशास्ते**[4] इति। तत्रायमर्थः सांशयिकः—किं बहुकर्तृके विकारे यजमानशब्द ऊहितव्य उत नेति? किं प्राप्तम्? अविकारेण प्रयोक्तव्यः। तथा सामर्थ्यमनुगृह्यते। न चायं समवेतवचनः। परार्थेन ह्यत्र—

प्रमाणवाली औदुम्बरी होती है), शुक्रं यजमानोऽन्वारभते (=शुक्रग्रह का यजमान स्पर्श करता है)। [तात्पर्य यह कि जहां अनेक यजमान हों तो किसी एक के बराबर औदुम्बरी का प्रमाण और किसी यजमान से शुक्रग्रह का स्पर्श किये जाने पर विधि पूर्ण हो जाती है।]

विवरण—भट्ट कुमारिल ने टुप् टीका में इस सूत्रभाष्य के विषय को सक्षेप में सुन्दर सरल रूप में इस प्रकार स्पष्ट किया है—"यज्ञपति शब्द वृद्धि का विशेषण है। वृद्धि इडा की स्तुति के लिये है। इडोपह्वान के एक वाक्य होने से। जो यह कहा कि 'इडा पद की अपेक्षा न करते हुए यज्ञपति का वृद्धिवचन जाना जाता है'। इस विषय में कहते हैं—'स यो हैवं विद्वान् इडया चरति इस वचन से इडा चरितव्य है, ऐसा विधान किया है। उस इडा के प्रचार का मन्त्र '**इडोपहूता**' से लेकर '**ब्रह्मदेवकृतमुपहूतम्**' पर्यन्त इडा के उपाह्वान के लिये है। '**दैव्या अध्वर्यवः**' इत्यादि ऋत्विजों के उपाह्वान के लिये है। अध्वर्यु शब्द वाच्य सब ऋत्विज् लक्षणा से '**उपहूता मनुष्याः**' से कहे जाते हैं। वे कैसे हैं? जो यज्ञ की रक्षा करते हैं और जो यज्ञपति को बढ़ाने में सक्षम हैं, इस प्रकार के मनुष्य बुलाए गये। इस से मनुष्य विशेषण होने से यज्ञपति शब्द परार्थ है। इस कारण ऊहित नहीं होता है।"

व्याख्या—दर्शपूर्णमासों में सूक्तवाक है—सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति (=सूक्तवाक से प्रस्तर का आहवनीय में प्रक्षेप करता है)। वहां यह पठित है—अयं यजमान आयुराशास्ते (=यह यजमान आयु की चाहना करता है)। इसमें यह अर्थ सांशयिक है—क्या बहुकर्तृक विकृतियाग में यजमान शब्द का ऊह करना चाहिये अथवा नहीं करना चाहिये? क्या प्राप्त होता है? विना विकार (=विना ऊह) के प्रयोग करना चाहिये। उस प्रकार [श्रुति] सामर्थ्य अनुगृहीत होता है। यह (=यजमान शब्द) समवेतवचन भी नहीं है, परार्थ

---

१. द्र०—यजमानेन सम्मितौदुम्बरी भवति। तै० सं० ६।२।१०।३॥ उत्तरसूत्रभाष्ये यथावत् पाठः।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—शुक्रमन्वारभन्ते। मै० सं० ४।६।३॥

३. अनुपलब्धमूलम्। ४. द्र०—तै० ब्रा० ३।५।१०।४ स्वल्पभेदेन।

यजमान आयुराशास्त इति। आयुराशासनेन[1] यजमानस्य न कश्चिद् दृष्टोऽर्थः संजन्यते। तस्मादायुराशंसनमदृष्टार्थम्। यजमानविशिष्टाऽऽशीरेकेनापि यजमानेन कीर्तितेन यथा श्रुता, तथा कृता भवति। यथा—**यजमानेन सम्मितौदुम्बरो भवति**[2] इति। तथैतत्। तस्मादविकारेण प्रयोक्तव्यमिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

विकारस्तत्प्रधाने स्यात् ॥४१॥ (उ०)

विकारः स्यादूहः। तत्प्रधाने यजमानप्रधाने। कथ यजमानप्राधान्यम् ? एवं श्रूयते—**सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति** इति। यदि सूक्तवाकः प्रस्तरप्रहरणे तत्साधनं, तत्फलं वा प्रकाशयति, ततः सूक्तवाकेन प्रस्तरः प्रहृतो भवति। प्रहरणफलमायुराशासनं कल्पितम्। यजमान आयुराशास्त एतेन कर्मणेति, यजमानेन[3] प्रस्तरः प्रहृतो भवति। तत्र य एव यजमानः फलं प्रति प्रधानभूतो न संकीर्त्यते, तेन न प्रहृतं स्यात्। तस्मात् सर्वे समवेताः संकीर्तयितव्याः। सर्वेषु च कीर्त्यमानेषु बहुवचनं भवति। तस्मादूहो यजमानस्येति ॥४१॥

से ही यहां प्रयुक्त है— यजमान आयुराशास्ते। आयु के आशसन से यजमान का कोई दृष्ट अर्थ सम्पन्न नहीं होता। इससे आयु का आशंसन अदृष्टार्थ है। यजमान से विशेषित आशीः एक यजमान से कही जाने से जैसी श्रुत है वैसी की हुई होती है। जैसे यजमानेन सम्मितौदुम्बरी भवति (=यजमान से नपी हुई=यजमान के बराबर ऊंची औदुम्बरी होती है)। उसी तरह यह (=आशीः) है। इससे अविकार से [यजमान का] प्रयोग करना चाहिये। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विकारस्तत्प्रधाने स्यात् ॥४१॥

सूत्रार्थः—(तत्प्रधाने) यजमान जहां प्रधान है वहां (विकारः) यजमान शब्द में विकार=ऊह (स्यात्) होवे।

व्याख्या—विकार ऊह होवे। तत्प्रधान=यजमान प्रधान में। यजमान का प्राधान्य कैसे है? ऐसा सुना जाता है—सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति (=सूक्तवाक से प्रस्तर का आहवनीय में प्रक्षेप होता है)। यदि सूक्तवाक प्रस्तर के प्रहरण में उस के साधन, अथवा उसके फल को प्रकाशित करता हैं तो सूक्तवाक प्रस्तर का प्रक्षेप होता है। प्रक्षेप का फल आयु की कामना कही गई है। यजमान आयु की कामना करता है इस कर्म से, तो यजमान के द्वारा प्रस्तर प्रक्षिप्त होता है। वहां (=प्रस्तर प्रहरण में) जो ही यजमान फल के प्रतिप्रधान-भूत संकीर्तित नहीं होता, उसके द्वारा प्रस्तर प्रक्षिप्त नहीं होवे। इसलिये सब यजमानों का संकीर्तन करना चाहिये। सबका संकीर्तन होने पर बहुवचन होता है। यजमान का ऊह होता है[—एते यजमाना आयुराशासते]।

---

१. आयुराशंसने यजमानस्य' इति पाठान्तरम्।

२. तै० सं० ६।२।१०।३॥ ३. 'यजमाने' इत्यपपाठः पुणेसंस्करणे।

[सुब्रह्मण्यानिगदे हरिवदादिगुणवाचकपदानामनूहाधिकरणम् ॥१५॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमः। तत्र सुब्रह्मण्यानिगदः समाम्नातः—**इन्द्र आगच्छ हरिव आगच्छ मेधातिथेर्मेष**[1] इत्येवमादिः। अग्निष्टुति च श्रूयते—**आग्नेयी सुब्रह्मण्या भवति**[2] इति। तत्रेन्द्रशब्दस्य स्थाने ऊहः क्रियते। अथेदानीं हरिव आगच्छ इत्येवमादिषु संशयः—ऊहितव्यं, नेति ? किं प्राप्तम् ?

असंयोगात्तदर्थेषु तद्विशिष्टं प्रतीयेत ॥४२॥ (उ०)

तद्विशिष्टं प्रतीयेत। तेन विशिष्टम्। इन्द्रपदस्थान ऊहः। एतेन[3] विशेषेण विशिष्टमविकृतमेव वचनं प्रतीयेत। कुतः? असंयोगात्तदर्थेषु। नैषां शब्दानां तेष्वर्थेषु संयोगः, हरिवत्तादिषु। न हरिवदादयः समवेता इन्द्रे विद्यन्ते गुणाः, प्रमाणाभावात्।

व्याख्या—ज्योतिष्टोम है—वहां सुब्रह्मण्या निगद पढ़ा है—इन्द्र आगच्छ हरिव आगच्छ मेधातिथेर्मेष (=हे इन्द्र आओ, हे दो हरि से युक्त आओ, हे मेधातिथि के मेष आओ) इत्यादि। अग्निष्टुत् में सुना जाता है—आग्नेयी सुब्रह्मण्या भवति (=अग्नि देवता वाली सुब्रह्मण्या होती है)। वहां इन्द्र पद के स्थान में ऊह करते हैं [अग्न आगच्छ]। अब हरिव आगच्छ इत्यादि में संशय है—इन में ऊह करना चाहिये अथवा नहीं करना चाहिये ? क्या प्राप्त होता है—

विवरण—ज्योतिष्टोम में शुक्रामन्थी आदि अनेक यागों में इन्द्र देवता के होने से इन्द्र शब्द युक्त है, परन्तु अग्निष्टुत्=केवल आग्नेय में इन्द्र के स्थान पर अग्नि पद का ऊह होता है—अग्न आगच्छ। शेष पदों में संशय है।

असंयोगात् तदर्थेषु तद्विशिष्टं प्रतीयेत ॥४२॥

सूत्रार्थः—(तदर्थेषु) हरि आदि अर्थों में (असंयोगात्) इन्द्र का संयोग न होने से (तद्विशिष्टम्) आग्नेयी सुब्रह्मण्या में हरि आदि विशिष्ट का ही प्रयोग (प्रतीयेत) जाने। अर्थात् हरिव आदि में ऊह न होवे।

व्याख्या—तद्विशिष्ट जाना जावे, उससे विशिष्ट। [अतः] इन्द्र पद के स्थान में ही ऊह होता है। इस विशेषण से विशिष्ट अविकृत (=अनूहित) ही वचन जाना जाये। किस हेतु से ? असंयोग होने से उन अर्थों में। इन (=हरिव) आदि शब्दों का उन अर्थों में संयोग नहीं है, हरिवत्तादि में। हरिवद् आदि गुण इन्द्र में समवेत नहीं हैं, प्रमाण न होने से। [इन्द्र

---

१. षड्विंश ब्रा० १।१ (खण्डशः)। लाट्या० श्रौत १।३।१।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—अग्निष्टुत् स्वाग्नेयो निगदः······अग्न आगच्छ। लाट्या० श्रौत १।४।१-२।

३. 'तेन विशेषणविशिष्टम्' इति पाठान्तरम्।

अविद्यमानास्तस्योच्यन्ते। एवं श्रुत्याऽर्थः[1] प्रतिज्ञातो भवति। इतरथा लक्षणा स्यात्। न हरिवत्तादय उच्येरन्। हरिवत्तादिभिः सोऽस्य गुणो लक्ष्यते। अथासमवेतवचना मुख्यार्था एव भविष्यन्ति। आत्मीयं गुणं न लक्षयिष्यन्तीत्युच्येत। तथाऽस्मत्पक्ष एव। तस्माददृष्टार्थं गुण उच्यत इत्यविकारेण प्रयोगः स्यात्।

तत्रैवं वचनव्यक्तिर्भवति—इन्द्र आगच्छ हरिव आगच्छ इति हरिवदादीनस्य गुणानारोपयति। हरिवदादिभिः सम्बध्यमानं इन्द्रोऽभ्युदयकारी भवतीति। शक्यते चाग्निरपि तैः सम्बन्धयितुम्। तस्मादविकारेण गुणानां प्रयोगः। अथोच्यते। अस्मादेव सामानाधिकरण्यवचनादिन्द्र एते गुणा विद्यन्त इति। तन्न। अविद्यमानेष्वपि स्तुत्याऽस्य सामानाधिकरण्यवचनमुपपद्यतेतैव। तथा, इन्द्रो बृहस्पतिर्देवदत्त इति ॥४२॥

कर्माभावादेवमिति[2] चेत् ॥४३॥

इति चेद् भवान् पश्यति, अविकारेण हरिवदादीनां वचनमिति। कर्माभावा-

---

में] अविद्यमान [हरिवत्तादि गुण] उसके कहे जाते हैं। इस प्रकार श्रुति से [मुख्यवृत्ति से] अर्थ प्रतिज्ञात होता है। अन्यथा लक्षणा होवे, और हरिवत्तादि का उच्चारण न होवे। हरिवत्तादि शब्दों से वह उस (=इन्द्र) का गुण लक्षित होता है। यदि [हरिवत्तादि इन्द्र से] असमवेत वचन होवें तो मुख्य अर्थवाले ही ये [हरिव आदि] होंगे। यदि कहो कि आत्मीय (=हरिवत्तादि) गुण को लक्षित नहीं करेंगे। ऐसा होने पर हमारा पक्ष ही [आश्रित होता है]। इससे अदृष्टार्थ गुण कहा जाता है, इस से अविकार से ही प्रयोग होवे अर्थात् ऊह न होवे।

(आक्षेप) वहां इस प्रकार वचन की व्यक्ति (=प्रतीति) होती है—इन्द्र आगच्छ हरिव आगच्छ ये हरिवद् आदि इसके गुणों को आरोपित करते हैं। हरिवद् आदि से सम्बध्यमान (=सम्बद्ध) इन्द्र अभ्युदयकारी होता है। (समाधान) अग्नि भी इन (=हरिवदादि) से सम्बन्धित किया जा सकता है। इस से बिना विकार के गुणों का प्रयोग होवे। यदि यह कहते हो कि इस समानाधिकरण वचन से ही इन्द्र में ये गुण विद्यमान हैं? तो ऐसा नहीं है। [गुणों के] अविद्यमान होने पर भी स्तुति से इसका सामानाधिकरण्य वचन उपपन्न होता ही है। जैसे देवदत्त इन्द्र और बृहस्पति है ॥४२॥

कर्माभावादेवमिति चेत् ॥४३॥

सूत्रार्थः—(कर्माभावात्) इन्द्र के कर्मज इन गुणों के अभाव से (एवम्) हरिवद् आदि का अविकार से वचन होवे (इति चेत्) यदि आप ऐसा समझते हैं तो यह ठीक नहीं, इन्द्र में कर्मज गुण हैं।

व्याख्या—यदि आप समझते हैं कि हरिवत् आदि का अविकार से कथन होवे। [तो

---

१. 'श्रुतोऽर्थः' इति पाठान्तरम्।

२. 'कर्माभावान्नेति चेत्' इति पाठान्तरम्।

देवं स्यात्, यद्येते गुणा इन्द्रे न भवेयुः। कर्मजास्तु, एते गुणा इन्द्रस्य विद्यन्ते। हरिव आगच्छेति पूर्वापक्षापरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी, ताभ्यां ह्येष सर्वं हरति[1] इति। मेधातिथेर्मेष इति, मेधातिथिं हि काण्वायनं मेषो भूत्वा जहार। [वृषणश्वस्य मेने इति][2] वृषणश्वस्य मेनस्य[3] मेनका नाम दुहिता बभूव, तामिन्द्रश्चकमे। गौरावस्कन्दिन् इति, गौरमृगो भूत्वाऽरण्याद्राजानं सोमं पिबति इति वचनैरिमे गुणा इन्द्रस्याऽऽख्यायन्ते। तस्मात् समवेतवचना हरिवदादयः शब्दाः। तथा सतीन्द्रप्रत्यायायोच्चार्यन्त इति नादृष्टकल्पना भविष्यति। तत्रैवं वचनव्यक्तिः—इन्द्र आगच्छ, हरिव आगच्छ इति—हरिवत्तादिगुणवान् यस्त्वं स आगच्छेति। लक्षणा चादृष्टकल्पनाया ज्यायसी। तस्मादूहितव्या हरिवदादयः शब्दा इति ॥४३॥

ऐसा] कर्म के अभाव से ऐसा होवे, [अर्थात] यदि ये गुण इन्द्र में न होवें। कर्मज ये गुण इन्द्र में विद्यमान हैं। हरिव आगच्छेति पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी, ताभ्यां ह्येष सर्वं हरति (=हे हरिव [=हरिवत्=हरियों वाले] आओ। पूर्वपक्ष और अपरपक्ष इन्द्र के दो हरि हैं, उन से ही यह सबका हरण करता है)। मेधातिथेर्मेष इति मेधातिथिं हि काण्वायनं मेषो भूत्वा जहार (=हे मेधातिथि के मेष आओ। कण्व के युवापत्य काण्वायन मेधातिथि को इन्द्र ने मेष=भेड़ का रूप धारण करके हरण किया था)। [वृषणश्वस्य मेने]वृषणश्वस्य मेनस्य मेनका नाम दुहिता बभूव, तामिन्द्रश्चकमे(=हे वृषणश्व की मेन आओ। वृषणश्व मेन की मेनका नाम की पुत्री थी, उसकी इन्द्र ने कामना की थी)। गौरावस्कन्दिन् इति गौरमृगो भूत्वाऽरण्याद् राजानं सोमं पिबति (=हे गौरावस्कन्दिन् आओ। इन्द्र गौर मृग का रूप धारण कर अरण्य में जाकर सोम राजा का पान करता था)। इन वचनों से इन्द्र के ये गुण कहे जाते हैं। इससे हरिवत् आदि समवेतवचन (=इन्द्र से सम्बद्ध अर्थ को कहनेवाले) शब्द हैं। ऐसा होने पर इन्द्र का बोध कराने के लिये उच्चारित किये जाते हैं। इससे अदृष्ट की कल्पना नहीं होगी। वहां इस प्रकार वचनव्यक्ति है—इन्द्र आगच्छ, हरिव आगच्छ इति—हरिवत्त्व आदि गुणवान् जो तुम हो वह आओ। लक्षणा अदृष्ट कल्पना से श्रेष्ठ है। इसलिये [आग्नेयी सुब्रह्मण्या होने पर] हरिवत् आदि शब्दों को ऊहित करना चाहिये।

विवरण—पूर्वपक्षापरपक्षौ—पूर्वपक्षः शुक्लपक्षः, अपरपक्षः कृष्णपक्षः यह प्राचीन पद्धति है। दक्षिण भारत में आज भी यह पद्धति वर्तमान है। अमावास्या के लिये पञ्चाङ्गों में ३० संख्या का निर्देश सर्वत्र मिलता है। यह भी कृष्णपक्ष के अपरपक्ष होने का अर्थात् अमावास्या पर मास-समाप्ति का द्योतक है। इन्द्रस्य हरी—यहां हरी शब्द द्विवचनान्त है। पूर्वपक्ष अपरपक्ष का सम्बन्ध आदित्य के साथ है। तदनुसार यहां इन्द्र से आदित्य अभिप्रेत है, यह स्पष्ट

---

१. इदम् अग्रे चोद्ध्रियमाणानि वचनानि षड्विंशब्राह्मणे प्रथमे खण्डे पठ्यन्ते।
२. अयं पाठः शब्दसादृश्यात् त्रुटितः स्यात्। षड्विंशब्राह्मणे दृश्यते।
३. पदमिदं क्वचिन्नष्टम्।

है। इस अर्थ को स्वीकार करने पर देवताभेद प्राप्त होता है। कौत्सव्य निघण्टु खण्ड ६४ में तथा यास्कीय निघण्टु १।१५ में 'दो हरि' इन्द्र के अश्व कहे गये हैं—**हरी इन्द्रस्य**। आदित्य के हरित् किरणें अश्व हैं—**हरित आदित्यस्य** (या० नि० १।१५)। कौत्सव्य निघण्टु में **हरय आदित्यस्य, हरितः सूर्यस्य** पाठ मिलता है (खण्ड ६४)। सायणाचार्य ने षड्विंश ब्रा० के व्याख्यान में **इन्द्रस्य हरी** में पूर्वपक्ष अपरपक्ष की इन्द्र में उपपत्ति न होने से इन्द्र का अर्थ आदित्य किया है, परन्तु शेष वचनों में इन्द्र को देवताविशेष ही माना है। **'आग्नेयी सुब्रह्मण्या भवति'** पक्ष में इन दो हरियों की उपपत्ति कैसे होगी, यह भाष्यकार ने नहीं दर्शाया।

इस सुब्रह्मण्या निगद में जो आख्यान कथित किया है, उन की व्याख्या होनी चाहिये। इसी निगद में **अहल्यायै जार**=अहल्या=गौतम पत्नी का इन्द्र को जार ('यार' भाषा) उपपति कहा है। इतिहास पुराणों में यह आख्यायिका बहुधा मिलती है? क्या देवाधिपति इन्द्र ऐसा कुत्सित कर्म करेगा? इस पर व्याख्याकारों ने कुछ भी ध्यान नहीं दिया। सायणाचार्य ने **गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः** का ही अनुसरण किया है।

अहल्यायै जार का निरुक्त के अनुसार अर्थ है—अहल्या=रात्री का आदित्य जार नाशयिता है। यास्क ने ऋ० १०।११।६ में पठित **जार आभगम्** का अर्थ किया है—**आदित्योऽत्र जार उच्यते रात्रेर्जरयिता** (निरुक्त ३।१६)। अर्थात् जार आदित्य है, क्योंकि वह रात्रि का जरयिता नाशक है। **अहर्लीयतेऽस्याम्**=दिन=प्रकाश का जिस में लय हो जाता है। इस व्युत्पत्ति से अहल्या नाम रात्रि का है। ऋ० १०।१७।१ के **जाया विवस्वतो ननाश** चरण की व्याख्या करते हुए यास्क ने निरुक्त १२।२१ में लिखा है—**रात्रिरादित्यस्य। रात्रिरादित्यस्योदयेऽन्तर्धीयते** विवस्वान् आदित्य की जाया=पत्नी=रात्रि नष्ट हो जाती है, अर्थात् आदित्य के उदय होने पर रात्रि का अन्तर्धान हो जाता है। आदित्य का ही एक इन्द्र है—**एष एवेन्द्रो य एष तपति** (शत० ब्रा० १।६।४।१८) यही इन्द्र है जो तपता है।

इतिहास पुराणों में इस प्रकार की बहुत सी वैदिक कथाएं हैं, जो विकृतरूप में प्रचलित हैं। इनमें से ४-५ कथाओं का वैदिक शुद्ध स्वरूप स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वीय वेदभाष्य का उत्कर्ष दिखाने के लिये मार्गशीर्ष शुक्ला १५, स० १९३३ में प्रकाशित जो संस्कृत और आर्यभाषा में विज्ञापन छपवाया था, उसमें आत्मकथाओं के साथ इस कथा का भी उल्लेख मिलता है। द्र०—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, भाग १, पृष्ठ ६७-७७, पूर्ण संख्या ३५ (तृतीय संस्करण)। इसी प्रकार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'भाष्यकरणशंकासमाधानविषयः' विषय भी द्रष्टव्य है ॥४३॥

न परार्थत्वात् ॥४४॥

सूत्रार्थः—(न) हरिवत् आदि शब्दों का ऊह नहीं करना चाहिये (परार्थत्वात्) अन्य के लिये होने से अर्थात् इन्द्र की स्तुतिवाले होने से।

नैतदेवम् । परार्था हि हरिवदादयः शब्दा इन्द्रस्तुत्यर्थाः । स्तुतये हरिवदादिसम्बन्धोऽस्य क्रियते । तत्पुरस्तादेवोपवर्णितम् । स्तुत्यर्थं चाग्नेरप्येतैरभिसम्बन्धः शक्यते कर्तुम् । यत्तूक्तं, समवेता गुणा इन्द्रस्य विद्यन्ते—**पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी** इत्येवमादिभिर्वचनैरवगता इति । तन्न । न हीमानि वचनानीन्द्रस्य सम्बन्धिनौ हरी विदधति । न ह्येवमभिसम्बन्धः क्रियते—यावेतौ पूर्वपक्षापरपक्षौ ताविन्द्रस्य हरी इति । तत्र हि हेतुरुपदिश्यते—**ताभ्यां ह्येष सर्वं हरति** इति । न हीदं प्रसिद्धं, ताभ्यामिन्द्रः सर्वं हरतीति । सिद्धो हि हेतुर्भवति, न प्रसाध्यः । यथा त्विमौ हर्तारौ प्रसिद्धौ, कालेन सर्वमपक्षीयत इति । तथा नेन्द्रस्याग्नेश्च कश्चिद्विशेषः । तत्रैभिरभिधानमग्नेः प्राप्नोत्येव ।

अथ इन्द्रस्य हर्तृत्वं विधीयत इत्युच्यते । तथा च वाक्यं भिद्येत । इन्द्रस्यैतौ हरी इत्येतदपि विधातव्यम् । अथैतन्न विधीयते । तथा स एव दोषः, नास्त्यग्नेरिन्द्रस्य वा विशेष इति । अथ पूर्वपक्षापरपक्षाविन्द्रस्येति विधीयते, तौ च हरी । तस्मादिन्द्रो हरिवानिति । तथा हेत्वप्रसिद्ध्यादिः स एव दोषः । न च विधीयमाने वैशब्दो भवति । प्रसिद्धवचनो ह्येष दृष्टः । **न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति**[1] इति यथा ।

व्याख्या—ऐसा नहीं है । परार्थ ही हरिवत् आदि शब्द हैं, इन्द्र की स्तुति के लिये । स्तुति के लिये हरिवत् आदि का सम्बन्ध इन्द्र के साथ किया जाता है । यह पूर्व ही कह चुके । स्तुति के लिये अग्नि का सम्बन्ध भी इन शब्दों से किया जा सकता है । और जो यह कहा—इन्द्र में ये गुण समवेत हैं—पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी इत्यादि वचनों से जाने गये हैं । ऐसा नहीं है । ये वचन इन्द्र के सम्बन्धी हरियों का विधान नहीं करते हैं । ऐसा सम्बन्ध नहीं किया जाता है—जो ये पूर्वपक्षापरपक्ष हैं वे इन्द्र के दो हरि हैं । वहां हेतु का कथन है—उनके द्वारा ही यह सबका हरण करता है । यह प्रसिद्ध नहीं है कि उन (=पूर्वपक्ष अपरपक्षों) से इन्द्र सब को हरता है । हेतु सिद्ध होता है, प्रसाध्य (=जिसे सिद्ध करना है, वह) हेतु नहीं होता । जैसे ये दो हर्ता प्रसिद्ध हैं, काल से सब क्षय को प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार इन्द्र और अग्नि में कुछ विशेष नहीं है । वहां इनके द्वारा अग्नि का कथन प्राप्त ही होता है ।

और इन्द्र के हर्तृत्व का विधान किया जाता है, ऐसा कहते हो तो मानने पर वाक्यभेद होवे । ये हरि इन्द्र के हैं, यह भी विधान करना होगा । और इसका विधान नहीं करते तो वह ही दोष आता है—इन्द्र और अग्नि में विशेष नहीं है । और यदि पूर्वपक्ष और अपर पक्ष इन्द्र के विधान किये जाते हैं और वे (=पूर्वपक्ष अपरपक्ष) हरि हैं, उनसे इन्द्र हरिवान् है । ऐसा मानने पर वही हेतु की अप्रसिद्धि आदि प्राप्त होता है । विधीयमान में 'वै' शब्द नहीं होता । यह (=वै शब्द) प्रसिद्ध को कहनेवाला देखा गया है । जैसे—न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति (=स्त्रैण=स्त्री सम्बन्धी मित्रता नहीं होती है) ।

---

१. ऋ० १०।९५।१५॥

तथा मेधातिथेर्मेष इत्येवमादि इतिहासवचनमिव प्रतिभाति। इतिहासे च विधौ सति, आदिमत्तादोषो वेदस्य प्रसज्येत। अस्त्विति चेत्। तथा सति तस्याप्रामाण्यान्मेधातिथेर्हि काण्वायनस्य मेष इत्यप्रसिद्धिः। सर्वत्र च निगदविधानम् तत्रापरस्मिन् विधीयमाने वाक्यभेदप्रसङ्गः। तस्मान्नैते गुणा इन्द्रे विद्यन्त इत्यसमवेतवचनत्वादविकारेण प्रयोग इति। तदेतन्न रोचयन्ते याज्ञिकाः। ऊहं कुर्वन्ति—अग्न आगच्छ रोहिताश्व बृहद्भानो धूमकेतो जातवेदो विचर्षण[1] इति ॥४४॥

तथा मेधातिथेर्मेष इत्यादि इतिहासवचन सदृश प्रतीत होता है। और इतिहास विधि होने पर वेद की आदिमत्ता दोष प्राप्त होवे। [आदिमत्ता दोष] होवे, ऐसा कहो तो वैसा होने पर उस (=वेदवचन) की अप्रमाणता से 'मेधातिथि काण्वायन का मेष' यह प्रसिद्धि न होवे। और सर्वत्र निगद का विधान है। [निगद विधान से] भिन्न के विधीयमान होने पर वाक्यभेद की प्रसक्ति होती है। इसलिये ये गुण इन्द्र में विद्यमान नहीं हैं। इससे असमवेत वचन होने से अविकार से प्रयोग होना चाहिये। याज्ञिक लोगों को यह रुचिकर नहीं है[अर्थात् अविकार से इनका आग्नेयी सुब्रह्मण्या में प्रयोग होवे, ऐसा याज्ञिक लोग नहीं मानते। वे ऊह करते हैं—अग्न आगच्छ रोहिताश्व बृहद्भानो धूमकेतो जातवेदो विचर्षणः (=हे अग्नि आओ, लालवर्ण के अश्ववाले, बृहद् दीप्तिवाले, धूमकेतो, उत्पन्न चराचर को जानने वाले, विचर्षण)।

विवरण—यह अधिकरण विशेष महत्त्वपूर्ण है। मीमांसक यह स्वीकार करते हैं कि 'हरी मेधातिथेर्मेष' आदि इन्द्र में समवेत नहीं है अर्थात् इन्द्र के साथ इनका सम्बन्ध नहीं है। यह इसलिये स्वीकार करते हैं कि वे ब्राह्मणग्रन्थों को मन्त्रसंहिता के समान अपौरुषेय मानते हैं। इस अपौरुषेयता की रक्षा के लिये सुब्रह्मण्या निगदस्थ पदविशेषों का इन्द्र के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। याज्ञिक लोग इनका इन्द्र के साथ सम्बन्ध मानकर आग्नेयी सुब्रह्मण्या में ऊह करते हैं।

इस विषय में दो बातें विचारणीय हैं। प्रथम—जब मीमांसक शब्दमयी देवता मानते हैं, तो उसके विशेषणरूप उत्तरपदों का इन्द्र के साथ सम्बन्ध क्यों नहीं? यदि सम्बन्ध नहीं है तो क्या ये उन्मत्तप्रलाप हैं। यदि स्तुतिपरक हैं तो भी साक्षात् सम्बन्ध न होकर परोक्ष सम्बन्ध तो स्वीकार करना ही होगा। भाष्यकार ने जो लौकिक उदाहरण दिया है—इन्द्रो बृहस्पतिर्देवदत्तः यहां भी यदि देवदत्त में उन साथियों की अपेक्षा इन्द्रत्व=बलवत्त्व तथा बृहस्पतित्व=ज्ञानविशिष्टत्व न हो तो कोई भी देवदत्त के लिये इन गुणवचन शब्दों का प्रयोग

---

१. द्र०—तत्र गौतमीयम्—अग्न आगच्छ रोहिताभ्यां बृहद्भानो धूमकेतो जातवेदो विचर्षणः। लाट्या० श्रौत १।४।२॥ अत्र भाष्ये 'रोहिताश्व' इत्यपपाठः प्रतीयते। 'हरिव' स्थाने 'रोहितव' इति पाठो युक्तः स्यात्। द्र०—लाट्या० श्रौत १।४।४—अथ धानञ्जय्यः—अग्न आगच्छ रोहितव आगच्छ……।

नहीं करेगा। अर्थात् निर्बल और मूर्ख व्यक्ति के लिये इन का प्रयोग नहीं होता है। इसी प्रकार निर्बल या कायर के लिये **सिंहोऽयं माणवक:** प्रयुक्त नहीं होगा। इसी प्रकार निन्दा वचनों में पराक्रमी के लिये **शृगालोऽयं माणवकः** का प्रयोग नहीं होता। अत: यह कहना कि सामानाधिकरण्य असमवेत में भी देखा जाता है, लोकव्यवहारविरुद्ध है, चाहे स्तुतिवचन हो चाहे निन्दावचन परोक्षरूप से उन स्तुत्य का निन्द्य गुणों का सम्बन्ध होने पर ही लोक में इनका प्रयोग होता है। इस दृष्टि से यहां याज्ञिकों का मत युक्त है। परन्तु यदि विग्रहवती देवता माननेवाले यज्ञिक लोग भी इन पदों का इन्द्र में साक्षात् सम्बन्ध मानेंगे तो **वृषणश्वस्य मेने अहल्यायै जार** आदि से इन्द्र की निन्दा ही होगी न कि स्तुति। अत: किसी विग्रहवान् इन्द्र में ये पद समवेत हैं, यह पक्ष उन्हें छोड़ना ही पड़ेगा और इनका ऐसा अर्थ करना होगा जो इन्द्र के साथ प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप से गुणरूप में समवेत हो।

वेदापौरुषेयाधिकरण में शाबरभाष्य (१।१।२८) में एक ब्राह्मणवचन उद्धृत है--**बबर: प्रावाहणिरकामयत** (तै० सं० ७।१।१०।२) इस पर **परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्** (१।१।३१) के भाष्य में शबरस्वामी ने लिखा है—**न त्वस्य समुदाय: क्वचित् सिद्धः। इकारस्तु यथैवापत्ये सिद्धः, तथा क्रियायामपि कर्तरि। तस्माद् यः प्रवाहयति स प्रवाहणिः।** इसका भाव यह है कि लोक में प्रवाहण शब्द किसी व्यक्तिविशेष में प्रसिद्ध नहीं। अर्थात् लोक में प्रवाहण नाम का पुरुष अज्ञात है। जिस प्रकार **रामो दाशरथि:** में दशरथ शब्द से अपत्य अर्थ में इकार (इञ्)प्रत्यय देखा जाता है उसी प्रकार क्रिया में कर्ता अर्थ में भी इकार प्रत्यय होता है। क्रिया में कर्ता अर्थ में जिस इकार प्रत्यय की शबर स्वामी ने कल्पना की है, न वह किसी व्याकरण में स्मृत है, और कल्पना कर भी लें तो 'प्र' उपसर्ग में उससे वृद्धि नहीं होगी। इस दोष की मीमांसा हमने शाबरभाष्य की व्याख्या में विस्तार से की है। अत: पाठक इस विषय में मीमांसा शाबरभाष्य व्याख्या भाग १ पृष्ठ ९३ देखें। यहां हम इतना संकेत अवश्य कर देते हैं कि कुतूहलवृत्तिकार वासुदेव दीक्षित जो स्वयं अच्छे वैयाकरण थे, उन्होंने भाष्यकार शबर स्वामी की उपपत्ति को व्याकरण से असिद्ध होने के कारण इस उदाहरण को कुतूहलवृत्ति में उद्धृत ही नहीं किया।

शबरस्वामी ने जो यह लिखा है कि 'प्रवहण' सम्प्रदाय अप्रसिद्ध है। यह कथन उसके अपने वचन से विरुद्ध है। शबरस्वामी ने मी० २।३।२ के भाष्य में लिखा है—**ये उदमेघं नाम कञ्चित् पुरुषं नावेदिषुः, तस्य तु पुत्रमौदमेघिरित्येवं विदुः, शक्नुयुस्ते यस्तस्य पिता स उदमेघ इति कल्पयितुम्।** अर्थात् जो उदमेघ नाम के किसी पुरुष को नहीं जानते, परन्तु उसके पुत्र औदमेघि को जानते हैं, वे उसका पिता उदमेघ है, ऐसी कल्पना करने में समर्थ होते हैं। इसी प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में यदि कोई प्रवहण नाम के व्यक्ति को नहीं जानते, वे प्रावाहणि शब्द से जानने में समर्थ होते हैं कि प्रावाहणि के पिता का नाम प्रवहण है।

वेदापौरुषेयाधिकरण की विस्तृत मीमांसा शाबरभाष्य-व्याख्या के प्रथमपाद की समाप्ति पर विस्तार से की है।

द्वितीय—ब्राह्मणग्रन्थ मन्त्रसंहिताओं के समान अपौरुषेय नहीं हैं। उनमें पदे-पदे तात्कालिक जनपदों ऋषियों वा राजाओं का उल्लेख मिलता है। **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** से ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा कही है। इस पर हमने मीमांसा शाबरभाष्य-व्याख्या के प्रथम भाग में तथा मूल शाबरभाष्य के प्रथम भाग के आदि में सन्निविष्ट **'वेद-श्रुति-आम्नायसंज्ञा-मीमांसा'** निबन्ध में सम्यक् प्रकार विवेचना की है। इस वचन का (जहां भी यह पढ़ा है) तात्पर्य यज्ञप्रक्रिया में मन्त्र के समान ब्राह्मणवचन के प्रामाण्य तक ही सीमित है।

अब हम प्रकृत सुब्रह्मण्या निगद में पठित **गौतम ब्रुवाण** पद की ओर ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं। परम याज्ञिक एवं ब्रह्मिष्ठ याज्ञवल्क्य ने शतपथब्राह्मण (३।३।४।१९) में कहा है—

शश्वद्धैतदारुणिनाधुनोपज्ञातं यद् गौतमब्रुवाणेति।

अर्थात् सुब्रह्मण्यानिगद में पठ्यमान **'गौतम ब्रुवाण'** अंश आरुणि ने अधुना(=सम्प्रति) ही जाना है।

यही तथ्य मीमांसासूत्रप्रवक्ता भगवान् जैमिनि ने स्वप्रोक्त जैमिनिब्राह्मण (२।७९-८०) में इस प्रकार प्रकट किया है—

अव ह वा एके कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाणेत्याह्वयन्ति। तदु ह वा आरुणिनैव यशस्विनोपज्ञातम्।

अर्थात कतिपय याज्ञिक **'कौशिक ब्राह्मण, गौतम ब्रुवाण'** ऐसा सुब्रह्मण्या में आह्वान करते हैं। **'गौतम ब्रुवाण'** यह यशस्वी आरुणि से उपज्ञात है।

शतपथकार याज्ञवल्क्य ने **'गौतम ब्रुवाण'** के विषय में लिखा है—**यदि कामयेत ब्रूयात्** अर्थात् यदि चाहे तो इसका उच्चारण करे। भगवान् जैमिनि ने कहा—**तस्माद्‌ तस्याशां नेयात्। तस्मात् कौशिक ब्राह्मण कौशिक ब्राह्मण इत्येवाह्वयेत** अर्थात् **गौतम ब्रुवाण** आह्वान की आशा न करे। **कौशिक ब्राह्मण कौशिक ब्राह्मण** ऐसा ही आह्वान करे (द्विः पाठ समाप्त्यर्थ है)।

भाष्यकार शबरस्वामी ने **'वेद की आदिमत्ता प्राप्त होगी'** ऐसा लिखकर हरिवत् आदि गुण इन्द्र में समवेत नहीं हैं, ऐसा सिद्धान्त करके इनका अनूह (ऊहाभाव) कहा है।

अब विचारणीय है कि उपज्ञातत्व धर्म मानुष है, और अरुण के पुत्र आरुणि से सुब्रह्मण्या का **'गौतम ब्रुवाण'** अंश उपज्ञात है, वह उपज्ञान भी आरुणि को इसी समय (सम्प्रति) हुआ है। ऐसी अवस्था में ब्राह्मणों का वेदत्व ही सुतरां असिद्ध हो जाता है, तब आदिमत्ता का दोष दर्शाना कथमपि युक्त नहीं। यहां शबरस्वामी ने याज्ञिकों का मत उद्धृत किया है, वही युक्तिसङ्गत है। यतः ब्राह्मणप्रवक्ता जैमिनि ही मीमांसासूत्रकार है, अतः दोनों ग्रन्थों की एकवाक्यता के लिये मानना होगा कि शबरस्वामी ने जो अधिकरण-योजना की है, वह इस विषय में चिन्त्य है। बहुधा व्याख्याकार स्वमत को प्रतिपादित करने

अथेदमन्यदुदाह्रियते—

अस्ति साद्यस्कः। तत्रेदं समामनन्ति—**साण्डस्त्रिवत्सः सोमक्रयणः**[1] इति। अस्ति तु प्रकृतावेकहायनी[2] क्रयार्था। तत्रेदमाम्नायते—**इयं गौस्तया ते क्रीणामि**[3], **तस्यै शृतं, तस्यै शरः, तस्यै दधि, तस्यै मस्तु, तस्या आतञ्चनं, तस्यै नवनीतं, तस्यै घृतं, तस्या आमिक्षा, तस्यै वाजिनम्**[4] इति। तदिह चोदकेन प्राप्तम्। तत्र सन्देहः-

---

के लिये विभिन्न अधिकरणयोजना करते हैं। उत्तरमीमांसा में अद्वैतवादियों एवं द्वैतवादियों की अधिकरणयोजना में बहुत्र भेद देखा जाता है। सूत्रकार को यहां कैसी अधिकरणयोजना इष्ट थी, और उनकी दृष्टि में विवेच्य उदाहरण क्या था, यह सम्प्रति जानना असम्भव है। सूत्रभाष्यकारों के मतभेद से खिन्न होकर आचार्य चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र के अन्त में लिखा है—

दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं बहुधा सूत्रभाष्यकाराणाम्।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च॥

अर्थात् सूत्र और भाष्यकारों में बहुधा वैमत्य देखकर मैंने (विष्णुगुप्त ने) सूत्र और भाष्य स्वयं रचे। यहां यह ध्यान रहे कि अर्थशास्त्र का प्रथम अध्याय सूत्रसंग्रहरूप है, और द्वितीय अध्याय से अन्त तक उन सूत्रों का भाष्य है॥४४॥

व्याख्या—अब अन्य वचन उदाहृत किया जाता है—

विवरण—प्रतीत होता है भाष्यकार ने पूर्व व्याख्याताओं के मतानुसार आग्नेयी सुब्रह्मण्याविषयक पूर्व विचार प्रस्तुत किया है। इससे वे स्वयं सन्तुष्ट नहीं थे। अतएव अधिकरण के अन्त में याज्ञिकों द्वारा ऊहित पक्ष लिख दिया, उसकी मीमांसा नहीं की। और यहां भी पूर्व अनेक अधिकरणान्तर निर्देश के लिये एवं च का निर्देश न करके **अन्यद् उदाह्रियते** पदों के प्रयोग से भी यही विदित होता है कि आग्नेयी सुब्रह्मण्याविषयक पूर्व जो विचार प्रस्तुत किया, उससे वे सन्तुष्ट नहीं थे।

व्याख्या—'साद्यस्क' संज्ञक याग है। वहां यह पढ़ा जाता है—साण्डस्त्रिवत्सः सोमक्रयणः (=अण्डकोश सहित तीन वर्ष का वत्स सोमक्रयण=सोमक्रय का साधन है)। प्रकृति अग्निष्टोम में क्रयार्थ एक वर्ष की बछिया है। उसके विषय में वहां यह पढ़ा जाता है—इदं गौस्तया ते क्रीणामि, तस्यै शृतं, तस्यै शरः, तस्यै दधि, तस्यै मस्तु, तस्या आतञ्चनं, तस्यै नवनीतं, तस्यै घृतं, तस्या आमिक्षा, तस्यै वाजिनम् (=यह

---

१. द्र०—त्रिवत्सः साण्डः सोमक्रयणः। ताण्ड्य ब्रा० १६।१३।९॥ आप० श्रौत २२।२।२५॥

२. द्र०—अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति। मी० ३।१।१२ भाष्ये उद्धृतः पाठः। एकहायन्या क्रीणाति। तै० सं० ६।१।६।७॥

३. अयं भागो नोपलब्धः। ४. शत० ब्रा० ३।३।३।२॥

किं गोशब्दस्थान ऊहं कृत्वाऽवशिष्टानां पदानामविकार उत सर्वेषामूह इति ? किं प्राप्तम् ?

असंयोगात्तदर्थेषु तद्विशिष्टं प्रतीयेत ॥४२॥ (उ०)

गोपदार्थविशिष्टमेवोहवचनं स्यात्। तस्यै शृतमित्येवमादीनामविकारः। असंयोगाच्छृतादिभिरर्थैः। तेषामेकहायन्यामेकहायनीत्वादेव। न ह्येकहायनी दुग्धे, तस्यामसमवेतं वदन्त्येते। तस्मात् साण्डेऽप्यविकारेण प्रयोक्तव्या इति ॥४२॥

गाय है इससे तुम्हारे सोम को खरीदता हूं, उसका गरम दूध, गाढ़ा दूध व मलाई, उसका दही, उसका अर्ध विलोया दही या दही की मलाई, उसका जांवन=दूध जमाने का साधन, उसका मक्खन, उसका घृत, उसकी आमिक्षा=पनीर, उसका वाजिन है)। वह क्रयार्थ एकहायनी गौ यहां चोदक से प्राप्त है। इसमें सन्देह है—क्या गो पदार्थ विशिष्ट का ही ऊह होवे, वा सबका ऊह होवे ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—साद्यस्क्रः—साद्यस्क्र संज्ञक याग में एक ही दिन में दीक्षा से लेकर अन्तिम कर्म यज्ञ मण्डप को प्रज्वलित करके वापस घर लौटने तक का कर्म किया जाता है—**दीक्षादि सर्वं सद्यः क्रियते** (द्र०—कात्या० श्रौत २२।३।२७ तथा इसकी व्याख्या)। **साण्डस्त्रिवत्सः सोमक्रयणः**—यहां 'त्रिवत्स' में लाट्यायन श्रौतसूत्र **त्रिवत्सः साण्ड इति बहुः त्रिवर्षस्य जानपदो त्रिवत्सः, यो वा त्रिस्रो धयेत, त्रिवर्षो वैव स्यात्** (८।३।६,१०,११) के अनुसार सायणाचार्य ने ताण्ड्य ब्रा० १६।१३।६ में तीन अर्थ किये हैं—(१) जिसका तीसरा वर्ष पूरा होने में कुछ समय शेष है। (२) जो तीन गायों का दूध पीता है। (३) पूरे तीन वर्ष का। यहां मी० ८।१।१६ भाष्यव्याख्या भाग ६, पृष्ठ २१६६ का विवरण देखें। **तस्यै शृतम्**—इस से पूर्व पठित **इयं गौस्तया ते क्रीणामि** अंश हमें प्राप्त नहीं हुआ। शत० ब्रा० ३।३।३।२ में **तस्यै शरः** से पूर्व **गौर्वै प्रतिधुक्** पाठ है। प्रतिधुक् का अर्थ कात्या० श्रौत ७।८।८ की व्याख्या में **धारोष्णं पयः**' किया है। शृतम् (अग्नि द्वारा उष्ण दुग्ध) से पूर्व **'धारोष्णं पयः'** का निर्देश आवश्यक प्रतीत होता है।

असंयोगात् तदर्थेषु तद्विशिष्टं प्रतीयेत ॥४२॥

सूत्रार्थः—(तदर्थेषु) गो के शृत शर आदि अर्थों में (असंयोगात्) एकहायनी सोमक्रयणी का संयोग न होने से (तद्विशिष्टः) साण्ड त्रिवत्स सोमक्रयण में गोपदार्थ **तस्यै शृतम्** आदि विशिष्ट का ही प्रयोग होवे।

व्याख्या—गोपदार्थ विशिष्ट ही ऊहवचन होवे। तस्यै शृतम् इत्यादि का अविकार (=ऊह) न होवे। शृतादि अर्थों के साथ संयोग न होने से, उन शृत आदि का एकहायनी में एकहायन (=एक वर्ष की होने) से ही [संयोग न होने से]। एक वर्ष की बछिया दूध ही नहीं देती। इससे ये शृतादि शब्द उसमें असमेत अर्थ को ही कहते हैं। इसलिये साण्ड वृषभ में भी अविकार ये प्रयोगार्ह हैं ॥४२॥

कर्माभावादेवमिति चेत् ॥४३॥

इति चेत्—एवं भवान्मन्यते, नैकहायन्यामेते समवेतानर्थानभिवदन्तीति। भवेदेतदेवं यद्येकहायन्या इमे गुणा न भवेयुः। कालान्तरे तु तस्या उपपद्यन्ते, न तु साण्डस्य। भविष्यत्कालवचना अप्येते प्ररोचनार्था भवन्ति। तस्यं शृतं भविष्यति। तस्मान्नाविकारेण प्रयोक्तव्या इति ॥४३॥

न परार्थत्वात् ॥४४॥

नैतदेवम्। अविकारेण प्रयोक्तव्या इति। असमवेतवचना ह्येते, नैकहायन्यां भवन्ति। एकहायनीत्वादेव। अथोच्यते, कालान्तरे भविष्यन्तीति। साण्डेऽपि कालान्तरे भवितुमर्हन्ति। साण्डादपि हि या धेनुर्जनिष्यते, सा धोक्ष्यति इति। तस्मादविकारेण प्रयोक्तव्या इति ॥४४॥

❀★❀

कर्माभावादेवमिति चेत् ॥४३॥

सूत्रार्थः—(कर्माभावात्) एकहायनी बछिया में शृत शर आदि के अभाव होने से साण्ड त्रिवत्स के विषय में भी (एवम्) इसी प्रकार (='तस्यै शृतम्' आदि) अविकृत प्रयोग होवें (इति चेत्) यदि ऐसा मानते हो तो उचित नहीं, कालान्तर में शृतादि सम्भव हैं।

व्याख्या—यदि आप ऐसा मानते हैं कि एकहायनी बछिया में ये शृतादि शब्द समवेत अर्थों को नहीं कहते, तो यह ऐसा होवे। यदि एकहायनी में ये गुण न होवें, कालान्तर में तो उसके ये गुण उपपन्न होते हैं, साण्ड के तो [कभी भी] उपपन्न नहीं होते। भविष्यत् काल के गुणों को कहनेवाले भी ये शृतादि शब्द प्ररोचना (=स्तुति) के लिये हैं। [इस प्रकार] तस्यै शृतम् [प्रयोग उपपन्न] होगा। इसलिये [साण्ड में] विकाररहित प्रयोग नहीं करना चाहिये अर्थात् ऊह करना चाहिये ॥४३॥

न परार्थत्वात् ॥४४॥

सूत्रार्थः—(न) 'तस्यै शृतम्' आदि का साण्ड सोमक्रयण में ऊह नहीं करना चाहिये। (परार्थत्वात्) एकहायनी में असमवेत होते हुए परार्थ गौ की स्तुति के लिये होने से।

व्याख्या—ऐसा नहीं है। अविकार से ही प्रयोग करना चाहिये [ऊह नहीं करना चाहिये]। ये शृत आदि असमवेत (=असम्बद्ध) अर्थ को ही कहनेवाले हैं। एकहायनी में ये समवेत नहीं होते हैं, एकहायनी होने से ही। यदि कहो कि कालान्तर में समवेत हो जायेंगे। साण्ड में भी कालान्तर में समवेत हो सकते हैं। साण्ड से भी जो धेनु उत्पन्न होगी, वह भी दूध देगी। इसलिये अविकार से प्रयोग करना चाहिये।

[सारस्वत्यां मेष्यामध्रिगुप्रैषस्य प्रवृत्त्यभावाधिकरणम् ॥१६॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमः। तत्र पशवः समाम्नाताः—आग्नेयः पशुरग्निष्टोम

विवरण—यद्यपि प्रकृत साद्यस्क के लिये सोमक्रयणार्थ प्रकृतिगत एकहायनी गौ के स्थान पर साण्ड त्रिवत्स वृषभ का विधान होने पर गोविषयक **तस्यै शृतम्** आदि में किसी ने ऊह नहीं दर्शाया है, तथापि हमारे विचार में एकहायनी में कालान्तर में इन पदार्थों की समवेतता हो सकती है। लोक में भविष्यदवस्था की दृष्टि से भी शब्दव्यवहार होता है। जैसे कोई व्यक्ति सूत लेकर जुलाहे के पास जाकर कहे कि इसकी धोती बना दे। वक्ता का अभिप्राय यह होता है, कि इस सूत की बुनाई ऐसी करो कि बुन जाने पर यह धोती नाम वाला वस्त्र होवे। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इस 'शाटक तन्तुवाय' न्याय का उल्लेख महाभाष्य १।१।४५ में **'भाविनी संज्ञा विज्ञास्यते'** के रूप में किया है। जैसे जुलाहे को दिये गये सूत में शाटकत्व समवेत नहीं है, परन्तु बुनाई के अनन्तर सम्भव होता है, उसी प्रकार एकहायनी में शृत आदि गुण समवेत नहीं हैं, कालान्तर में समवेत होना सम्भव है। भाष्यकार शबरस्वामी ने कालान्तर में सांड से उत्पन्न धेनु में सम्भावना दर्शाकर अनूहत्व सिद्ध किया है, यह **'दूर की कौड़ी पकड़ना'** के अतिरिक्त कुछ महत्त्व नहीं रखता। लोक में कोई व्यक्ति रुई लेकर जुलाहे से नहीं कहता है कि इस रुई की धोती बना दे। जबकि सूत रुई से ही उत्पन्न होता है। अतएव सांड से उत्पन्न बछिया भी जब ब्याये तब उसमें शृतादि धर्म समवेत होंगे। कुतूहलवृत्तिकार ने एकहायनी के मरण की सम्भावना व्यक्त करके **भविष्यत्वमपि नैकान्तिकम्** दोष दर्शाया है। इस प्रकार का बन्ध्यात्व दोष भी दिया जा सकता है। शतपथ में **तस्यै शृतम्**(३।३।३।२)इत्यादि से पूर्व आम्नात है—**महांस्त्वेव गोर्महिमेत्याहाध्वर्युः। गौर्वै प्रतिधुक् तस्यै शृतम्।** इस से स्पष्ट है **'तस्यै शृतं'** आदि गाय की महिमा के रूप निर्दिष्ट हैं। यहां **'गोर्महिमा'** में गाय जाति अभिप्रेत है न कि एकहायनी रूप बछिया। अतः 'तस्यै शृतं' आदि के स्तुतिपरक होने पर भी स्त्री गौ से ही यह स्तुति सम्बन्ध है न कि पुरुष गौ (बैल) से। अतः परार्थ होने पर भी साण्ड के साथ इस स्तुति का दूरतः भी सम्बन्ध न होने पर साण्ड पक्ष में इनका उच्चारण न केवल निरर्थक है, अपितु हास्यास्पद है। अतएव कपिल मुनि ने कहा है—**लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः** (सांख्य ५।४०)। अतएव महाभाष्यकार ने अनेक प्रसङ्गों में कहा है—**नहीदं लोकाद् भिद्यते। यदीदं लोकाद् भिद्येत ततो यत्नार्हं स्यात्** (महा० १।१।१, मूल संस्करण पृष्ठ ४०, पं० २२)। इसलिये साण्ड सामान्य में ऊह करना ही होगा। सर्वत्र याज्ञिक मत आंख मीचकर माननीय नहीं है। इस विषय में हमने प्रथम भाग के आरम्भ में छापी 'श्रौतयज्ञ-मीमांसा' द्वितीय संस्करण पृष्ठ १२५-१३०, प्रथम संस्करण पृष्ठ ११२-११८ देखें ॥४४॥

❀★❀

व्याख्या—ज्योतिष्टोम का विधान है। वहां पशुओं का पाठ है—आग्नेयः पशु-

आलभ्यः[1] ऐन्द्राग्नः पशुरुक्थ्ये, ऐन्द्रो वृष्णिः षोडशिनि, सारस्वती मेष्यतिरात्रे[2] इति। अस्ति त्वग्नीषोमीयेऽध्रिगुप्रैषः—उपनयत मेध्या दुर[3] आशासाना मेधपतिभ्यां मेधम्[4] इति। तत्र सन्देहः—किं सारस्वत्यां मेष्यामध्रिगुवचनं कर्तव्यं नेति? नन्वग्नीषोमीयार्थं तत्, चोदकेनेह प्राप्तमिति। अत्रोच्यते—सर्वेषां समानो विधिरिति[5] कृत्वा चिन्ता। किं तावत् प्राप्तम्?

लिङ्गविशेषनिर्देशात्समानविधानेष्वप्राप्ता सारस्वती स्त्रीत्वात् ॥४५॥ (उ०)

रग्निष्टोम आलभ्यः, ऐन्द्राग्नः पशुरुक्थ्ये, ऐन्द्रो वृष्णिः षोडशिनि, सारस्वती मेष्यतिरात्रे (=अग्निष्टोम में अग्निदेवताक पशु आलभ्य है, उक्थ्य में ऐन्द्राग्न पशु, षोडशी में ऐन्द्र मेष=मेढ़ा अतिरात्र में सारस्वती मेढी)। अग्निष्टोम में अग्नीषोमीय [पशुयाग में] अध्रिगु-प्रैष है—उपनयत मेध्या दुर आशासाना मेधपतिभ्यां मेधम् (=मेध्य यज्ञ पशुओं दुरः=द्वारों=हविमार्गों का, प्रार्थयमान=प्रार्थना किये जा रहे [शमिताओं] मेधपतियों यजमान वा उसकी पत्नी के द्वारा, मेध=यज्ञ को प्राप्त कराओ)। इस में सन्देह है कि क्या सारस्वती मेषी के विषय में अध्रिगु वचन [का प्रयोग] करना चाहिये वा नहीं करना चाहिये। (आक्षेप) उक्त अध्रिगु प्रैष अग्नीषोमीय पशु के लिये है, चोदक वचन से यहां प्राप्त है। (समाधान) सब पशुओं में समान विधि है, यह मानकर विचार किया जा रहा है। तो क्या प्राप्त होता है?

विवरण—सर्वेषां समानो विधिरिति कृत्वा चिन्ता—यहां उद्धृत वचन मी० ३।६। अधि० ७, सूत्र १८ के भाष्य में भी पठित है। इस सप्तम अधिकरण में विचार किया है कि अग्निष्टोम में सवनीय पशु के प्रकरण में जो उपाकरण उपानयन आदि पशुओं के धर्म कहे गये हैं, वे सब पशुओं के हैं अथवा सवनीय मात्र के। इस विषय में पूर्वपक्ष-सूत्र है—तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः प्रकरणाविशेषात् (३।६।१८) सब पशुओं के समान धर्म हैं, प्रकरणविशेष के न होने से। सिद्धान्त किया है कि ये धर्म केवल सवनीय पशु के हैं। अन्यत्र प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या चोदक वचन से प्राप्त होते हैं। इस अधिकरण में 'सब पशुओं के समान धर्म हैं' इस पक्ष को स्वीकार करके यहां पर विचार किया है।

लिङ्गविशेषनिर्देशात् समानविधानेष्वप्राप्ता सारस्वती स्त्रीत्वात् ॥४५॥

सूत्रार्थः—(समानविधानेषु) सब पशुओं में समान विधान मानने पर (लिङ्गविशेषनिर्देशात्) प्रास्मा अग्निं भरत वचन में 'अस्मै' पुंलिङ्ग विशेष के निर्देश से (सारस्वती) सारस्वती मेषी अध्रिगु प्रैष को (अप्राप्ता) प्राप्त नहीं होती, (स्त्रीत्वात्) स्त्रीलिङ्ग होने से।

---

१. 'आलब्धव्यः' इति मुद्रितपुस्तकेष्वपपाठः। द्र०—मी० भाष्य ३।६।१८॥
२. द्र०—मै० सं० ३।६।५॥
३. 'दूर आशासाना' इति पुणेमुद्रितेऽपपाठः।
४. तै० ब्रा० ३।६।६।१॥
५. द्र०—मी० ३।६। अधि० ७, सूत्र १८॥

समानविधानेष्वेषु पशुषु, अप्राप्ता सारस्वती मेष्यध्रिगुवचनम् । कुतः ? लिङ्गविशेषनिर्देशात् । विशिष्टलिङ्गो ह्यध्रिगुवचनेन निर्दिष्टः—**प्रास्मा अग्निं भरत**[1] इति पुंशब्दः[2] स्त्रीत्वं चास्याः । न च पुंवचनः स्त्रियमभिवदितुमलं भवति शब्दः । तस्मादध्रिगुवचनमप्राप्ता सारस्वती मेषीति ॥४५॥

पश्वभिधानाद्वा तद्धि चोदनाभूतं पुंविषयं पुनः पशुत्वम् ॥४६॥ (पू०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदस्ति । अप्राप्ता सारस्वती, अध्रिगुवचन-

---

व्याख्या—समान विधान वाले पशुओं में सारस्वती मेषी अध्रिगु वचन को अप्राप्त है । किस हेतु से ? लिङ्गविशेष के निर्देश से । विशिष्टलिङ्ग वाला ही अध्रिगु वचन से निर्दिष्ट है—प्रास्मा अग्निं भरत । यहां [अस्मै से] पुंपशु कहा गया है, इस (=सारस्वती मेषी) का तो स्त्रीत्व है । पुंवचन शब्द स्त्री को कहने में समर्थ नहीं होता है । इस से सारस्वती मेषी अध्रिगुवचन को प्राप्त नहीं होती ।

विवरण—लिङ्गविशेषनिर्देशात्—स्त्रियां यत् प्रातिपदिकं तस्मात् टाप् प्रत्ययो भवति (महाभाष्य ४।१।३) इस वचन से लिङ्ग प्रातिपदिकार्थ भिन्न है । इसीलिये प्रथमाविधायक सूत्र (अष्टा० २।३।४६) में प्रातिपदिकार्थ से लिङ्ग के गतार्थ न होने से लिङ्ग का पृथक् ग्रहण किया है । इसलिये **अस्मै** स्त्री विशिष्ट में असमवेत होने से मेषी में अध्रिगु प्रैष अप्राप्त है, यह इस कृत्वा चिन्ता में सिद्धान्तवादी का कथन है ! परन्तु **ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी चागता** के लिये **ब्राह्मणावागता** प्रयोग में पुंलिङ्ग से स्त्रीलिङ्ग भी कहा जाता है । अतः **अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत** में अष्टवर्षा ब्राह्मणी कन्या का उपनयन भी शास्त्रसम्मत है । यह अर्थ **प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवति** न्याय से भी शास्त्रसम्मत है। परन्तु प्रकृत विचार कृत्वा चिन्ता के रूप में है, न कि यहां सिद्धान्तित पक्ष एकान्त है । यह ध्यान में रखना चाहिये । इस दृष्टि से **प्रास्मै** चोदक वचन से उपस्थित **प्रास्मा अग्निं भरत** प्रैष वचन में सारस्वती मेषी के प्रसङ्ग में **प्रास्या अग्निं भरत** ऊह होगा । द्रष्टव्य—सूत्र ४७ के भाष्य का अन्तिम भाग ।

पश्वभिधानाद् वा तद्धि चोदनाभूतं पुंविषयं पुनः पशुत्वम् ॥४६॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'अध्रिगु प्रैष सारस्वती मेषी को अप्राप्त है' का निवर्तक है । (पश्वभिधानात्) **अग्नीषोमीयं पशुमालभेत** विधिवाक्य में पशु का कथन होने से (तत्) वह (चोदनाभूतम्) विधिगत पशु शब्द (हि) ही अध्रिगु वचन में (पुंविषयम्) पुंल्लिङ्ग विषयक '**अस्मै=पशवे**' रूप में विद्यमान है । (पुनः) फिर वह (पशुत्वम्) पशु को कहता है । सारस्वती मेषी में भी वह पशुत्व है । अतः अध्रिगु प्रैष सारस्वती मेषी में भी प्राप्त है ।

व्याख्या—'वा' शब्द पक्ष को निवर्तित करता है । यह नहीं है—सारस्वती मेषी

---

१. तै० ब्रा० ३।६।६।१॥ २. 'पुंपशुः' इत्यपपाठः पुणेसंस्करणे ।

मिति। तस्यामप्यध्रिगुवचनं स्यात्। कुतः? प्रकरणात्। समानं प्रकरणं सर्वेषां पशूनामिति कृत्वा चिन्त्यते। तेन सारस्वत्या अपि प्राप्नोतीति। लिङ्गविशेषादयुक्तं तस्यामिति यदुच्यते, तन्न। पश्वभिधानात्। अस्ति तत्र पशुत्वं संनिहितम्। तदभिप्रेत्य **प्रास्मा अग्निं भरत** पशव इति ब्रूयात्। तद्धि चोदनाभूतम्। सर्वनामशब्दस्य पुंविषयत्वम्। तत् पशुशब्देनोच्यते। अस्ति च तत्, मेष्याम्। तदभिप्रेत्य पशुशब्दसमानाधिकरणं सर्वनामशब्दं समुच्चारयिष्यति। एवं प्रकरणमनुग्रहीष्यते। तस्मात् प्राप्नुयात् सारस्वती, अध्रिगुवचनमिति ॥४६॥

विशेषो वा तदर्थनिर्देशात् ॥४७॥

वाशब्द एतं पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति। प्राप्नुयात्सारस्वत्यध्रिगुवचनमिति। अयमन्यः पक्षः, न प्राप्नुयादिति। कुतः? विशेषो वा तदर्थनिर्देशात्। पुमर्थं ह्येष शब्दो निर्देष्टुं शक्नोति। स्त्रीलिङ्गश्चायमर्थो मेषीति। स्त्रियं पुंशब्दो न शक्नोत्यभिवदितुमिति प्रथम एव पक्षः संकीर्तितः। केवलं परपक्षस्यानवक्लृप्तिर्वक्तव्या ॥४७॥

अध्रिगुवचन को अप्राप्त है। उसमें भी अध्रिगु वचन होवे। किस कारण से? प्रकरण से। सब पशुओं का समान प्रकरण है (द्र०—मी० ३।६।१८)। इसको स्वीकार करके यह विचार किया है। इस कारण सारस्वती मेषी में भी [अध्रिगु वचन] प्राप्त होता है। और जो कहा—लिङ्गविशेष के निर्देश से उस (=सारस्वती मेषी) में अयुक्त है। वह [अयुक्त] नहीं है। पश्वभिधान होने से। वहाँ (=सारस्वती मेषी) में पशुत्व सन्निहित (=विद्यमान) है। उस पशुत्व को मानकर प्रास्मा अग्निं भरत 'पशवे' ऐसा कहे। वह पशुत्व निश्चय से चोदना रूप है। सर्वनाम शब्द (=अस्मै) का पुंविषयत्व है, वह पशु शब्द से कहा जाता है। और वह (पशुत्व) मेषी में है। उसको मानकर पशु शब्द से समान अधिकरण सर्वनाम शब्द का उच्चारण करेगा [अर्थात् मेषी में भी प्रास्मा अग्निं भरत अध्रिगु प्रैष उपपन्न होगा]। इस प्रकार प्रकरण अनुगृहीत होगा। इसलिये सारस्वती मेषी अध्रिगु वचन को प्राप्त होवे ॥४६॥

विशेषो वा तदर्थनिर्देशात् ॥४७॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व सूत्रोक्त पक्ष 'अध्रिगु प्रैष पशुत्व के सारस्वती मेषी में विद्यमान होने से उसको प्राप्त है' को निवृत्त करता है। 'प्रास्मै' में (विशेषः) पुंल्लिङ्ग विशिष्ट शब्द (तदर्थनिर्देशात्) उस पुल्लिङ्ग अर्थ का निर्देश होने से पुंल्लिङ्ग के अर्थ को ही कह सकता है। सारस्वती मेषी में जो स्त्रीलिङ्ग अर्थ है उसको नहीं कह सकता। अतः अध्रिगु प्रैष सारस्वती मेषी को प्राप्त नहीं है।

व्याख्या—'वा' शब्द इस पक्ष को हटाता है। यह नहीं है कि 'सारस्वती मेषी अध्रिगु वचन को प्राप्त होवे'। यह अन्य पक्ष है—प्राप्त न होवे। किस हेतु से? विशेष है तदर्थ निर्देश से। पुंल्लिङ्ग अर्थ का ही यह शब्द निर्देश कर सकता है। यह अर्थ स्त्रीलिङ्ग है मेषी। स्त्रीलिङ्ग को पुंशब्द नहीं कह सकता, यह प्रथम पक्ष ही कहा गया। केवल परपक्ष की अनवक्लृप्ति (=अनुपपत्ति) कहनी है ॥४७॥

पशुत्वं चैकशब्द्यात् ॥४८॥

अथ यदुक्तं, पशुत्वाभिप्रायमेतद्वचनम् । एको हि शब्दः पशुत्वस्य च पशोश्च । तेन, प्रास्मै पशव इत्यभिसम्बन्धो भविष्यतीति । तत्परिहर्तव्यमिति ॥४८॥

यथोक्तं वा संनिधानात् ॥४९॥ (उ०)

यथोक्तं स्यादध्रिगुवचनम् अप्राप्ता सारस्वती । कुतः ? पूर्वस्मादेव कारणाल्लिङ्गविरोधादिति । यदुक्तं, पशुशब्दसमानाधिकरणः सर्वनामशब्दः प्रयोक्ष्यत इति । तन्न । कुतः ? संनिधानात् । संनिहितवचनो हि सर्वनामशब्दः । उच्चरितमात्रो यः पदार्थः शब्देन संनिहितः, तेन सम्बध्यते । अथ तस्मिन्नसति, लिङ्गादि-

---

पशुत्वं चैकशब्द्यात् ॥४८॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष 'सारस्वती मेषी स्त्रीलिङ्ग होने से अध्रिगुवचन को प्राप्त नहीं है' (पशुत्वम्) पशुत्वाभिप्राय से 'प्रास्मै' मेषी को कहेगा (ऐकशब्द्यात्) पशु और पशुत्व का एक ही शब्द होने से ।

विशेष—इस सूत्र के पदों की भाष्यानुसार व्याख्या करने में असमर्थ हैं । अन्य वृत्तिग्रन्थों के अनुसार सूत्रार्थ दर्शाया है ।

व्याख्या—जो यह कहा 'पशुत्वाभिप्राय वाला यह वचन है' । एक ही शब्द है पशुत्व का और पशु का । इससे प्रास्मै में 'अस्मै' शब्द से 'पशवे' यह सम्बन्ध होगा । इसका परिहार करना चाहिये ॥४८॥

यथोक्तं वा सन्निधानात् ॥४९॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष 'पशुत्व सम्बन्ध से अध्रिगु वचन मेषी में होगा' को निवृत्त करता है । (यथोक्तम्) जैसा अध्रिगुवचन होवे, अर्थात् सारस्वती मेषी को वह अप्राप्त है । (सन्निधानात्) सर्वनाम शब्द सन्निहित=समीपस्थ को ही कहता है । 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' में प्रयुक्त पशु शब्द सन्निहित नहीं है ।

विशेष—हमारा विचार है कि इस सूत्र में पठित 'वा' शब्द एवार्थक है । एवार्थक होने पर भी पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति हो ही जाती है । कुतूहलवृत्ति में 'असन्निधानात्' पाठ है । विधिगत पशु शब्द सन्निहित नहीं है ।

व्याख्या—यथोक्त अध्रिगुवचन होवे । सारस्वती मेषी उसे अप्राप्त है । किस हेतु से ? पूर्व उक्त कारण लिङ्ग-विरोध से ही । जो यह कहा—पशु शब्द का समानाधिकरण सर्वनाम [अस्यै] का प्रयोग करेंगे । यह नहीं है । किस हेतु से ? सन्निहित का वाचक होने से । सर्वनाम शब्द समीपस्थ को कहता है । उच्चरितमात्र जो पदार्थ शब्द से सन्निहित होता है, उसी से ही [सर्वनाम शब्द] सम्बद्ध होता है । और उस के न होने पर लिङ्गादि सब विशेषणों से विशिष्ट

सर्वविशेषणविशिष्टे स्वरूपेण संनिहिते प्रयुज्यते[1]। संनिधाने नैकेन विशेषणेन विशिष्टां व्यक्तिमभिवदितुं शक्नोति। संनिधानात्तत्रैकं सामान्यमाश्रीयते, नान्यत् किंचित्पशुत्वादि। तत्रोच्चार्यमाणे पशुशब्दे शब्देन व्यक्तेर्निष्कृष्टे पशुत्वे, अस्मै पशव इति शक्यते सम्बन्धः कर्तुम्। अनुच्चार्यमाणे तु लिङ्गविशेषवचनः प्राप्नोति। तस्मादप्राप्ता सारस्वत्यध्रिगुवचनमिति कृत्वा चिन्तेयम्। अत्र प्रयोजनं न वक्तव्यम्[2]। किमग्नीषोमीयार्थाः पशुधर्मा उत साधारणा इत्यस्मिन्नधिकरणे प्रयोजनाय विचारोऽयम्। यदि साधारणाः पशुधर्मास्ततः सारस्वत्यध्रिगुवचनमप्राप्ता, अथ अग्नीषोमीयधर्मास्ततोऽस्यामध्रिगुवचनमूहेन प्राप्यते। न च प्रयोजनस्य प्रयोजनं वक्तव्यम् ॥४६॥

[यज्ञायज्ञीये नित्यमिरापदस्य गिरापदबोधकत्वाधिकरणम् ॥१७॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमः, ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत[3] इति। तत्र यज्ञायज्ञीयं

सन्निहित में स्वरूप से प्रयुक्त होता है। सन्निधान में एक विशेषण से विशिष्ट व्यक्ति को नहीं कह सकता। सामीप्यता से वहां एक सामान्य का आश्रय किया जाता है, अन्य का पशुत्वादि आश्रीयमाण नहीं होता। वहां पशु शब्द का उच्चारण होने पर शब्द से व्यक्ति से पृथक् पशुत्व में 'अस्मै पशवे' ऐसा सम्बन्ध किया जा सकता है। [पशु शब्द के] उच्चारण न होने पर लिङ्गविशेष को कहनेवाला प्राप्त होता है। इससे सारस्वती अध्रिगु वचन को अप्राप्त है, यह कृत्वा चिन्ता है [पूर्वपक्षी की बात को स्वीकार करके जो विचार किया जाता है, वह कृत्वा चिन्ता कहाती है]। कृत्वा चिन्ता में विचार का प्रयोजन दर्शाने की आवश्यकता नहीं होती। 'क्या पशुधर्म अग्नीषोमीयार्थ हैं अथवा साधारण (=सर्वपशुविषयक) हैं' इस अधिकरण (मी० ३।६। अधि० ७) में प्रयोजनार्थ यह विचार है—यदि साधारण पशुधर्म हैं तो सरस्वती मेषी में अध्रिगु वचन अप्राप्त है, और अग्नीषोमीय ही हैं तो इसमें (=मेषी में) अध्रिगु वचन ऊह से प्राप्त होता है। प्रयोजन का प्रयोजन नहीं कहना चाहिये ॥४६॥

व्याख्या—ज्योतिष्टोम का निर्देश किया है—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत

---

१. 'विशिष्टेन स्वरूपेण संनिहितेन युज्यते' इति पाठान्तरम्।

२. द्र०—आक्षेपेष्वपवादेषु प्राप्त्या लक्षणकर्मणि।
प्रयोजनं न वक्तव्यं यश्च कृत्वा प्रवर्तते ॥ मी० भाष्य २।१।३२॥

३. द्र०—स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत। आप० श्रौत १०।२।१॥

प्रकृत्याऽऽमनन्ति—न गिरा गिरेति ब्रूयात्, यद् गिरा गिरेति ब्रूयादात्मानं तदुद्गातोद्गिरेत्, ऐरं कृत्वोद्गेयम् इति। तत्र संशयः—किमिरापदं गिरापदं वा कर्तव्यम् अथवेरापदमेवेति ? किं प्राप्तम् ?

(=ज्योतिष्टोम से स्वर्ग की कामनावाला यजन करे)। उसमें यज्ञायज्ञीय साम का निर्देश करके पढ़ते हैं–न गिरा गिरेति ब्रूयात्, यद् गिरा गिरेति ब्रूयादात्मानं तदुद्गाता उद्गिरेत्, ऐरं कृत्वा उद्गेयम् (='गिरा गिरा' ऐसा न बोले। जो गिरा गिरा ऐसा बोले तो उद्गाता अपने आत्मा=शरीर को गिरा दे, इरा इरा[1] कर के गान करे)। इसमें संशय है। क्या इरा पद और गिरा पद विकल्प से बोलने चाहिये अथवा इरा पद ही बोले। क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—**यज्ञायज्ञीयं प्रकृत्य**—'यज्ञायज्ञा' शब्द जिस सूक्त वा साम में है, वह यज्ञायज्ञीय कहाता है। इसमें **मतौ छः सूक्तसाम्नोः** (अष्टा० ५।२।५९)सूत्र से छ=ईय प्रत्यय होता है। यज्ञायज्ञीय साम की योनि ऋक् है—

यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे ।
प्र प्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥

साम पू०, प्रपा० १, अर्ध प्र० १; दशति ४, मं० १। सकलसंख्या ३५

एक साम तृच (=तीन ऋचाओं)में गाया जाता है, जब वह स्तोत्रीय=यज्ञ में स्तोत्र रूप पढ़ा जाता है। **एकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रीयम्** (मी० भा० ९।२।१४ में उद्धृत)।[2] योनि ऋक् के साथ तृचत्व के सम्पादन के लिए उत्तरार्चिक में एक ऋचा और पढ़ी है। द्र०—साम उ० प्र० १, प्रर्ध प्र० १, २०। सकल संख्या ७०३, ७०४॥ यहां २ ऋचाओं को ही ३ ऋचा बनाकर यज्ञायज्ञीय साम गाया जाता है। दो ऋचाओं को ३ ऋचाओं में कैसे परिणत करते हैं, यह अगले द्वितीय पाद में दर्शायेंगे। **उद्गातोद्गिरेत्**—'उद्गिरेत्' रूप उत् पूर्वक 'गॄ निगरणे' का है। सायण ने इसका अर्थ 'मरण' किया है। क्या लोकभाषा में प्रयुक्त गिरना गिराना क्रिया का सम्बन्ध "गिरति" क्रिया के साथ है ? **ऐरं कृत्वोद्गेयात्**—सायण ने ता० ब्रा० ८।६।९,१० के भाष्य में 'ऐरम्' का अर्थ 'इरा सम्बन्धी' गान किया है। पूज्य आचार्यवर ने पढ़ाते समय 'आ इ रा' बताया था, यह भाष्य की पुस्तक पर उसी समय का लिखा हुआ है। तदनुसार 'गिरा' के स्थान पर 'आ इ रा' ऐसा गान करे। इस विच्छेद में आ+इ+रा =एरा, एरा एव ऐरम्, प्रज्ञादित्वात् (अष्टा० ५।४।३८) स्वार्थ में अण् जानना चाहिये।[3]

---

१. यह तां० ब्रा० ८।६।९,१० के सायणभाष्य के अनुसार है।

२. मीमांसोद्धरणकोश में इस वचन का पता ऐ० ब्रा० ३।२३ लिखा है, परन्तु वहां तो 'एक साम को तीन ऋचा के बराबर कहा गया है'। हां, इस सायणभाष्य में ऊपर उद्धृत वचन को शाखान्तर रूप कहा है।

३. सायण ने 'ऐरम्' में विमुक्तादिभ्योऽण् (अष्टा० ५।२।६१) से साम की अनुवृत्ति

आम्नातादन्यदाधिकारे वचनाद्विकारः स्यात् ॥५०॥ (उ०)

यत्राधिकार आम्नातादन्यदुच्यते, तत्र तद्विकारभूतं स्यात्। ज्योतिष्टोमाधिकार आम्नाताद् गिरापदादन्यदुच्यत इरापदम्। तद्विशेष उच्यमानं सामान्येन प्राप्तं गिरापदं बाधेत ॥५०॥

द्वैधं वा तुल्यहेतुत्वात् सामान्याद्विकल्पः स्यात् ॥५१॥ (पू०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। न इरापदं नियम्येत। द्वैधं स्यात्। द्वौ प्रकारौ

सायण ने सामवेद भाष्य की भूमिका में जैमिनिन्यायमालाविस्तर का जो एतद्विषयक भाग उद्धृत किया है[1], उसमें 'आ यि रा' पाठ का निर्देश किया है—ब्राह्मणे तु गकारलोपपूर्वकमाकारयकारादिकं (आ यि रा) गानं विधीयते। अर्थात् 'आ यि रा' गान करना चाहिये। 'आ इ रा' तथा 'आ यि रा' पाठ शाखाभेद से है। इसी प्रकार अन्यत्र भी गान पाठों में इकार से पूर्व यकार निर्देश के विषय में जानना चाहिए। जैसे वामदेव्यगान में—यित्रा, इत्रा; चायि चाइ; हायि, हाइ (द्र०—अस्मत् सम्पादित संस्कारविधि, महावामदेव्यगानपाठसम्बन्धी टिप्पणी)।

आम्नातादन्यदाधिकारे वचनाद् विकारः स्यात् ॥५०॥

सूत्रार्थः—जिस (आधिकारे) प्रकरण में (आम्नाताद्) पाठ से (अन्यत्) भिन्न कहा जाता है, वहां (वचनात्) विधान सामर्थ्य से (विकारः) विकार (स्यात्) होवे।

व्याख्या—जिस अधिकार में आम्नात (=पठित) से भिन्न कहा जाता है, वहां वह विकाररूप होवे। ज्योतिष्टोम के अधिकार में पठित गिरा पद से भिन्न कहा जाता है इरा पद। वह विशेष कहा गया सामान्य से प्राप्त इरा पद को बाधे ॥५०॥

द्वैधं वा तुल्यहेतुत्वाद् सामान्याद् विकल्पः स्याद् ॥५१॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष 'गिरा के स्थान में इरा का उच्चारण करना चाहिये' को हटाता है। (तुल्यहेतुत्वात्) हेतु के तुल्य होने से अनुष्ठान का (द्वैधम्) दो प्रकार है। इस प्रकार दोनों के (सामान्यात्) समान प्रयोजनवाला होने से (विकल्पः) विकल्प (स्यात्) होवे।

व्याख्या—'वा' शब्द [पूर्व उक्त] पक्ष को निवृत्त करता है—इरा पद ही नियमित न होवे। दोनों प्रकार का होवे। दो प्रकार होवें, यह तात्पर्य है। वे दो प्रकार कौन से हैं ? इरा

मानकर अण् प्रत्यय माना है। (द्र०—काशी मुद्रित श्री पं० बलदेव उपाध्याय सम्पादित 'वेदभाष्यभूमिका संग्रह' पृष्ठ ७०, यह सायणीय वेदभाष्यों की भूमिका का संग्रह है)। वस्तुतः वहां सूक्तसाम्नोः० की अनुवृत्ति नहीं है। अध्यायानुवाकयोर्लुक् (४।२।६०) से अध्याय और अनुवाक की अनुवृत्ति है। अतः सायण का यह लेख अशुद्ध है।

१. वेदभाष्यभूमिका संग्रह, पृ० ६९।

स्यातामित्यर्थः। कौ द्वौ प्रकारौ ? इरापदवचनं, गिरापदवचनं च। तुल्यो हि हेतुः। गिरापदमाम्नातम्। तद्वता साम्ना ज्योतिष्टोमः साधयितव्य इत्येतदप्यवगम्यते। इरापदेन साधयितव्यमित्येतदपि। समानार्थे चैते द्वे पदे। एकमपि स्तुत्यर्थमपरमपि। तस्माद्विकल्पः स्यात्। इरापदं गिरापदं वेति ॥५१॥

अत्राऽऽह। नैतयोस्तुल्यता विद्यते। गिरापदे समाम्नानमात्रं, न कर्तव्यता विधीयते। इरापदे तु कर्तव्यता विधीयते। तन्न। कुतः ?

उपदेशाच्च साम्नः ॥५२॥

उपदेशात् साम्नः। उपदिश्यते हि साम यज्ञायज्ञीयेन स्तुवन्तीति। गिरापदवच्च यज्ञायज्ञीयम्। तस्मिन्नुपदिश्यमाने गिरापदमप्युपदिष्टं भवति। तस्माद्विकल्प इति ॥५२॥

नियमो वा श्रुतिविशेषादितरत् साप्तदश्यवत् ॥५३॥ (उ०)

पद का उच्चारण और गिरा पद का उच्चारण। हेतु तुल्य है। गिरा पद [मन्त्र में] पठित है। उस से युक्त साम से ज्योतिष्टोम को सिद्ध करना चाहिये, यह जाना जाता है, इरा पद से सिद्ध करना चाहिये यह भी। समान प्रयोजन के लिये ये दो पद हैं। एक भी स्तुति के लिये है, दूसरा भी। इसलिये विकल्प होवे—इरा पद अथवा गिरा पद का प्रयोग करना चाहिये ॥५१॥

इस विषय में कहते हैं—दोनों की तुल्यता नहीं है। गिरा पद का पाठमात्र है, उसमें कर्तव्यता का विधान नहीं किया जाता है। इरा पद में तो कर्तव्यता विहित है। यह नहीं है। किस हेतु से ?

उपदेशाच्च साम्नः ॥५२॥

सूत्रार्थः—(साम्नः) साम के (उपदेशात्) उपदेश से (च) भी विकल्प होवे।

व्याख्या—साम के उपदेश से। साम उपदिष्ट है—यज्ञायज्ञीयेन स्तुवन्ति(=यज्ञायज्ञीय साम से स्तुति करते हैं)। और यज्ञायज्ञीय साम गिरा पदवाला है। उस (=यज्ञायज्ञीय साम) के उपदिश्यमान होने पर गिरा पद भी उपदिष्ट होता है। इस से विकल्प होवे ॥५२॥

नियमो वा श्रुतिविशेषादितरत् साप्तदश्यवत् ॥५३॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'विकल्प होवे' का निवर्तक है। (श्रुतिविशेषात्) श्रुतिविशेष से (नियमः) नियम होवे। इरा पद का ही उच्चारण होवे। (इतरत्) अन्य गिरापद (साप्तदश्यवत्) सप्तदश सामिधेनी के समान विकृति में प्रयुक्त होवे।

नियमो वा स्यादिरापदस्य। कुतः ? श्रुतिविशेषात्। श्रुतिविशेषेणेरापदमुपदिष्टम्—ऐरं कृत्वा इति। सामान्येन गिरापदम्। तत्कथं साम्नः कर्तव्यतोच्यते। गिरापदस्य पाठमात्रं, न कर्तव्यता। न त्वन्यथा साम कृतं भवतीत्यर्थापत्त्या गिरापदस्य कर्तव्यता कल्प्यते। इरापदस्य पुनः श्रुत्यैव कर्तव्यता। तेन साम्नि सिद्धे नास्त्यर्थापत्तिर्गिरापदस्य। अथ यः सामान्येनोपदिष्टस्तस्य को विषयः। तदुच्यते। इतरत् साप्तदश्यवदिति। इतरदिति गिरापदमुपदिश्यते। तद्यथा साप्तदश्यं, तथा स्यात्। विकृतिषु साप्तदश्यं निविशते। इतरदपि विकृतीरभिनिवेष्टुमर्हति इति ॥५३॥

व्याख्या—नियम ही होवे इरापद का। किस हेतु से ? श्रुतिविशेष से। श्रुतिविशेष से इरापद का उपदेश किया है—ऐरं कृत्वा। तो फिर कैसे साम की कर्तव्यता कही जाती है ? गिरा पद का पाठमात्र है, कर्तव्यता नहीं है। अन्य रूपवाला साम होता है। इस अर्थापत्ति से गिरापद की कर्तव्यता कल्पित नहीं होती। इरापद की कर्तव्यता तो श्रुति से ही है। उस (= इरापद) से साम के सिद्ध होने पर गिरापदविषयक अर्थापत्ति नहीं हो सकती। (आक्षेप) जो सामान्य रूप से उपदिष्ट [गिरापद] है, उसका क्या विषय है [अर्थात् कहां प्रयुक्त होगा] ? (समाधान) इस विषय में कहते हैं—इतर साप्तदश्य के समान। इतरत् से गिरा पद कहा जाता है। जैसे साप्तदश्य होवे। विकृतियों में साप्तदश्य निविष्ट होता है। अन्य [गिरापद] भी विकृतियों में निविष्ट होवे।

विवरण—सामान्येन गिरापदम्—यज्ञायज्ञा वो अग्नये इत्यादि मन्त्रपाठ में सामान्य रूप से गिरा पद का निर्देश किया है। **तत् कथं साम्नः कर्तव्यता उच्यते—यज्ञायज्ञीयेन स्तुवन्ति** से गिरा पदवाले *यज्ञायज्ञीय* की कर्तव्यता कैसे कही जाती है ? गिरा शब्द का पाठ मात्र है, उसकी कर्तव्यता नहीं कही गई है। **अन्यथा साम कृतं भवति**—गिरा पद के स्थान में इरा पद के पाठ से यज्ञायज्ञीय अन्य प्रकार का हो जाता है, वह अन्य प्रकार का न होवे, इस अर्थापत्ति से गिरा पद की कर्तव्यता की कल्पना नहीं की जा सकती। **तेन साम्नि सिद्धे—ऐरं कृत्वा** श्रुति से इरा पद के पाठ से साम सिद्ध हो जाता है, अर्थात् स्तोत्राङ्ग रूप से स्तुतिसाधनत्व उपपन्न हो जाता है। **साप्तदश्यवत्**—सप्तदश का भाव साप्तदश्य, ब्राह्मणादि (अष्टा० ५।१।१२४) के आकृतिगण होने से भाव में ष्यञ् प्रत्यय। **साप्तदश्यस्य इव साप्तदश्यवत्,** तत्र तस्येव (अष्टा० ५।१।११६) से इवार्थ में वति प्रत्यय। **विकृतीरभिनिवेष्टुमर्हति**—भाष्यकार ने जहां भी **सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्** अथवा **अन्वाह** वचन उद्धृत किया है, वहां इसे अनारभ्यविधिस्थ कहा है (द्र०—मी० भाष्य ३।६।६॥ ८।४।१४॥ १०।८।१७,१६ आदि)। अनारभ्य विधियां प्रकृतिगामिनी होती हैं (द्र०—मी० ३।६। अधि० १)। इस सामान्य न्याय का अपवाद है, अनारभ्य सामिधेनियों का साप्तदश्य विकृतियों में निवेश होता है (मीमांसा ३।६। अधि० २)। साप्तदश्य का भी सब विकृतियों में समावेश प्राप्त नहीं होता। क्योंकि **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** न्याय से प्रकृति में विहित सामिधेनियों का पाञ्चदश्य ही अतिदिष्ट होता है। अतः मी० १०।८। अधि० ६। सूत्र १७-१६ में कहा है कि जिन

[गिरापदस्थानापन्नेरापदे गानकर्तव्यताधिकरणम् ॥१८॥]

ज्योतिष्टोमे यज्ञायज्ञीयं प्रकृत्याऽऽमनन्ति—**न गिरा गिरेति ब्रूयात्, यद् गिरा गिरेति ब्रूयादात्मानमेव तदुद्गातोद्गिरेद्, ऐरं कृत्वोद्गेयम्**[1] इति। ज्योतिष्टोमे गिरापदस्य स्थान इरापदं कर्तव्यमिति समधिगतम्। इदानीमिदं संदिग्धम्। किं प्रगीतमिरापदं कर्तव्यमुताप्रगीतमिति ? किं प्राप्तम् ?

मित्रविन्दादि विकृतियों में सामिधेनियों का साप्तदश्य विहित है, उनमें ही साप्तदश्य निविष्ट होता है। गिरा पद के स्थान में प्रकृतिभूत अग्निष्टोम में **ऐरं कृत्वा** वचन से इरा रूप में गान का विधान किया है। विकृतियों में वे ही विधियां अतिदिष्ट होती हैं, जो प्रकृति में क्लृप्तोपकारक हों। प्रकृति में इरा पद ही क्लृप्तोपकारक है। इरा पद से गिरा शब्द प्रकृति में बाधित होने से क्लृप्तोपकारक नहीं है। अतः इसका विकृतियों में गिरा का निवेश प्राप्त ही नहीं है और किन्हीं विकृतियों में साप्तदश्य के समान 'गिरा' पठित है, जिससे किन्हीं विकृतियों में उसका निवेश सम्भव हो। अत: **साप्तदश्यवद् विकृतीरभिनिवेष्टुमर्हति** कथन उपपन्न नहीं होता। यह भट्ट कुमारिल ने और तदनुयायी कुतूहलवृत्तिकार ने कहा है। इसलिये **इतरत् साप्तदश्यवत्** का भाव है—जैसे प्रकृति में पञ्चदश सामिधेनियों का विधान होने से उसके द्वारा **अनारभ्याधीत साप्तदश्य** की प्रकृति में बाध होता है, उसी तरह प्रकृतिस्थ **ऐरं कृत्वोद्गायेत**—विधि से गिरा पद की प्रकृति में बाधा होती है, इसी अंश में दृष्टान्त जानना चाहिए। गिरा शब्द के प्रकृति में क्लृप्तोपकारक न होने से विकृतियों में भी निवेश न होगा, तो मन्त्रपठित गिरा शब्द का कहां होगा। इसके लिए भट्ट कुमारिल और कुतूहलवृत्तिकार ने लिखा है—अग्निचयन में कहा है—**यज्ञायज्ञीयेन पुच्छे गायति** (=चयन के पुच्छ में यज्ञायज्ञीय का गान करता है—भट्ट कुमारिल), **यज्ञायज्ञीयेनाग्नेः पुच्छमुपतिष्ठते**(=यज्ञायज्ञीय से अग्निचयन के पुच्छ का उपस्थान करता है—कुतू०) तथा **अग्नावाधीयमाने यज्ञायज्ञीयं गायति** (=अग्नियों के आधान के समय यज्ञायज्ञीय का गान करता है—कुतू०) आदि विधियों में जो विकृतिरूप नहीं हैं, उनमें यज्ञायज्ञीय साम के गान में गिरापद को अवकाश मिलता है। इसलिये प्रकृति और विकृतियों में 'इरा' पद का ही गान होता है ॥५३॥

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में यज्ञायज्ञीय के प्रकरण में पढ़ते हैं—न गिरा गिरेति ब्रूयात्। यद् गिरा गिरेति ब्रूयादात्मानमेव तदुद्गातोद्गिरेद्। ऐरं कृत्वोद्गेयम् (=गिरा गिरा ऐसा न बोले। जो गिरा गिरा इस प्रकार बोले तो उद्गाता अपने शरीर को ही गिराए। ऐरं कृत्वा गान करे)। ज्योतिष्टोम में गिरापद के स्थान में इरा पद करना चाहिये, यह जाना गया। अब यह संदिग्ध है—क्या प्रगीत इरा पद करना चाहिये अथवा अप्रगीत ? क्या प्राप्त होता है ?

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ २४२३, टि० १।

अप्रगाणाच्छब्दान्यत्वे तथाभूतोपदेशः स्यात् ॥५४॥ (पू०)

गिरापदादन्यस्मिञ्शब्दे श्रूयमाणे ब्रूमः—अप्रगीतमिरापदं कर्तव्यमिति। कुतः? अप्रगाणात्। न हि तत्प्रगीतमुपदिश्यते। सर्वं हि यद्यथाभूतमुपदिश्यते, तत्तथाभूतमुपयोक्तव्यम्।

ननु नैव तदप्रगीतमुच्चार्यते। तद्धितशब्देनायं निर्देशः क्रियते। तेन स्वरविशेषः कश्चिन्निर्दिष्टो भवति। अत्रोच्यते। यद्यपि चास्ति स्वरविशेषः। अन्ये तु गीतिविकारा आईभावादयो न निर्दिश्यन्ते। अविकृतात्तद्धित उत्पादितः। तस्मादविकृतं प्रयोक्तव्यम्। अथोच्यते। तद्भूतनिर्देशोऽविवक्षित[1] इति। उच्यते। अविवक्षायां[2] कारणं वक्तव्यम्। विवक्षायां तु निर्देश एव कारणम्। तस्मादप्रगीतं प्रयोक्तव्यमिति ॥५४॥

अप्रगाणाच्छब्दान्यत्वे तथाभूतोपदेशः स्यात् ॥५४॥

सूत्रार्थः—गिरापद से इरा के (शब्दान्यत्वे) अन्य शब्द होने से (अप्रगाणात्) गान न होने से (तथाभूतोपदेशः) उसी प्रकार का (=गानरहित का) ही जैसा उपदेश है, प्रयोग (स्यात्) होवे।

व्याख्या—गिरापद से अन्य शब्द के श्रूयमाण होने पर कहते हैं—गानरहित इरा पद करना चाहिये। किस हेतु से? अप्रगाण होने से। उसका गानयुक्त उपदेश नहीं किया है। सबका जैसा उपदेश किया जाता है, उनका उसी प्रकार उपयोग करना चाहिये।

(आक्षेप) वह अप्रगीत उच्चारित नहीं किया जाता है। तद्धित शब्द से इस का निर्देश किया है, उससे स्वरविशेष निर्दिष्ट होता है। (समाधान) यद्यपि स्वर विशेष है, किन्तु अन्य गीति के विकार आई भाव आदि का निर्देश नहीं किया है। अविकृत(=शुद्ध 'इरा') से तद्धित का निर्देश किया है। इसलिये अविकृत का प्रयोग करना चाहिये। यदि कहो तद्भूत निर्देश (=ऐर) विवक्षित नहीं है। इसमें हमारा कहना है—अविवक्षा में कारण कहना चाहिये। विवक्षा में तो निर्देश ही कारण है। इसलिये अप्रगीत [इरा] का ही प्रयोग करना चाहिये।

विवरण—**तद्धितेनायं निर्देशः क्रियते**—इसकी टुप्टीका में इस प्रकार व्याख्या की है—'ऐरम्' यह तस्य विकारः (अष्टा० ४।३।१३२) से विकार में तद्धित उत्पन्न हुआ है। वर्णों का स्वरविशेष ही विकार होता है। यहां विकार में तद्धित उत्पन्न नहीं हुआ है। तो किसमें उत्पन्न हुआ है? स्वार्थ में ही (द्र०—प्रज्ञादित्वात् ५।४।३८ से स्वार्थ में अण्)। जितना

---

१. 'तद्भूतनिर्देशो न विवक्षितः' इति पाठान्तरम्।

२. 'अविवक्षायां न किंचित्' इति पाठान्तरम्। अस्मिन् पाठे 'कारणं' इति शेषो वक्तव्यः।

यत्स्थाने वा तद्गीतिः स्यात् पदान्यत्वप्रधानत्वात् ॥५५॥ (उ०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । यस्य पदस्य स्थान इरापदं प्रयुज्यते, तस्य पदस्य या गीतिः सा इरापदे स्यात् । कुतः ? पदान्यत्वप्रधानत्वात् । पदान्यत्वप्रधानं हीदं

कहा जाये—'इरां कृत्वोद्गेयम्' उतना ही ऐरम् का है । यदि प्रगीत इरा से तद्धित उत्पन्न होता है, तो उस अवस्था में ['तालव्य आयी यद् वृद्धम्' छान्दोग्यसूत्र से] वृद्ध तालव्य अथवा प्रथम स्वर करके इकार का 'आयी भाव' होवे और उससे वृद्धाच्छः (अष्टा० ४।२।११३) से 'छ' (=ईय) होता है । उस स्थिति में 'आयिरीय' प्रयोग होवे । ऐसा श्रुति में सुना नहीं जाता । इसलिये स्वार्थ में तद्धित है ।

टुप्टीका में जो वृद्धं तालव्यं प्रथमः स्वरः सूत्र उद्धृत किया है, उसकी कुतूहलवृत्ति में इस प्रकार व्याख्या की है—'इचुयशानां तालुः' से तालु स्थानवाला तालव्य । उनमें क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र, अतिस्वार्य नाम के सात स्वर होते हैं । उनमें क्रुष्ट प्रथम द्वितीय क्रम से उत्क्षिप्ततम, उत्क्षिप्ततर, उत्क्षिप्त होते हैं, अर्थात् उदात्ततम उदात्ततर और उदात्त होते हैं । चतुर्थ मन्द्र अतिस्वार्य क्रम से अवक्षिप्त अवक्षिप्ततर अवक्षिप्ततम अर्थात् अनुदात्त अनुदात्तर अनुदात्ततम होते हैं । तृतीय स्वर उदात्त से नीच, और अनुदात्त से उच्च अर्थात् मध्यम स्वर कहाता है । तालव्य प्रथम स्वर वाला वर्ण वृद्ध अर्थात् प्लुत होता है । प्रकृत इरा पद में इकार तालव्य और उक्त लक्षण प्रथम स्वरवाला होता है । ऊहगान में योनिवत्स्वराः सूत्र से गिरापदगत प्रथम स्वर का इरा में अतिदेश होता है । इससे वृद्धतालव्यमाई भवति इस सूत्रान्तर से उसका आ ई भाव होने पर 'आइरा' शब्द से स्वार्थिक अण् प्रत्यय (अष्टा० ५।४।३८) होने पर 'आईरम्' होवे । इरा पद का विकार ऐर में विकारार्थ (अष्टा० ४।३।१३२) अण् प्रत्यय होवे और गीति ही विकार है, ऐसा युक्त नहीं है । इरा पद का गीति ही विकार है, ऐसा निर्धारण नहीं है । उसके विकार चातुस्वर्य आदि के होने से । इस कारण इरा पद अप्रगीत ही यहां होवे ।।५४।।

यत्स्थाने वा तद्गीतिः स्यात् पदान्यत्वप्रधानत्वात् ॥५५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष 'इरा का ही प्रयोग करना चाहिये' का ही निवर्तक है । (यत्स्थाने) जिस पद के स्थान में पदान्तर होवे, उस स्थानी की जो गीति है, (तद्गीतिः) वह गीति (स्यात्) होवे । वाक्य के (पदान्यत्वप्रधानत्वात्) पदान्यत्वप्रधान होने से । अर्थात् ऐरं कृत्वोद्गायेत् वाक्य से गिरापद के स्थान में इरापद होता है, इतना वाक्य का तात्पर्य है ।

व्याख्या—'वा' शब्द पक्ष को हटाता है । जिस पद के स्थान में इरापद प्रयुक्त होता है, उस पद की जो गीति वह इरा पद में होवे । किस हेतु से ? पदान्यत्व के प्रधान होने से । यह वाक्य पदान्यत्व की प्रधानता को ही कहता है । गिरा पद के स्थान में इरा पद होता है ।

वाक्यम् । गिरापदस्य स्थान इरापदं भवतीति । **नाप्रगीतं प्रयोक्तव्यम्** इति । अन्या हि वचनव्यक्तिरिरापदस्य विशेषे विधीयमाने अन्या इरापदे । एवं हि श्रूयते—**इरापदस्य विकारं कृत्वोद्गेयम्** इति । तत्रानेन प्रकारेणेरापदं विधीयते, नान्यं प्रगाणादिरापदस्य विकारं ब्रूयात् । न गिरापदस्येत्येतत्तद्धितेनोच्यते । नाप्रगीतस्येरापदस्य विकारस्तद्धितशब्देनाध्यवसीयते । पश्चात्तद्धितार्थो विकारं ब्रूयादित्यसावनूद्यत एव । यः प्रकृत्यर्थं इरापदस्येति स विधीयते । तेन पदान्यत्वपरमेतद्वचन, न गीत्यनन्वयपरम् । गीतिर्हि विकारः सामान्यान्निर्दिश्यते ॥५५॥

गानसंयोगाच्च ॥५६॥

गानसंयोगो भवति—**उद्गेयमा इरा च दाक्षासा**[1] इतीरागानं दर्शयति ॥५६॥

वचनमिति चेत् ॥५७॥

इति चेत्पश्यसि, गानदर्शनमेतद्भवतीति । नैवम् । वचनं भविष्यति, उद्-

---

'अप्रगीत का प्रयोग नहीं करना चाहिये'। गिरा पद की अन्य वचनव्यक्ति (=अन्य स्वरूप) है, इरा पद के विशेष विधीयमान होने पर इरा पद में अन्य वचनव्यक्ति है। ऐसा सुना जाता है—इरापदस्य विकारं कृत्वोद्गेयम् (=इरा पद का विकार करके गान करना चाहिये)। वहां (=गान के विषय में) इस प्रकार इरा पद का विधान किया जाता है, प्रगान से अन्य इरा पद के विकार को नहीं कहे। गिरापद का यह 'विकार' तद्धित प्रत्यय से कहा जाता है। अप्रगीत इरापद तद्धित शब्द से नहीं कहा जाता है। पश्चात् तद्धितार्थ विकार को कहे, इस हेतु से इसका अनुवाद ही है। जो इरापद का प्रकृत्यर्थ है, उसका विधान किया जाता है। इस से यह वचन (=ऐरं कृत्वा) पदान्यत्वपरक ही है। गीति का अनन्वयपरक [=राहित्यपरक] नहीं है। गीति ही विकार सामान्य से निर्दिष्ट की जाती है ॥५५॥

गानसंयोगाच्च ॥५६॥

सूत्रार्थः—(गानसंयोगात्) इरा पद में गान का संयोग होने से (च) भी इरा पद का प्रगीत पाठ होना चाहिये।

व्याख्या—गान का संयोग होता है—उद्गेयम् आ इरा च दाक्षासा (='आ इरा च दाक्षासा' इस प्रकार गान करना चाहिये) ॥५६॥

वचनमिति चेत् ॥५७॥

सूत्रार्थः—'आ इरा च दाक्षासा' यह (वचनम्) वचन=विधि होवे, ऐसा कहें तो।

व्याख्या—यदि आप ऐसा समझते हैं—यह गान का दर्शन होता है। ऐसा नहीं

---

१. द्र०—जै० ब्रा० १।१७५॥

गेयमा इरा चा दाक्षासा इति ॥५७॥

न तत्प्रधानत्वात् ॥५८॥

नैतदेवम् । तत्प्रधानं ह्रीदं वाक्यम् । किंप्रधानम् ? इरापदप्रधानम् । निर्देशात् । न गीतिप्रधानम् अनिर्देशादित्युक्तम् । तथा, इरापदस्यार्थवादो भवति न गीतेः । इरामहं यजमाने ददानि इति पदस्य चायमर्थवादो न गीतेः । तस्मात् प्रगीतं प्रयोक्तव्यमिति ।

किं भवति प्रयोजनं चिन्तायाः, नात्र कश्चिद्विशेषः । अन्यस्मिन्नेतत्सदृशे प्रयोजनमस्ति—न प्रप्रेति ब्रूयात्, प्रप्रीति ब्रूयात्[1] । यदि पूर्वः पक्षः, प्रप्रपदं वा वक्तव्यं, प्रप्रीपदं वा । यदि सिद्धान्तः, प्रप्रीपदमेव वक्तव्यमिति ॥५८॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये नवमस्याध्यायस्य
प्रथमः पादः ॥

है । वचन (=विधि) होवेगा—उद्गेयम् आ इरा च दाक्षासा ॥५७॥

विवरण—वचनं भविष्यति—'उद्गेयम्' में कृत्य प्रत्यय के श्रवण से विधिवचन होगा ।

न तत्प्रधानत्वात् ॥५८॥

सूत्रार्थः—'ऐरं कृत्वा' यह विधि (न) नहीं है, (तत्प्रधानत्वात्) इरापद के प्रधान होने से ।

व्याख्या—ऐसा नहीं है । अर्थात् 'उद्गेयम्' आदि विधि नहीं है । तत्प्रधान ही वाक्य है । किस की प्रधानतावाला ? इरापदप्रधान है । निर्देश से । गीतिप्रधान नहीं है, [साम के] अनिर्देश से, यह कह चुके । इस प्रकार इरा पद का यह अर्थवाद होता है, गीति का नहीं । इरामहं यजमाने ददानि (=इरा पृथिवी वा अन्न को मैं यजमान को देता हूं) यह इरा पद का अर्थवाद है, गीति का अर्थवाद नहीं है । इसलिये प्रगीत इरा पद का प्रयोग करना चाहिये ।

विचार का क्या प्रयोजन है ? यहां कुछ विशेष नहीं है । एतत्सदृश अन्य प्रयोग में प्रयोजन है । न प्रप्रेति ब्रूयात्, प्रप्रीति ब्रूयात् (='प्रप्र' ऐसा न बोले, 'प्रप्री' ऐसा बोले)। यदि पूर्व पक्ष माना जाये तो 'प्रप्र' पद बोलना चाहिये अथवा 'प्रप्री' (द्र०—द्वै धं वा ९।१।५० सूत्र)। यदि सिद्धान्त माना जाये तो 'प्रप्री' पद ही बोलना चाहिये ॥५८॥

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—ताण्ड्य ब्रा० ८।६।११—वैश्वानरे वा एतदुद्गातात्मानं प्रदधाति यत् प्रप्रवयमित्याह । प्रप्री वयमिति वक्तव्यम्, वैश्वानरमेव परिदधाति । 'प्रप्रवयम्' पदसमूहः यज्ञायज्ञीयसाम्नो योनिभूतायामृचि श्रूयते—यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे । प्रप्रवयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं नशंसिषम् ॥ साम पूर्वा०, प्रपा० १, अर्ध प्र० १, दशतिः ४, मं० १ । सकल संख्या ३५ ॥

विवरण—नात्र कश्चिद् विशेषः—इसका भाव यह है कि इरा पद में वचन से गान होवे अथवा स्थानापत्ति (=गिरा पद के स्थान में होने से गिरा पद की गीति इरा पद में प्राप्त होने) से, उभयथा इरा पद में गान प्राप्त होता है, अर्थात् इरापद प्रगीत ही बोलना चाहिये। अतः **अन्यस्मिन्नेतत्सदृशे** से जो प्रयोजनान्तर दिया है, वह **वचनमिति चेत्, न तत्प्रधानत्वात्** दो सूत्रों का है। इरा पद में तो साक्षात् **उद्गेयमा इरा च दाक्षासा** वचन प्रगान का विधायक है। **प्रप्र** में गान का निर्देशक साक्षात् वचन न होने से **प्रप्र** की अप्रगीतता प्राप्त होवे। इसलिये इस में 'प्रप्री' रूप में गान उक्त न्याय (सूत्र ५८) से ही प्राप्त होता है। इस प्रकार भट्ट कुमारिल ने लिखकर उपसंहार किया है।

तस्मात् प्रप्रीपदादीनां नैव स्यादप्रगीतता।
पदान्यत्वप्रधानत्वात् वाक्यस्य स्यात् प्रगीतता॥

अर्थात्—'प्रप्र' के गान में वचन नहीं होने से 'प्रप्री' ऐसा गान प्राप्त नहीं होगा। वाक्य के पदान्यत्वप्रधान होने से प्रगीतता होवे।

कुतूहलवृत्तिकार ने सूत्र ५७, ५८ को एक सूत्र में मानकर व्याख्या की है—**आ इरा इरा इति गेयम्** में विधि ही होवे, **गेयम्** में विध्यर्थ में कृत्य प्रत्यय के श्रवण से। ऐसा होने पर इस अधिकरण की प्रवृत्ति का क्या प्रयोजन है? [अर्थात् इरा पद में उक्त वचन से गीति होवे चाहे स्थानापत्ति से, दोनों स्थितियों में इरा पद प्रगीत ही प्रयुक्त होगा], ऐसा कहो तो ठीक नहीं है। **तत्प्रधानत्वात्** इसी यज्ञायज्ञीय स्तोत्र में **'न प्रप्रेति ब्रूयात् प्रप्रीमिति ब्रूयात्'** इस विधि के केवल पदान्तर विधिपरक होने से [प्रप्र में **प्रप्री** ऐसा प्राप्त नहीं होगा]। उसमें भी इस अधिकरण रूप न्याय के प्रवृत्त होने से अधिकरण की फलवत्ता है। क्योंकि यहां [**उद्गेयमा इरा च दाक्षासा** के समान] गान श्रुत नहीं है। इसलिये 'इरा' पद [विषयक गान] में न्याय-प्रदर्शन इस अधिकरण का फल है। इसी न्याय से **प्रप्री** में गान प्राप्त होता है।

इति युधिष्ठिरमीमांसकेन **'महेश्वरकर'**[1] इत्युपनाम्ना विरचितायाम्
आर्षमत-विमर्शिन्यां **'यशोदा'**ऽऽख्यायां हिन्दीव्याख्यायायां
नवमाध्यायस्य प्रथमः पादः
पूर्तिमगात्॥

१. भूतपूर्व इन्दौर राज्य के नीमाड़ मण्डलान्तर्गत **महेश्वर** (=माहिष्मती) नगर से मैं अध्ययनार्थ प्रवसित हुआ। मेरा ११ वर्ष तक का काल महेश्वर में ही बीता। अतः मराठी भाषा के अनुसार 'प्रवसित' अर्थ में प्रयुक्त 'कर' प्रत्यय का योग करके स्मृत्यर्थ यहां **महेश्वरकर** ऐतिहासिक उपनाम का प्रयोग किया है। 'महेश्वरकर' प्रयोग की ओर मेरा ध्यान गत वर्ष सं० २०४७ के भाद्र मास के कृष्णपक्ष की दशमी को महेश्वर यात्रा के समय आकृष्ट हुआ।

नवमाध्याये द्वितीयः पादः

[सामादिशब्दानां गीतिवाचित्वाधिकरणम् ॥१॥]

सन्ति सामानि, रथन्तरं—बृहद् वैरूपं-वैराजं शाक्वरं रैवतमिति, **अभि त्वा शूर नोनुम** इत्येवमादिषु। तत्रैषोऽर्थः संदिह्यते—किं प्रगीता एते मन्त्राः सामानि, उत गीतयः सामानीति ? ननु सिद्धं **गीतिषु सामाख्या**[1] इति। उच्यते। तत्र द्वितीयेऽध्याये मन्त्रगते भावशब्दे चोदकत्वं प्रति विचार्यमाणे, मन्त्राभावाशङ्कायां मन्त्रसद्भावोपपादनाय **तच्चोदकेषु मन्त्राख्या**[2] इति कृते लक्षणे **अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रयिविदा विदुः। ऋचः सामानि यजूंषि**[3] इति, ऋगादीनां विभागाय प्रसक्तानुप्रसक्तं लक्षणं **गीतिषु सामाख्या** इत्युक्तम्। तत्र यदि प्रगीतो मन्त्रः साम, यदि वा गीतिमात्रम्। उभयथाऽपि, ऋग्यजुर्भ्यामन्यत्सामेति सिद्धे विभागे न विवेकाय प्रयत्नः, प्रयोजनाभावात्। इह तु प्रगीते मन्त्रेऽन्यत्कर्म, गीतिमात्रेऽन्यदिति विवेकाय प्रयत्यते।

व्याख्या—**साम हैं—रथन्तर, बृहत्; वैरूप, वैराज; शाक्वर, रैवत** आदि अभि त्वा शूर नोनुम **इत्यादि में। वहां यह अर्थ सन्दिग्ध होता है—क्या ये प्रगीत मन्त्र साम हैं अथवा गीतियां साम हैं ?** (आक्षेप) गीतिषु सामाख्या (**=गीतियों की साम संज्ञा है) से सिद्ध है कि गीतियों का नाम साम है।**(समाधान)**वहां द्वितीय अध्याय में मन्त्रपठित भाव शब्द में चोदकत्व के प्रति विचार करते हुए मन्त्राभाव की आशङ्का में मन्त्रभाव के उपपादन के लिये** तच्चोदकेषु मन्त्राख्या (**=कर्मगत अर्थ के कहनेवाले मन्त्र हैं) इस लक्षण के करने पर** अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रयिविदा विदुः। ऋचः सामानि यजूंषि (**=हे अहिंसनीय बुध्न=मूल में वर्तमान आवसथ्य मेरे मन्त्र की रक्षा करो। जिस मन्त्र को तीनों वेदों के जाननेवाले जानते हैं। वे मन्त्र हैं—ऋक् यजुः और साम) [मन्त्रगत] ऋक् आदि के विभाग के लिये प्रसक्तानुप्रसक्त [साम का] लक्षण** गीतिषु सामाख्या **ऐसा कहा है। उक्त लक्षण में प्रगीत मन्त्र सान है, अथवा गीतिमात्र साम हैं, दोनों प्रकार से ऋक् और यजुः से भिन्न साम है. ऐसा विभाग सिद्ध होने पर विवेक के लिये प्रयोजन न होने से प्रयत्न नहीं किया है। यहां तो प्रगीत मन्त्र के साम होने पर अन्य कर्म, गीतिमात्र साम होने पर अन्यत् कर्म [करणीय है] इस विवेक (=ज्ञान) के लिये प्रयत्न किया जाता है।**

विवरण—त्रयिविदा विदुः—मी० २।१।३२ के भाष्य में **त्रयीविदा विदुः पाठ है। तै०** ब्रा० १।२।१।२६ में त्रयिविदा विदुः पाठ है। त्रयिविदा विदुः में ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्

---

1. मी० २।१।३६॥ 2. मी० २।१।३२॥
3. तै० ब्रा० १।२।१।२६॥ मी० १।२।३२ भाष्ये 'त्रयीविदा' इति पाठः।

आह । नन्वेतदपि सिद्धं, गानकर्मणो वाचकः सामशब्द इति । उच्यते । तदेव पुनरभिधीयते स्मरणाय, उत्तरमधिकरणं चिन्तयितुम् । गीतिः सामेति स्थित इदं चिन्त्यते, गीतिषु ऋचः प्रधानभूता उत गुणभूता इति । आह । नैव स्मरणाय पूर्वपक्षोद्धरणम् । न हि मन्त्राः सामानीत्येषोऽर्थः स्मर्तव्यः । अत्रोच्यते । पूर्वपक्षोऽपि[1] सिद्धान्तस्मरणार्थमेवोपादीयते । यत्प्रगीतं मन्त्रवाक्यं तत्सामेत्येवं पूर्वपक्षं कृत्वा गीतिमात्रं सामेति स्थापितम् । तस्मिन् स्थितेऽयमुत्तरो विचारः कर्तव्यः—गीतिषु किमृचः प्रधानभूता उत गुणभूता इति ? किं प्राप्तम् ?

सामानि मन्त्रमेके स्मृत्युपदेशाभ्याम् ॥१॥ (पू०)

एके मन्यन्ते, प्रगीतं मन्त्रवाक्यं सामेति । कुतः ? स्मृत्युपदेशाभ्याम् । एवं हि स्मरन्ति—प्रगीतं मन्त्रवाक्यं सामेति तत्रभवन्तश्छान्दसाः । एवं चोपदिशन्ति शिष्येभ्यः । आह—ननु यदेव स्मरन्ति तदेवोपदिशन्ति । नैवं सत्युपदेशो हेत्वन्तरमिति ।

(अष्टा० ६।३।६३) से पूर्वपद को ह्रस्व हुआ है । विदन्तीति विदाः—इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अष्टा० ३।१।१३५) से क प्रत्यय । अथवा विदाः वेत्तारः इति षष्ठी समासे समासस्य (अष्टा० ६।१।२२३) इति समासान्तोदात्तत्वम् ।

व्याख्या—(आक्षेप) यह भी सिद्ध है कि साम शब्द गान कर्म का वाचक है । (समाधान) उसी का स्मरण कराने के लिये पुनः कहते हैं, उत्तर अधिकरण के विचार के लिये । गीति का नाम साम इसके स्थित होने पर यह विचार करते हैं—गीतियों में ऋचाएं प्रधानभूत हैं अथवा गुणभूत हैं । (आक्षेप) स्मरण कराने के लिये पूर्वपक्ष नहीं उठाना चाहिये । और मन्त्र साम हैं यह अर्थ भी स्मर्तव्य नहीं है । (समाधान) इस विषय में कहते हैं—पूर्वपक्ष भी सिद्धान्त के स्मरण कराने के लिये ही निर्देश किया है । जो प्रगीत मन्त्रवाक्य है, वह साम है, इस प्रकार पूर्वपक्ष उठाकर गीतिमात्र साम है, यह पक्ष स्थापित किया है । इस पक्ष के स्थित होने पर अगला विचार करना चाहिये—क्या गीतियों में ऋचायें प्रधानभूत हैं, अथवा गुणभूत ? क्या प्राप्त होता है ?

सामानि मन्त्रमेके स्मृत्युपदेशाभ्याम् ॥१॥

सूत्रार्थः—(एके) कई आचार्य मानते हैं कि (मन्त्रम्) प्रगीत मन्त्रवाक्य (सामानि) साम हैं । (स्मृत्युपदेशाभ्याम्) स्मृति और उपदेश से ।

व्याख्या—कतिपय मानते हैं कि प्रगीत (=गाया हुआ) मन्त्रवाक्य साम है । किस हेतु से ? स्मृति और उपदेश से । ऐसा स्मरण करते हैं–प्रगीत मन्त्रवाक्य साम है, यह छान्दस आचार्यों का मत है । और इस प्रकार शिष्यों को उपदेश करते हैं । (आक्षेप) जो ही वह स्मरण करते हैं वही उपदेश करते हैं । इस प्रकार उपदेश हेत्वन्तर नहीं है । (समाधान)

---

१. 'पूर्वपक्षेऽपि' इत्यपपाठः । अस्मन्निर्दिष्टपाठो गुरुपरम्परानुसारी वर्तते ।

उच्यते—बाढम्। अन्यथा तद्दुर्युपदेशं वर्णयामः। अयमुपदेशः—**अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रयिविदा विदुः। ऋचः सामानि यजूंषि इति।** मन्त्रप्रकारः कश्चित्सामानीति मन्त्रोपदेशो भवति। तस्मादुपदेशान्मन्त्राः सामानीत्यवगच्छामः ॥१॥

तदुक्तदोषम् ॥२॥ (उ०)

तस्यैतस्य पक्षस्योक्तो दोषः सप्तमे[1]। ऋचः प्रदेशो नोपपद्यते, **कवतीषु रथंतरं गायति**[2] इति। देशलक्षणा धर्मलक्षणा वा प्राप्नोतीति। तस्माद् गीतयः सामानि, न प्रगीतानि मन्त्रवाक्यानीति ॥१॥

यह सत्य है। अतः अन्य प्रकार से उपदेश का वर्णन करते हैं। यह उपदेश है—अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रयिविदा विदुः। ऋचः सामानि यजूंषि। मन्त्र का कोई प्रकार साम है, यह मन्त्र का उपदेश होता है। इस उपदेश से मन्त्र साम हैं, यह हम जानते हैं ॥१॥

तदुक्तदोषम् ॥२॥

सूत्रार्थः—(तदुक्तदोषम्) इस पक्ष का दोष कह चुके [सप्तम अध्याय ७।२।१।१३ में]।

व्याख्या—इस पक्ष का दोष कह चुके सप्तम अध्याय में। ऋचा प्रदेश (=अतिदेश) उपपन्न नहीं होता है—कवतीषु रथन्तरं गायति में। देशविषयक लक्षणा अथवा धर्म-विषयक लक्षणा प्राप्त होती है। इसलिये गीतियां साम हैं, प्रगीत मन्त्रवाक्य साम नहीं हैं।

विवरण—कवतीषु रथंतरं गायति—'क' वाली ऋचाओं में रथन्तर साम का गान करता है। कवती ऋचाएं हैं—कया नश्चित्र कस्त्वा सत्या० अभीषुणः (द्र०—साम उत्तरा० ६८२, ६८३, ६८४ संख्या[3] वाली ऋचायें)। इनमें प्रथम दो ऋचाओं में 'क' शब्द है, तीसरी ऋचा में नहीं है। भूमा न्याय (मी० १।४।२७) के अनुसार इन्हें कवती कहा है। रथन्तर साम ३६ अक्षरोंवाली अभि त्वा शूर में उत्पन्न है। कवती ऋचाएं गायत्रछन्दस्क हैं। विशेष द्र०—७।२।१ भाष्य विवरण पृष्ठ २०६८, २०६९। रथन्तर साम की योनिभूत ऋचा अभि त्वा शूर नोनुमः (साम पूर्वा० संख्या २३३) ऋचा ३६ अक्षरोंवाली बृहतीछन्दस्का है। देश-लक्षणा धर्मलक्षणा वा—इसके लिये मी० ७।२।१३ का भाष्य और उसकी व्याख्या वा विवरण देखें ॥२॥

—:o:—

---

१. मी० ७।२।१३ इत्यत्र।

२. अनुपलब्धमूलम्। अत्र ताण्ड्य ब्रा० ११।४।१-२ द्रष्टव्यम्।

३. ये मन्त्रसंख्यायें सातवलेकर के संस्करणानुसार हैं।

[अथवा—ऊहग्रन्थस्य पौरुषेयत्वाधिकरणम् ॥१॥]

एवं वा—

इदं सदिह्यते—योऽयमूहो नाम कया नश्चित्र आभुव इति । किमयमप्यार्षो नित्यं उत चिन्तयित्वा प्रगीतः[1] ? किं प्राप्तम् ?

सामानि मन्त्रमेके स्मृत्युपदेशाभ्याम् ॥१॥ (पू०)

एतान्यूहसामानि मन्त्रभूतानि आर्षाणि नित्यानीत्येके मन्यन्ते । कुतः ? स्मृत्युपदेशाभ्याम् । एवं हि स्मरन्ति—मन्त्रभूतान्येतान्यार्षाणि नित्यानीति । उपदिशन्ति चैवंविधमेव शिष्येभ्यः । आह—ननु यदेव स्मरन्ति, तदेवोपदिशन्ति । बाढम् । अयमन्य उपदेशो वर्ण्यते—ऊहश्चिकीर्षित इति ब्राह्मणमुपदिशन्ति । चिकीर्षित इति च इष्ट उच्यते । इच्छायां हि सन् विधीयते । यदि चायमपुरुषबुद्धिपूर्वको वेदतुल्यस्तत इष्टः । अथ पुरुषप्रणीतस्ततो न प्रमाणम् । यज्ञे चाचिकीर्षितो न प्रयोक्तव्यः । चिकीर्षित इति च शब्दो भवति । तस्मान्नित्य ऊह इति ॥१॥

व्याख्या—अथवा इस प्रकार से अधिकरणयोजना जानें ।

विवरण—पूर्व अधिकरण योजना में जिस विषय पर विचार किया है, वह मी० ७।२। अधि० १ । सूत्र १३ से उक्त है । पिष्टपेषण दोष के निवृत्यर्थ भाष्यकार अन्यथा अधिकरण-योजना करते हैं ।

व्याख्या—यह सन्देह होता है—जो यह ऊह है—कया नश्चित्र आभुवः विषयक, क्या यह ऊह भी नित्य है, अथवा विचारकर गाया गया है [अनित्य] है ? क्या प्राप्त होता है ?

सामानि मन्त्रमेके स्मृत्युपदेशाभ्याम् ॥१॥

सूत्रार्थः—(सामानि) ऊहविषयक साम (मन्त्रम्) मन्त्ररूप नित्य हैं, ऐसा (एके) कतिपय आचार्य मानते हैं (स्मृत्युपदेशाभ्याम्) स्मृति और उपदेश से ।

व्याख्या—ये ऊह साम मन्त्रभूत आर्ष नित्य हैं, ऐसा कतिपय आचार्य मानते हैं। किस हेतु से ? स्मृति और उपदेश से। इस प्रकार स्मरण करते हैं—मन्त्रभूत ये [ऊह] आर्ष नित्य हैं। और इसी प्रकार शिष्यों को उपदेश करते हैं। (आक्षेप) जो स्मरण करते हैं वही उपदेश करते हैं। (समाधान) सत्य है। यह अन्य उपदेश वर्णित किया जाता है—ऊह चिकीर्षित (=करना इष्ट)है, यह ब्राह्मण कथन करते हैं। चिकीर्षित इष्ट कहा जाता है। इच्छा में ही सन् का विधान किया जाता है। यदि यह (ऊह) अपुरुषबुद्धिपूर्वक वेद के समान है तो इष्ट है। और यदि पुरुषप्रणीत है तो प्रमाण नहीं है। यज्ञ में अचिकीर्षित (=पुरुषप्रणीत) का प्रयोग नहीं करना चाहिये। [ऊह के लिये] चिकीर्षित शब्द का प्रयोग होता है। इसलिये ऊह नित्य है।

---

१. 'पुरुषप्रणीत इति' इति पुणेपुस्तके पाठः ।

तदुक्तदोषम् ॥२॥ (उ०)

तदेतदुक्तदोषं भवद्वचनम्। भवतैव हेतुं वर्णयताऽस्योक्तो दोषः, ऊहश्चिकीर्षित इति। ऊहश्चिकीर्षित इत्यनित्ये, एतद्भवति। यदुक्तम्, इष्टे चिकीर्षितशब्दो भवति। इच्छायां हि सन् विधीयत इति। उच्यते। सत्यम्। इष्टं कर्तुं यद्धि क्रियते, तत्कर्तुमिष्टं भवतीति। तस्मादनित्य ऊहः। यदुक्तं, स्मृतेर्नित्यतेति। नैषा स्मृतिः प्रमाणम्। दृष्टमूला ह्येषा। भवति हि वचनं—**कवतीषु रथन्तरं गायति** इति। तस्मादतिदेशवचनान्न्यायेनैवं गातव्यमिति वाचनिकं प्रथमं विज्ञानम्। तत एषा स्मृतिः। तस्मादप्रमाणम्, कृत्रिम ऊह इति।

किं भवति प्रयोजनम्। न्यायविरुद्धमपि प्रमाणं, यथा पूर्वः पक्षः। यथा तर्हि सिद्धान्तः, न्यायविरुद्धमप्रमाणम् ॥२॥

❀★❀

तदुक्तदोषम् ॥२॥

सूत्रार्थः—ऊह नित्य है, यह (तदुक्तदोषम्) आप के द्वारा उक्त हेतु से ही दोषवाला है।

व्याख्या—यह (=ऊह नित्य है) आपका वचन उक्त दोषवाला है। आपने ही [ऊह की नित्यता में] हेतु का वर्णन करते हुए दोष कहा है—ऊह चिकीर्षित है। 'ऊह चिकीर्षित है' यह अनित्य में [प्रयुक्त] होता है। और जो कहा—'इष्ट में चिकीर्षित शब्द होता है। इच्छा में 'सन्' प्रत्यय का विधान किया जाता है।' इस विषय में कहते हैं—यह सत्य है। इष्ट को करने के लिये जो किया जाता है, वह कर्ता को इष्ट होता है। इससे ऊह अनित्य है। और जो कहा—स्मृति से ऊह की नित्यता सिद्ध होती है। यह स्मृति प्रमाण नहीं है, यह स्मृति दृष्टमूल है (=इसका मूल दृष्ट है)। वचन होता है—कवतीषु रथन्तरं गायति। इस अतिदेशवचन से न्याय से ही गान करना चाहिये, यह प्रथम वचन से ज्ञात होनेवाला विज्ञान है। उससे यह स्मृति है [अर्थात् उक्त वाचनिक विज्ञान पर यह स्मृति आधृत है]। इससे [उक्त स्मृति] अप्रमाण है, ऊह कृत्रिम है।

इस विचार का क्या प्रयोजन है? जैसा पूर्वपक्ष है, तदनुसार न्यायविरुद्ध भी प्रमाण है, और जैसा सिद्धान्त पक्ष है, तदनुसार न्यायविरुद्ध अप्रमाण है।

विवरण—**तदुक्तदोषं भवद्वचनम्**—इसका भाव है—**उक्तो दोषो येन तदुक्तदोषम्**= कहा है दोष जिस ऊहश्चिकीर्षितः वाक्य से। अर्थात् यह ऊहश्चिकीर्षितः वाक्य ही ऊह के अनित्यत्व का प्रतिपादक है।

इस अधिकरण का नाम है—**ऊहग्रन्थस्य पौरुषेयत्वाधिकरण**। इससे उत्तरार्चिक जो ऊह गानवाला है का सामान्य रूप से पौरुषेयत्व विदित होता है। इस पर भट्ट कुमारिल ने

[साम्नामृक्संस्कारकर्मत्वेन प्राधान्याधिकरणम् ॥२॥]

तान्येवोदाहरणानि । तेष्वयमर्थः समधिगतो गीति सामशब्देनोच्यत इति । तत इदमिदानीं संदिह्यते—किं सा गीतिः,[1] ऋचः प्रति प्रधानभूता, उत गुणभूतेति ?

कहा है—'तदुक्तदोषम् यह ही अयुक्त है । कैसे ? कवतीषु रथन्तरं गायति में उक्त कवती ऋचाएं कृतक नहीं हैं । रथन्तर साम भी कृतक नहीं है । और जो अतिदेशवाक्य है—कवतीषु रथन्तरं गायति यह भी कृतक नहीं है, अर्थात् ये सब अपौरुषेय हैं । इसलिये ऊह में कुछ भी कृतक नहीं है ।' [पुणे संस्करण में इस पर टिप्पणी में टीका ग्रन्थ का जो पाठ छापा है, उसका भाव है—ऊह ग्रन्थ का पौरुषेयत्वसाधक जो भाष्यकार का वर्णकान्तर है, उसके सिद्धान्त पर भट्ट कुमारिल ने 'तदुक्त' इत्यादि आक्षेप किया है । 'तस्मादूहे' का तात्पर्य है—ऊह नामवाले सामगों के प्रसिद्ध ग्रन्थ में ।]

इस विषय में कहते हैं—कवती ऋचाओं में रथन्तर गीति के करने में पुरुष की जो गीति क्रिया के प्रति प्रथम प्रयत्न है, वह कृतक है । जैसे प्रयाजों के नित्य होने पर भी जो अनुष्ठान है, वह कृतक है । इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये । [इसका आशय टीकाग्रन्थ में इस प्रकार स्पष्ट किया है—रथन्तर गीति जैसे 'अभि त्वा शूर नोनुमः' वेद में पठित है, उस प्रकार कवती ऋचाओं में आम्नात नहीं है । किन्तु 'कवतीषु रथन्तरं गायति' अतिदेश शास्त्र से रथन्तर गीति कवती ऋचाओं में पुरुष द्वारा स्वयमनुष्ठेय है । अतः ऊह ग्रन्थ में ऋचाओं और सामों का स्वरूप से अपौरुषेयत्व होने पर भी कवती आदि में अतिदिष्ट न्यायसिद्ध सामरचना प्रकार के पौरुषेयत्व होने से ऊह ग्रन्थ पौरुषेय है ।]

इस प्रकार कुमारिल आदि मीमांसकों का यह मत है कि पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक (ऊहग्रन्थ)में जो ऋचाएं और तदाश्रित सामान्य साम हैं, वे अपौरुषेय हैं, केवल किसी साम का उत्तरार्चिक में स्वयोनि ऋक् के साथ पठित ऋचाओं से भिन्न अन्य ऋचाओं में अतिदेश कहा है, वे ही पुरुषप्रयत्नसाध्य होने से अनित्य हैं । पाणिनि ने भी दृष्टं साम (अष्टा० ४।२।७) सूत्र में दृष्ट कहा है । इससे साम दृष्ट अर्थात् अपौरुषेय हैं, यह स्पष्ट है, परन्तु आश्चर्य का विषय है कि पाणिनि ने मन्त्रों के लिये दृष्ट शब्द का उल्लेख नहीं किया है । वसिष्ठेन दृष्टा ऋक् वासिष्ठी अथवा वासिष्ठो मन्त्रः आदि के लिये दृष्ट साम सूत्र में 'दृष्टम्' योगविभाग करके इन प्रयोगों की उपपत्ति की जाती है ॥२॥

❀❀❀

व्याख्या—वे ही उदाहरण हैं [जो पूर्व अधिकरण में उद्धृत किये गये हैं] । उन में यह अर्थ समझा गया है कि गीति साम शब्द से कही जाती है । उसके अनन्तर अब यह सन्देह होता है—क्या वह गीति ऋक् के प्रति प्रधानभूत है अथवा गुणभूत ? (आक्षेप) यह सिद्ध

---

१. 'सामगीतिः' इति पाठान्तरम् ।

ननु सिद्धं संस्कारकर्मणः सामशब्दो वाचक इति, **अपि तु कर्मशब्दः स्याद्भावोऽर्थः प्रसिद्धग्रहणत्वाद्**[1] इति। उच्यते। सत्यम्, आक्षेपेण प्रवर्तते। स एव निर्णयो भविष्यति। किं प्राप्तम्? तेनैवाधिकरणेन संस्कारकर्मेति। तथा प्राप्ते ब्रूमः—

कर्म वा विधिलक्षणम् ॥३॥ (पू०)

प्रधानकर्म वा सामशब्देनोच्यत इति। किं कारणम्? प्रधानविधिलक्षणं ह्यत्रास्ति द्वितीया विभक्तिः—रथंतरं गायति, बृहद्गायतीति। तस्मात् प्रधानकर्मेति। अपि च, अकर्मकाले[2] गानं भवति। तद्यदि द्रव्यसंस्कारार्थं, संस्कृतं द्रव्यमदृष्टेन संस्कारेण, न कर्मकाले पुनः संस्कर्तुं शक्यम्। न हि स्निग्धस्य स्नेहनं शक्यं कर्तुं, पिष्टस्य वा पेषणम्। स एषोऽग्नीनामिवाभ्युपगन्तव्यः, अकर्मकाले क्रियमाणः संस्कारो भवतीति। अस्मत्पक्षे पुनः प्रधानकर्म फलाय भविष्यति। तत्राविप्रति-

---

है कि संस्कार कर्म का वाचक साम शब्द है—अपि तु कर्मशब्दः स्याद् भावोऽर्थः प्रसिद्धग्रहणत्वात् (=अपितु रथन्तरादि गानरूप संस्कार कर्म का वाचक होवे, प्रसिद्ध गान के ग्रहण से भाव=विशेषणरूप गान अर्थ है। [यह गानरूप विकार अन्य लौकिक गानों के तुल्य है[3]]। (समाधान) यह सत्य है। यहां आक्षेपरूप से [अधिकरण] प्रवृत्त होता है। वही निर्णय होगा। क्या प्राप्त होता है? उसी अधिकरण से [साम] संस्कार कर्म है। वैसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

कर्म वा विधिलक्षणम् ॥३॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द साम के संस्कार कर्म की निवृत्ति के लिये है। (कर्म) प्रधान कर्म साम शब्द से कहा जाता है (विधिलक्षणम्) विधिलक्षणवाला होने से। अर्थात् रथन्तरं गायति इत्यादि में द्वितीया विभक्ति श्रुत है। द्वितीया ईप्सिततम में होती है। अतः गायति यह विधि शब्द है।

व्याख्या—अथवा प्रधानकर्म साम शब्द से कहा जाता हैं। क्या कारण है? प्रधान विधि का लक्षण यहां है द्वितीया विभक्ति—रथन्तरं गायति, बृहद् गायति। इससे साम प्रधान कर्म है। और भी—कर्मकाल (=यागकाल) से अन्यत्र गान होता है। वह गान द्रव्य (=ऋक्) के संस्कार के लिये होवे तो अदृष्ट संस्कार से संस्कृत द्रव्य कर्मकाल में पुनः संस्कृत नहीं किया जा सकता। [तैल आदि से] स्निग्ध द्रव्य का पुनः स्नेहन नहीं किया जाता, अथवा पिसे हुए का पुनःपेषण नहीं किया जाता। इसे अग्नियों के समान जानना चाहिये कर्मकाल से भिन्न काल में किया हुआ संस्कार होता है। हमारे मत (=प्रधान कर्मपक्ष) में प्रधान कर्म फल के लिये होगा। इससे अकर्मकाल(=याग से अन्यत्र)गान अप्रतिषिद्ध है, अर्थात्

---

१. मी० ७।२।१३॥ २. क्वचित् 'कर्मकाले' इत्यपपाठः।

३. भाष्यकार ने ७।२।१३ सूत्र का पूर्वभाग ही उद्धृत किया है, परन्तु हमने विस्पष्ट अर्थ के लिये पूरे सूत्र का भाषार्थ लिखा है।

षिद्धमकर्मकाले गानम् । अपि च—**श्रावण्यां पौर्णमास्यां व्रतान्युपाकृत्य, अर्धपञ्चमान् मासान् स्वाध्यायमधीयीत**[1] इति । तदेषां फलाय भविष्यति । इतरथा पुरुषाणामुपदिश्यमानं कर्मणां कल्प्येत । तस्मादपि प्रधानकर्मेति ॥३॥

आह । प्रधानकर्मेत्युच्यते । न चैतत् प्रधानकर्म । न हीदं फलदम् । फलकल्प-

---

गाया जा सकता है । और भी—श्रावण्यां पौर्णमास्यां व्रतान्युपाकृत्य अर्धपञ्चमान् मासान् स्वाध्यायमधीयीत **(=श्रावण मास की पौर्णमासी के दिन व्रतों को ग्रहण कर साढ़े चार मास निरन्तर स्वाध्याय=वेद का अध्ययन करे) । वह कर्म इन [सामों] के फल के लिये होवेगा । अन्यथा पुरुषों के लिये उपदिश्यमान कर्मों के [फल की] कल्पना करनी होगी । इससे भी प्रधान कर्म है ।**

विवरण— स एषोऽग्नीनामिवाभ्युपगन्तव्यः—इसका भाव यह है कि जैसे आहवनीयादि अग्नियां यागकाल से पूर्व आधान के द्वारा संस्कृत होने से यागकाल में इन्हें संस्कृत नहीं किया जाता है, वैसे ही साम का कर्म काल से पूर्व संस्कृत होने से यागकाल में संस्कृत नहीं किया जा सकता । **प्रधानकर्म फलाय भविष्यति**—इसका भाव यह है कि गीति को प्रधानकर्म मानने पर वह विश्वजित् न्याय से स्वर्ग फल के लिये होगी । **श्रावण्यां पौर्णमास्याम्**—मनुस्मृति में भाद्र मास की पौर्णमासी का भी निर्देश किया है—

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वा उपाकृत्य यथाविधि ।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥ ४।९५॥

मनुस्मृति में श्रावणी पौर्णमासी के साथ भाद्री पौर्णमासी का विकल्प देशभेद से वर्षा ऋतु की स्थिति की दृष्टि से किया है । इस दृष्टि से जहां आषाढ में ही गहरी वर्षा होती है, वहां आषाढी पौर्णमासी से भी वेदाध्ययन आरम्भ किया जा सकता है । परन्तु साढ़े चार मास निरन्तर अध्ययन आवश्यक है । **अर्धपञ्चमान् मासान्**—आधा है पांचवां मास जिनमें अर्थात् साढ़े चार मास । **अर्धपञ्चमान् मासान्** में **कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे** (अष्टा० २।३।५) से अत्यन्त संयोग में द्वितीया है । अतः अर्थ होता है—निरन्तर बिना नागा किये साढ़े चार मास वेद का अध्ययन करे । यही काल सम्प्रति लोक में चातुर्मास्य (=चतुरमासा) कहाता है । इसमें जैन साधु साध्वियां एक स्थान पर रहकर अपने सम्प्रदाय के ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं । वेदमतानुयायी संन्यासी भी चार मास एक स्थान पर रहते हैं, परन्तु उनमें वेदाध्ययन की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती । धर्मशास्त्रकारों का यह निर्देश यद्यपि गृहस्थप्रकरण में है, तथापि वानप्रस्थ और संन्यासी सब के लिये है ॥३॥

व्याख्या—[साम] प्रधानकर्म है, ऐसा कहते हो । यह प्रधानकर्म नहीं है । [प्रधानकर्म फलवाला होता है] यह गान फलप्रद नहीं है । फलकल्पना में अश्रुत (=नहीं सुना फल)

---

१. द्र०—आप० धर्म २।४।२।४॥ तुलना कार्या—मनु० ४।९५॥

नायां चाश्रुतं कल्प्येत। तेन यागं प्रति गुणभूतम्। यदि न गुणभूतं, किमस्य द्रव्यम्, यत्प्रति प्रधानभूतमेतत्। तदुच्यते—

तदृग्द्रव्यं वचनात् पाकयज्ञवत् ॥४॥

ऋग्द्रव्यम्। ऋगस्य द्रव्यस्थानीया। यथाऽन्यस्य कर्मणो द्रव्यं साधकम्, एवमस्य ऋक् साधिका। तस्मादृचं प्रति प्रधानभूतमेतत्। भूतं हि भव्यायोपदिश्यते। कथं पुनरेतदृग्द्रव्यम्? वचनात्। वचनमिदं भवति—**ऋचि साम गायति** इति। यथा, पाकयज्ञेषु तत्तद्वाचनिकं द्रव्यं भवति, लाजाः, धानाः, तण्डुलाः, आज्यमिति। एवमिहापि ऋग्द्रव्यं, वचनादिति ॥४॥

कल्पित होवे। इससे यह याग के प्रति गुणभूत है। यदि गुणभूत नहीं है तो इसका द्रव्य क्या है, जिसके प्रति यह प्रधानभूत होवे। इस विषय में कहते हैं—

तद् ऋग्द्रव्यं वचनात् पाकयज्ञवत् ॥४॥

सूत्रार्थः—जिस द्रव्य के प्रति साम प्रधानभूत है (तत्) वह (ऋग्द्रव्यम्) ऋक् द्रव्य वाला है (वचनात्) **ऋचि साम गायति** वचन से। (पाकयज्ञवत्) जैसे पाकयज्ञों से लाजा धानी आदि द्रव्य होते हैं, उसी प्रकार सामरूप प्रधान कर्म में ऋक् प्रधान द्रव्य है।

विशेष—द्रव्य किसी कार्य के प्रति साधनभूत होता है, उसी प्रकार सामगान के प्रति ऋचा साधनभूत होने से यहां द्रव्य कहा है। साधन साध्य के लिये होता है। **ऋचि साम गायति** वचन से साम का साधन ऋक् है। जैसे विवाह आदि में लाजा होम के प्रति साधनभूत होते हैं। यद्यपि साधन के निर्देश में तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है, उसके अभाव में भी **लाजान् जुहोति** है।

व्याख्या—साम ऋक् द्रव्यवाला है। ऋक् इसकी द्रव्यस्थानीया है। जैसे अन्य कर्म का द्रव्य साधक होता है, उसी प्रकार इस (=साम) की साधिका ऋक् है। इसलिये ऋक् के प्रति यह प्रधानभूत है। भूत भव्य के लिये उपदिष्ट होता है। यह साम ऋक् द्रव्यवाला कैसे है? वचन से। यह वचन होता है—ऋचि साम गायति (=ऋक् पर साम गाता है)। जैसे पाकयज्ञों में वह-वह वाचनिक द्रव्य होता है—लाजा (=खीलें), धाना (=भुने जौ=धाणी), तण्डुल और आज्य। इसी प्रकार यहां भी ऋक् द्रव्य है, वचन से।

विवरण—द्रष्टव्य—सूत्रार्थ के नीचे विशेष निर्देश। **ऋचि साम गायति** में ऋक् के सिद्धरूप अधिकरण का निर्देश किया है। सिद्ध और साध्य के एक साथ कथन करने पर सिद्ध साध्य के लिये होता है, इस न्याय से सिद्धरूप ऋक् साध्य साम के प्रति साधनभूत है। **धानाः**—भाड़ में भूजे हुए जौ धाना कहाते हैं। मारवाड़ी भाषा में 'धाणी' शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से भूंजे हुए जौ ज्वार आदि सभी के लिये होता है। यहां केवल भुंजे जौ ही अभिप्रेत हैं ॥४॥

आह । या ऋगस्य वचनेनोच्यते, तद्द्रव्यमेतद् भवति[1] । कथं द्रव्यव्यतिरेके सति द्रव्यान्तरप्रदेशे च तदिदं सामेति । अत्रोच्यते—

तत्राविप्रतिषिद्धो द्रव्यान्तरे व्यतिरेकः प्रदेशश्च ॥५॥

अविप्रतिषिद्धमेतत् । गीतिमात्रं हि सामेति । द्रव्यमस्य निर्वर्तकं वाचनिकम् । तत्सामान्यविहितं विशेषविहितेन द्रव्यान्तरेण बाध्यते । यदत्र द्रव्यव्यतिरिक्तं गीतिमात्रं, तदेव बृहद्वा रथन्तरं वेति न दोषो भवति । तस्मात् प्रधानकर्म सामेति ॥५॥

शब्दार्थत्वात्तु नैवं स्यात् ॥६॥ (उ०)

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदेवं[2] भवितुमर्हति, प्रधानकर्म सामेति । गुण-

---

व्याख्या—(आक्षेप) जो यह कहते हो कि ऋक् वचन सामर्थ्य से साम का द्रव्य होता है तो द्रव्य के भिन्न होने तथा द्रव्यान्तर के प्रदेश में यह वही साम है, कैसे जाना जाता है। इस विषय में कहते हैं—

तत्राविप्रतिषिद्धो द्रव्यान्तरे व्यतिरेकः प्रदेशश्च ॥५॥

सूत्रार्थः—(तत्र) साम को प्रधानकर्म मानने पर (द्रव्यान्तरे) द्रव्यान्तर=भिन्न ऋचा के होने पर भी (व्यतिरेकः) अभेद की प्रत्यभिज्ञा (च) और (प्रदेशः) अतिदेश शास्त्र (अविप्रतिषिद्धः) प्रतिषिद्ध नहीं होते अर्थात् साम को गीतिमात्र मानने पर गीति के समान होने से तदेव साम आदि की प्रत्यभिज्ञा और कवतीषु रथन्तरं गायति अतिदेश शास्त्र उपपन्न हो जाते हैं।

व्याख्या—यह प्रतिषिद्ध नहीं है । गीतिमात्र ही साम है । द्रव्य द्रव्यान्तर का निवर्तक होता है । वह सामान्य विहित द्रव्य विशेष विहित द्रव्यान्तर से बाधा जाता है। और जो यहां द्रव्य (=ऋक्) से व्यतिरिक्त गीतिमात्र है, वह ही बृहत् वा रथन्तर है । इस से [योनि से अन्य ऋचा में गान करने पर भी] दोष नहीं है [अर्थात् तदेव साम की प्रतीति में बाधा नहीं होती] । इससे साम प्रधान कर्म है ॥५॥

शब्दार्थत्वात्तु नैवं स्यात् ॥६॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त पक्ष 'साम प्रधानकर्म है' का निवर्तन करता है, (शब्दार्थत्वात्) गान के ऋचाओं के अक्षरों की अभिव्यक्ति के लिये होने से साम दृष्टार्थ है । (एवं) इस प्रकार अदृष्ट फलकल्पन (न) नहीं (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—'तु' शब्द [पूर्व उक्त] पक्ष को व्यावृत्त करता है । यह इस प्रकार नहीं हो

---

१. 'तस्माद् द्रव्यमेतद्भवति' इति पाठान्तरम् ।

२. 'नैवं भवितुमर्हति' इति पाठान्तरम् ।

कर्म स्यात्। कुतः? शब्दार्थत्वात्। शब्दस्योपकारकं साम प्रत्यक्षमुपलभ्यते। साम्नि क्रियमाण ऋगक्षराण्युच्चार्यन्ते। तस्मिन् सति नादृष्टं कल्पनीयम् ॥६॥

परार्थत्वाच्च शब्दानाम् ॥७॥

परार्थाश्च शब्दाः स्तुत्यर्थाः। स्तुतिर्हि चोदिता—**आज्यैः स्तुवते**[1] **पृष्ठैः स्तुवते**[2] इति। सा ऋगक्षरैरुच्चार्यमाणैः प्रत्यक्षाऽवगम्यते। ततः स्तुत्यर्थाया ऋचः सत्याः सामार्थता परिकल्प्येत। कल्पनायां च प्रमाणं नास्ति। तस्मादपि साम गुणभूतमृच इति[3] ॥७॥

असम्बन्धश्च कर्मणा शब्दयोः पृथगर्थत्वात् ॥८॥

सकता—प्रधानकर्म साम है। गुणकर्म होवे। किस हेतु से? शब्द के लिये होने से। शब्द का उपकारक साम है, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। साम (=गान=गीति) के उच्चारण करने पर ऋक् के अक्षर उच्चारित किये जाते हैं। ऐसा होने पर अर्थात् गुणकर्म होने पर अदृष्ट कल्पनीय नहीं होता अर्थात् अदृष्ट की कल्पना नहीं करनी पड़ती ॥६॥

परार्थत्वाच्च शब्दानाम् ॥७॥

सूत्रार्थः—(शब्दानाम्) शब्दों के (परार्थत्वात्) पर=स्तुति के लिये होने से (च) भी साम गुणकर्म है।

व्याख्या—शब्द परार्थ स्तुति के लिये हैं। स्तुति ही साम का कार्य कहा है—आज्यैः स्तुवते, पृष्ठैः स्तुवते (=आज्यसंज्ञक स्तोत्रों से स्तुति करता है, पृष्ठसंज्ञक स्तोत्रों से स्तुति करता है) से। वह स्तुति ऋगक्षरों के उच्चार्यमाण (=उच्चरित) होने से प्रत्यक्ष जानी जाती है। इस से स्तुत्यर्थवाली ऋचाओं के होने पर [उनकी] सामार्थता (=सामप्रयोजनता) की परिकल्पना होवे। [इस] कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। इस से भी साम गुणभूत है ऋक् के प्रति ॥७॥

असम्बन्धश्च कर्मणा शब्दयोः पृथगर्थत्वात् ॥८॥

सूत्रार्थः—(कर्मणा) स्तोत्ररूप कर्म के साथ साम (असम्बन्धः) सम्बन्धरहित (च) भी होवे। अर्थात् स्तोत्ररूप पृष्ठ के साथ साम का सम्बन्ध न होवे। (शब्दयोः)साम और पृष्ठ शब्दों के(पृथगर्थत्वात्)पृथक् अर्थवाला होने से। इसका भाव यह है कि पूर्वपक्षी के मत में रथन्तर के गीतिवाचक होने से और पृष्ठ के स्तोत्रवाचक होने से दोनों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होगा।

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—पृष्ठैः स्तुवीत। ताण्ड्य ब्रा० १६।५।१३॥

३. 'गुणभूतमिति' इति पाठान्तरम्। अत्राष्टमसूत्रस्य भाष्यमपि द्रष्टव्यम्। तत्र 'ऋचः सामगुणभूतमिति' इत्येवपाठः।

इतश्च गुणभूतं साम। कुतः? असम्बन्धश्च साम्नः स्तोत्रेण स्यात्। तत्प्रधानभावेन स्तुतिः साम्न उपदिश्येत, न साम स्तुतेः। तत्र बृहत् पृष्ठं भवति[1], रथन्तरं पृष्ठं भवति[2] इति वचनं बाध्येत। रथन्तरगुणकं पृष्ठं भवति, बृहद्गुणकं पृष्ठं भवतीत्येतदेवमुपदिश्यते। तदृगर्थे साम्न्यवकल्पते। प्रत्यक्षं हि तदा पृष्ठस्योपकारं साम करोति। यदस्य वाचकं प्रकाशयति शब्दं, तद्रथन्तरपृष्ठशब्दयोः सामानाधिकरण्यादेकार्थत्वे शक्यं विज्ञातुम्। पृथगर्थत्वे त्वसम्बन्धः स्यात्। तस्मादृचः साम गुणभूतमिति ॥८॥

संस्कारश्चाप्रकरणेऽग्निवत् स्यात् प्रयुक्तत्वात् ॥९॥

यदि साम का प्रयोजन ऋगक्षरों की अभिव्यक्ति द्वारा स्तुति माना जाये तो रथन्तर गीति से ऋगक्षर निर्वृत्ति से पृष्ठस्तोत्र में प्रवृत्ति सम्भव होने से सामानाधिकरण्य सम्भव है। (द्रष्टव्य—कुतूहलवृत्ति)।

व्याख्या—इस से भी साम गुणभूत है। किस हेतु से ? साम का स्तोत्र (=पृष्ठ) के साथ सम्बन्ध न होवे। वहां प्रधानरूप से साम की स्तुति कही जाये, स्तुति का साम न कहा जाये। उस अवस्था में बृहत् पृष्ठं भवति, रथन्तरं पृष्ठं भवति **(=बृहत् पृष्ठसंज्ञक स्तोत्र होता है, रथन्तर पृष्ठ होता है) यह वचन बाधित होवे। 'रथन्तर गुणवाला पृष्ठ होता है, बृहत् गुणवाला पृष्ठ होता है' इस प्रकार उपदेश किया जाता है। वह वचन ऋक् अर्थ साम में उपपन्न होता है। तब प्रत्यक्ष ही पृष्ठ का उपकारक साम करता है। जो इसके वाचक शब्द को प्रकाशित करता है, वह रथन्तर और पृष्ठ शब्दों का सामानाधिकरण्य होने से एक अर्थ में जाने जा सकते हैं। पृथगर्थत्व होने पर सम्बन्ध न होवे। इस ऋक् के प्रति साम गुणभूत है।**

विवरण—इस सूत्रभाष्य को हम स्पष्ट नहीं कर सके। सूत्रार्थ के अन्त में सूत्रार्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है , पर हम इससे पूरी तरह सहमत नहीं हैं। सुबोधिनी में पूर्व पक्ष और उत्तरपक्ष में भेद इस प्रकार दर्शाया है—

"सूत्र का भाव यह है कि **'रथन्तरं पृष्ठं भवति'** में रथन्तर शब्द का गीतिवाचकत्व और पृष्ठशब्द का स्तोत्रवाचकरूप भिन्नार्थ वालों का अभेदान्वय पूर्वपक्ष में बाधित होता है। सिद्धान्त पक्ष में रथन्तर शब्द का रथन्तर गुणवाली [ऋक्] में लक्षणा होने से दोनों में अभेद से अन्वय होता है—रथन्तरगुणकत्व स्तोत्रसाधनभूत वर्णों की अभिव्यक्ति द्वारा [परस्पर सामानाधिकरण्य उपपन्न होता है]" ॥८॥

संस्कारश्चाप्रकरणेऽग्निवत् स्यात् प्रयुक्तत्वात् ॥९॥

सूत्रार्थः—(अप्रकरणे) प्रयोग से बाहर अध्ययनकाल में (प्रयुक्तत्वात्) प्रयुक्त होने से (संस्कारः) संस्कार सम्पन्न हो चुका है, अतः ज्योतिष्टोम प्रयोग के मध्य (अग्निवत्)

---

१. तै० ब्रा० १।२।२।४॥ २. द्र०—काठक संकलने ३२।२॥

अथ यदुक्तम् अकर्मकाले[1] गानमृचः संस्कारकमग्न्याधानमिव कल्प्येत। प्रयुक्तत्वादिति। तत्परिहर्तव्यम् ॥९॥

अकार्यत्वाच्च शब्दानामप्रयोगः प्रतीयेत ॥१०॥

यदि ह्यकर्मकाले गानं कृतं कर्मकालं यावत्तिष्ठेत्, न विनश्येत्। ततः पुनरप्रयोगः प्रतीयेत। यदि वा पुनर्न शक्येत कर्मकाले गानं कर्तुं तथाऽप्यप्रयोगः स्यात्। शक्यन्ते तु प्रगीताः शब्दाः पुनः प्रयोक्तुम्। तस्मादकर्मकाले प्रयुक्ता असाधका इति कर्मकाले प्रयुज्येरन्। तस्मान्न दोषो भविष्यति ॥१०॥

आश्रितत्वाच्च ॥११॥

जैसे अग्नियों का प्रयोग से बाहर आधानकाल में संस्कार सम्पन्न होने पर प्रयोगमध्य में पुनः संस्कार नहीं होता है, वैसे पुनः संस्कार नहीं (स्यात्) होवे।

व्याख्या—जो कहा है **'अकर्मकाल में गान ऋक् का संस्कार है, अग्न्याधान के समान कल्पित होवे, प्रयुक्त होने से [कर्मकाल में पुनः संस्कार नहीं होगा]'।** उस का परिहार करो।

विवरण—प्रकृत सूत्र में निर्दिष्ट पक्ष भाष्यकार ने तृतीय सूत्र के भाष्य में उपस्थापित कर दिया है, अतः यहां भाष्यकार ने **अथ यदुक्तम्** कहा है ॥९॥

अकार्यत्वाच्च शब्दानामप्रयोगः प्रतीयेत ॥१०॥

सूत्रार्थः—[यदि प्रयोग से बाहर पठित मन्त्र गान से संस्कृत हुए प्रयोगकाल में अग्निवत् उपलब्ध होवें तो][2] (अकार्यत्वात्) पुनः संस्कार के अकार्य=अनुत्पाद्य होने से (च) ही (शब्दानाम्) शब्दों को=साम का (अप्रयोगः) प्रयोग का अभाव (प्रतीयेत) जाना जाये, परन्तु प्रयोग से बाहर पूर्व संस्कृत ऋक् शब्दों के नष्ट हो जाने से कर्मकाल में पुनः प्रयोग होगा।

व्याख्या—यदि अकर्मकाल में किया गया गान कर्मकाल तक विद्यमान रहे, विनाश को प्राप्त न होवे तो पुनः अप्रयोग जाना जाये। यदि कर्मकाल में गान न किया जा सके तो भी अप्रयोग होवे। प्रगीत शब्द पुनः प्रयुक्त किये जा सकते हैं (=गान किये जा सकते हैं)। इस से अकर्मकाल में प्रयुक्त (=गान किये गये) शब्द [कर्मकाल में] साधक नहीं होने से कर्मकाल में पुनः प्रयुक्त होवें। इस से [पुनः प्रयोग में] दोष नहीं होगा ॥१०॥

आश्रितत्वाच्च ॥११॥

---

१. इहापि पूर्ववत् (तृतीयसूत्रभाष्य इव) 'कर्मकाले' इत्यपपाठः।

२. कोष्ठान्तर्गत अंश सूत्र में पूरणीय है, यह सुबोधिनीकार का मत है।

अपि च, कर्मकालाश्रितं गानं दर्शयति—औदुम्बरीं स्पृष्ट्वाऽनपाश्रित उद्गातोद्गायेद्[1] इति। सदस्यौदुम्बरी मध्यमा स्थूणा भवति। तां स्पृष्ट्वेति ब्रुवन् सदसि गानं दर्शयति। तस्मान्नाकर्मकाले गानमग्न्याधानवत् कल्पयितव्यमिति ॥११॥

प्रयुज्यत इति चेत् ॥१२॥

अथ यदुक्तम्, अर्धपञ्चमान् मासानध्ययनं प्रयुज्यते, तत्फलाय भविष्यतीति। तत्परिहर्तव्यम् ॥१२॥

ग्रहणार्थं प्रयुज्येत ॥१३॥

सूत्रार्थ:—प्रयोग के कार्यकाल में (आश्रितत्वात्) आश्रितत्व नियम से (च) भी कर्मकाल में साम=गान प्रयुक्त होवें।

व्याख्या—और भी कर्मकाल में आश्रित गान को दर्शाता है—औदुम्बरीं स्पृष्ट्वाऽनपाश्रित उद्गातोद्गायेत् (=औदुम्बरी को स्पर्श करके आश्रयन लेकर उद्गाता साम का गान करे)। सदोमण्डप में औदुम्बरी (=उदुम्बर से निर्मित) मध्यम स्थूणा होती है। उसको स्पर्श करके बोलते हुए सदोमण्डप में गान को दर्शाता है। इससे अकर्मकाल में गान की अग्न्याधानवत् कल्पना करनी चाहिये।

विवरण—औदुम्बरी उदुम्बर की शाखा यजमानप्रमाण (यजमान जितनी ऊंची) सदोमण्डप के मध्यमा स्थूणा होती है। लाट्यायन श्रौत २।६।२ में वस्त्र से लपेटने का विधान है। वस्त्र से लपेटी जाने पर औदुम्बरी का स्पर्श सम्भव नहीं है (द्र०—मी० भाष्य १।३।३, ४)। **अनपाश्रित:**—औदुम्बरी का आश्रय न लेकर कहने से स्पर्शमात्र अभिप्रेत है। लाट्या श्रौत २।६।७ में स्वल्प आश्रय का निर्देश किन्हीं के मत में दर्शाया है ॥११॥

प्रयुज्यत इति चेत् ॥१२॥

सूत्रार्थ:—(प्रयुज्यते) साढ़े चार महीने अध्ययन प्रयुक्त होता है, वह फल के लिये होगा (इति चेत्) ऐसा कहो तो।

व्याख्या—जो यह कहा है—साढ़े चार मास अध्ययन प्रयुक्त होता है, वह [अकर्मकाल में किये गये संस्कार के] फल के लिये होगा, उसका परिहार करो।

विवरण—इस पक्ष का निर्देश भाष्यकार ने तृतीयसूत्र के भाष्य में किया है।

ग्रहणार्थं प्रयुज्येत ॥१३॥

सूत्रार्थ:—[जो साढ़े चार मास अध्ययन करता है, वह संस्कारार्थ नहीं है, अपितु] (ग्रहणार्थम्) ग्रहण करने के लिये (प्रयुज्यते) प्रयुक्त होता है।

---

१. द्र०—लाट्या० श्रौत २।६।२—वसनेन प्रदक्षिणमूर्ध्वदशेन परिवेष्ट्य स्पृष्ट्वाऽनपाश्रित उद्गायेत्।

न हि फलाय भवितुमर्हति। तथा ह्यदृष्टं कल्प्येत। दृश्यतेऽत्र प्रयोजनम्। यत्तावदुपाध्यायः शिष्यसंनिधावधीते, तद्ग्रहणार्थम्। यच्छिष्यस्तद्धारणार्थम्। ग्रहणधारणे प्रयोगार्थे भूमिरथिकवत्, शुष्केष्टिवद्वा। तद्यथा, भूमिरथिको भूमौ रथमालिख्य शिक्षां करोति, संग्रामे प्राशुभावो भवितेति। यथा च छात्रः शुष्केष्टीः प्रयुङ्क्ते, प्रयोगे प्राशुकर्मा भवितास्मीति। एवमेतद् द्रष्टव्यम्। तस्माद् दृष्टे सति नादृष्टायाध्ययनम्। तस्मात् संस्कारकर्म सामेति ॥१३॥

[तृचे गेयस्य साम्नः प्रत्यृचं परिसमापनाधिकरणम् ॥३॥]

ज्योतिष्टोमे समाम्नायते—तस्मादेकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रीयम्'[1] इति। अत्रायमर्थः सांशयिकः—किं तिसृषु ऋक्षु व्यासज्य गानं कर्तव्यमुत प्रत्यृचं समाप्तं गानं कर्तव्यमिति? किं प्राप्तम्?

तृचे स्याच्छ्रुतिनिर्देशात् ॥१४॥ (पू०)

व्याख्या—[साढ़े चार मास का अध्ययन] फल के लिये नहीं हो सकता। वैसा मानने पर अदृष्ट की कल्पना होवे। यहां प्रयोजन देखा जाता है। जो उपाध्याय शिष्य की समीपता में पाठ करता है, वह [शिष्य को] ग्रहण कराने के लिये है और जो शिष्य पाठ करता है, वह धारण के लिये है। यह ग्रहण और धारण प्रयोग के लिये भूमिरथिक के समान है अथवा शुष्केष्टि के समान है। जैसे भूमिरथिक भूमि पर रथ का लेखन कर(=चित्र बनाकर) शिक्षा करता है, संग्राम में प्राशुभाव (=शीघ्रता से कर्म करना) होगा [के लिये होता है]। और जैसे छात्र शुष्केष्टियों का प्रयोग करता है, वह प्रयोगकाल में शीघ्र करनेवाला होऊंगा [के लिये होता है]। इसी प्रकार यह [साढ़े चार मास का अध्ययन] जानना चाहिये। इसलिये दृष्ट प्रयोजन के लिये अध्ययन के होने पर अदृष्ट के लिये नहीं होगा। इसलिये साम संस्कार कर्म है॥१३॥

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में पढ़ा है—तस्मादेकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रीयम्(=इससे स्तोत्र प्रयोजनवाला एक साम तृच=तीन ऋचाओं में करता है)। यहां यह अर्थ सांशयिक है—क्या तीनों ऋचाओं में फैलकर गान करना चाहिये अथवा प्रति ऋक् समान गान करना चाहिये? क्या प्राप्त होता है?

तृचे स्याच्छ्रुतिनिर्देशात् ॥१४॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्। सायणाचार्येण ऐ० ब्रा० ३।२३ भाष्येऽस्य वचनस्य विषये 'शाखान्तरे श्रूयते' इत्युक्तम्।

व्यासज्येति। कुतः? श्रुतिनिर्देशात्। एवं श्रूयते—एकं साम तृचे क्रियते इति। साम्नि क्रियमाणे, तन्निर्वृत्तौ गुणभूता त्रिसंख्या ऋग्गता श्रूयते। तत्र यद्येकस्यामृच्युपक्रम्य तस्यामेवैतत् परिसमापयेयुः, न त्रिसंख्यया साधनमस्य क्रियमाणस्य परिच्छिन्द्युः। एकसंख्यापरिच्छिन्नं क्रियमाणं स्यात्। तत्र श्रुतिर्बाध्येत। तद्यथा, अयं 'पटस्त्रिषु[1] नागदन्तकेषु स्थाप्यतामित्युक्ते व्यासज्य स्थाप्यते, न पर्यायेण, एवमिहापि द्रष्टव्यम्।

ननु पर्यायेऽप्येवंजातीयकः शब्दो भवति। यथा, त्रिषु गृहेषु[2] देवदत्तो भुङ्क्त

सूत्रार्थः—(तृचे) तृच में (स्यात्) विभक्त होकर गान होवे, (श्रुतिनिर्देशात्) श्रुति के निर्देश होने से। अर्थात् एक साम को तीन ऋचाओं में फैलाकर गान करना चाहिये।

व्याख्या—[तीन ऋचाओं में] फैलाकर गान करना चाहिये। किस हेतु से? श्रुति के निर्देश से। ऐसा सुना जाता है—एकं साम तृचे क्रियते (=एक साम तीन ऋचाओं में किया जाता है)। साम (=गान) करने में उसकी निर्वृत्ति (=उपपन्न होने) में ऋक्गत तीन संख्या गुणरूप सुनी जाती है। यदि [साम को] एक ऋचा में आरम्भ करके उसी में समाप्त करें तो तीन संख्या इस क्रियमाण साम को परिच्छिन्न न करे। एक संख्या से परिच्छिन्न किया जानेवाला साम होवे। उस अवस्था में श्रुति बाधित होवे। जैसे 'यह कपड़ा तीन खूंटियों पर रख दो' ऐसा कहने पर [उस कपड़े को तीन खूंटियों पर] फैलाकर रखा जाता है, पर्याय से [एक-एक खूंटी पर] नहीं रखा जाता, ऐसा ही यहां भी जानना चाहिये।

विवरण—साम्नि क्रियमाणे—इस का तात्पर्य यह है कि साम का गान करने में उसकी पूर्ति में ऋक्गत तीन संख्या गुणभूत है। गान की परिसमाप्ति प्रधान है, इस दृष्टि से ऋक्गत तीन संख्या अप्रधान है। यदि गीयमान साम एक ही ऋचा में पूर्ण कर दिया जाये तो गीयमान साम की साधनभूत तीन संख्या परिच्छिन्न न होवे, दो ऋचा सामरहित रह जावें। **अयं पटः**—यहां 'पट' के स्थान में सभी मुद्रित ग्रन्थों में 'घट' पाठ है। एक घड़े को तीन खूंटियों पर फैलाकर नहीं रखा जा सकता है। अतः आचार्यवर ने अध्यापनकाल में 'घट' के स्थान में 'पट' पाठ दर्शाया था। ग्रन्थ के विभिन्न सम्पादकों ने इस मूलभूत आपत्ति पर भी ध्यान नहीं दिया और 'घट' पाठ ही छापते रहे।

व्याख्या—(आक्षेप) पर्याय के विषय में भी इस प्रकार का शब्द प्रयुक्त होता है। जैसे—'देवदत्त तीन घरों में भोजन करता है' ऐसा कहने पर यौगपद्य (=एक काल में) ऐसा

---

१. 'घटः' इति सार्वत्रिकोऽपपाठः। एकस्य घटस्य त्रिषु नागदन्तेषु व्यासज्य स्थापयितुमशक्यत्वात्। अतएवाचार्यवर्यैः पाठकाले 'पटः' इति पाठो निर्दिष्टोऽभूत्।

२. 'कुलेषु' इति पाठान्तरम्। एवमुत्तरत्रापि सर्वत्र 'गृह' स्थाने 'कुल' शब्दः पाठान्तरो ज्ञेयः।

इत्युक्ते न यौगपद्यमवगम्यते। पर्यायेणापि भुञ्जाने भवत्येष वादः। एवमिहापि पर्यायेण प्राप्नोतीति। अत्रोच्यते। न तत्र त्रिसंख्या भुजिं प्रत्युपदिश्यते, येनैतदेवं भवति। तत्र गृहशब्देन सम्बध्यते। त्रिषु गृहेषु न द्वयोरेकस्मिन्वेति। यदा भुजिनिर्वृत्तिं[1] प्रत्युपदिश्यते, तदा यौगपद्येनैव भोजयितव्यः। इह तु त्रिसंख्या क्रियत इत्यनेन सम्बध्यते। एवं सति क्रियायां त्रिसंख्या विहिता भवति। तत्र स्वपदगतस्य किंचिद्विधायकेन विहितं भवति। इतरथा, ऋचः संख्यायाश्च सम्बन्धस्य पदान्तरगतेन शब्देन भावनोच्येत। तथा, अर्थविप्रकर्षः स्यात्। तस्मात् सामनिर्वृत्तिं प्रति त्रिसंख्योच्यते।

आह। ननु त्रिसंख्या ऋक्शब्देनैवात्र सम्बध्यते। अन्यथा, असति सामर्थ्ये

अर्थ नहीं जाना जाता है। पर्याय से भोजन करने पर भी यह कथन होता है। इसी प्रकार यहां भी [तीन ऋचाओं में] पर्याय से गान प्राप्त होता है। (समाधान) वहां (='त्रिषु गृहेषु' में) तीन संख्या भोजन क्रिया के विषय में नहीं कही जाती है, इसलिये वहां इस प्रकार (=पर्याय) अर्थ जाना जाता है। वहां गृह शब्द के साथ [त्रि संख्या] सम्बद्ध होती है। तीन घरों में, न दो में और न एक में। जब [तीन संख्या] भोजनक्रिया की सम्पन्नता के लिये प्रयुक्त होती है, तब युगपत् ही भोजनीय होता है। यहां (='एकं साम' वाक्य में) तो तीन संख्या 'क्रियते' इस क्रिया के साथ सम्बद्ध होती है। इस प्रकार [गान] क्रिया के प्रति तीन संख्या विहित होती है। इस अवस्था में स्वपदगत का विधायक के द्वारा कुछ विहित होता है। अन्यथा ऋचा और संख्या के सम्बन्ध के पदान्तर गत शब्द से भावना कही जाये। ऐसा होने पर अर्थ का विप्रकर्ष (=दूर से सम्बन्ध) होवे। इस से साम की सम्पन्नता के प्रति त्रि संख्या कही है।

विवरण—यदा भुजिनिर्वृत्तिं प्रति—भोजन क्रिया की निर्वृत्ति के प्रति त्रि संख्या के उपदेश होने पर भी यौगपद्य अर्थ (एक साथ तीन बार खाना) कैसे उपपन्न होगा। इस विषय में कुछ नहीं कहा। केवल यौगपद्य अर्थ जाना जायेगा, इतना ही कहा है। **तत्र स्वपदगतस्य**—स्व 'तिसृषु' पदगत अर्थ ही विधायक (=क्रियते) पद से विहित होता है। **भावना उच्येत**—ऋचा का और संख्यापद के सम्बन्ध का पदान्तरगत (=क्रियते) शब्द से भावना कही जायेगी अर्थात् 'क्रियते' पद से ऋचा और तीन संख्या का सम्बन्ध होवे या करना चाहिये, अर्थ ही कहा जायेगा। इस स्थिति में 'जो साम ऋक् को संस्कृत करे, उसका तीन बार अभ्यास करे, यह दूरगामी अर्थ वाक्य का जाना जायेगा। अतः साम की पूर्णता के प्रति तीन संख्या का उपदेश है। साम का कुछ-कुछ भाग तीनों ऋचाओं में गान करना चाहिये, यह उक्त वाक्य का श्रुत्यर्थ जानना चाहिये। इस सूत्रभाष्य का यह सन्दर्भ अन्तर्मुखी है, कुछ अस्पष्ट है। हमने इसका जो तात्पर्य समझा है, तदनुसार स्पष्ट करने का यत्न किया है।

व्याख्या—(आक्षेप) त्रिसंख्या ऋक् शब्द के साथ ही सम्बद्ध होती है [तीन ऋचाओं

---

१. 'भुंजि प्रति' इति पाठान्तरम्।

समास एव न स्यादिति। अत्रोच्यते। न ब्रूमो न सम्बध्यत[1] इति। सम्बध्यत एव। समासश्च भवति। स तु समासशब्दः सामनिर्वृत्तावुपदिश्यत[2] इति। तत्र त्रिशब्दस्य ऋक्शब्दस्य चार्थो निर्वृत्तावुपदिष्टो भवति। ऋचि साम निर्वर्तयितव्यम्, एवं तास्तिस्र ऋचो भवन्ति, न न्यूना इति। इतरस्मिन् पक्षेऽभ्यासस्त्रिसंख्यया सम्बध्येत। तत्र साम क्रियत इति लक्षणा स्यात्। अभ्यासनिर्वृत्तौ सामनिर्वृत्तिशब्दो भवेत्[3]। तस्माद् व्यासज्य गानं कर्तव्यम् ॥१४॥

शब्दार्थत्वाद्विकारस्य ॥१५॥

इतश्च पश्यामः तृचे व्यासज्य साम गातव्यमिति। कुतः? शब्दार्थोऽयं सामसंज्ञको विकारः। ऋचो गुणभूत इत्यर्थः। स यदि व्यासज्य क्रियते, बह्नन्यक्षराण्यविकृतानि भवन्ति। तत्रायं चोदकोऽनुग्रहीष्यते। तस्माद्व्यासज्य गातव्यम् ॥१५॥

में]। अन्यथा सामर्थ्य न होने पर [तृच में] समास ही न होवे। (समाधान) हम यह नहीं कहते कि [तीन संख्या और ऋक का] सम्बन्ध नहीं होता। सम्बन्ध होता ही है और समास भी होता है। वह (=तृच) समास शब्द साम की निष्पन्नता के लिये उपदिष्ट होता है [तीन ऋचाओं में साम सम्पन्न होता है]। ऋक् में साम निष्पन्न करना चाहिये और वे तीन ऋचाएं होती हैं, न्यून नहीं होती हैं। दूसरे पक्ष में अभ्यास तीन संख्या सम्बद्ध होता है [—तीन ऋचाओं में साम का अभ्यास करता है]। उस अवस्था में 'साम क्रियते' में [अभ्यासरूपी] लक्षणा होवे। अभ्यास की निर्वृत्ति(=पूर्णता) में सामनिर्वृत्ति शब्द होवे [अर्थात् साम शब्द से साम का अभ्यास कहा जाये]। इस से तीन ऋचाओं में बांट कर गान करना चाहिये ॥१४॥

शब्दार्थत्वाद् विकारस्य ॥१५॥

सूत्रार्थः—(विकारस्य) विकार (=साम) के (शब्दार्थत्वात्) शब्द का अर्थ होने से। अर्थात् साम शब्द का अर्थ ही विकार है। अतः वह ऋचा की अपेक्षा गुणभूत है।

व्याख्या—इस से भी हम देखते हैं कि तृच में साम को फैलाकर बांट कर गाना चाहिये। किस हेतु से? यह शब्दार्थ है सामसंज्ञक विकार। अर्थात् ऋक् का गुणभूत है साम। यदि उसे (=सामसंज्ञक विकार को) फैलाकर किया जाये तो बहुत अक्षर अविकृत होते हैं। वहां यह विधिवाक्य अनुगृहीत होगा। इस से फैलाकर गान करना चाहिये।

विवरण—अयं चोदकः—'एकं साम तृचे क्रियते' विधिवाक्य। जैसे कोई लोक में कहे 'एक रुपया तीन को देओ' तो एक रुपया तीनों को बांटकर दिया जाता है। अतः साम का तृच में विभक्त करके ही गान होगा ॥१५॥

---

१. पुणेसंस्करणे 'बध्यते' इत्यपपाठः।

२. 'उपयुज्यते' इति पाठान्तरम्।

३. 'वर्तते' इति पाठान्तरम्।

दर्शयति च ॥१६॥

ऋक् सामोवाच मिथुनी सम्भवावेति । सोऽब्रवीत्, न वै त्वं ममालमसि जायार्थे, वेदो मम महिमेति । ते द्वे भूत्वोचतुः । सोऽब्रवीत् । न युवां ममालं स्थो जायार्थे, वेदो मम महिमेति । तास्तिस्रो भूत्वोचुः, मिथुनी सम्भवामेति । सोऽब्रवीत्, सम्भवामेति । तस्मादेकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रीयमिति[1] । नैका स्तोत्रीयसाम्नः सम्भवति । नापि द्वे, तिस्रः सम्भवन्तीति व्यासज्य गानं दर्शयति ॥१६॥

दर्शयति च ॥१६॥

सूत्रार्थः—एक साम को बांटकर तीन ऋचाओं में गान करना चाहिये । इसको लिङ्ग (दर्शयति) बताता (च) भी है ।

व्याख्या—ऋक् सामोवाच मिथुनी सम्भवावेति । सोऽब्रवीत्–न वै त्वं ममालमसि जायार्थे, वेदो मम महिमेति । ते द्वे भूत्वोचतुः । सोऽब्रवीत् । न युवां ममालं स्थो जायार्थे, वेदो मम महिमेति । तास्तिस्रो भूत्वोचुः, मिथुनी सम्भवामेति । सोऽब्रवीत्, सम्भवामेति । तस्मादेकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रीयमिति (=ऋक् साम से बोली हम मिथुनभाव को प्राप्त होवें । वह बोला—तू अकेली भार्या बनने के लिये पर्याप्त नहीं है । वेद मेरी महिमा है । वे दो होकर बोलीं, हम मिथुनभाव को प्राप्त होवें । वह बोला तुम दो भी भार्या बनने के लिये पर्याप्त नहीं हो । वेद मेरी महिमा है । वे तीन होकर बोलीं, हम मिथुन भाव को प्राप्त होवें । वह बोला [मिथुन भाव को] प्राप्त होते हैं । इससे एक स्तोत्रीय साम तीन ऋचाओं में गाया जाता है) । एक ऋक् स्तोत्रीय साम के योग्य नहीं होती न दो ऋचाएं । तीन ही ऋचाएं योग्य होती हैं, इस से तीन ऋचाओं में बांटकर गान को दर्शाता है ।

विवरण—ऋक् सामोवाच—यह सम्पूर्ण पाठ हमें कहीं उपलब्ध नहीं हुआ । मिथुनी संभवावेति—इसका तात्पर्य 'मिलकर प्रजा को उत्पन्न करना' है । वेदो मम महिमा—इस वाक्य का अर्थ हमें समझ में नहीं आया । 'वेद' से यहां क्या तात्पर्य है, यह हम नहीं जान सके । भाट्टदीपिका में प्रथम भाग में वेदो मम महिमेति पाठ है, द्वितीय तृतीय भाग में नहीं है । इससे वेद उ मम महिमा इति पदच्छेद सम्भव होगा । तब इसका अर्थ होगा—मेरी महिमा को जानती हो ? अगले वाक्यों में योग्यतानुसार अनुषङ्ग हो जायेगा । सुबोधिनीवृत्तिकार ने 'वेदो मम महिमेति' अंश का निर्देश ही नहीं किया ।

---

१. अनुपलब्धमिदं वचनम् । मीमांसोद्धरणकोशनिर्मात्रा अस्य संकेतः 'ऐ० ब्रा० ३।२।२३' इत्येवं कृतः । यं निर्देशविभागमाश्रित्य निर्देशः कृतस्तथा '३।२।१२' (पं० ३, अ० २, खं० १२) निर्देष्टव्य आसीत् । २३ खण्डसंख्या तु तृतीयपञ्चिकाया द्वितीयाध्याये नैवास्ति । अत्रैकादशाध्यायस्य एकादशखण्डसंख्याऽपि संकलिता वर्तते । '३।२३' इति वा युक्तः संकेतो द्रष्टव्यः ।

वाक्यानां तु विभक्तत्वात् प्रतिशब्दं समाप्तिः स्यात् संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥१७॥ (उ०)

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । वाक्यानि विभक्तानि त्रीण्येतानि । यास्तिस्र ऋचस्तत्रैकैका ऋक् कृत्स्नेन पदग्रामेण कांचित्स्तुतिमभिनिर्वर्तयति, न ऋगन्तरेण सह कंचिदर्थं संस्तौति, तत्र साम ऋचः संस्तवमभिनिर्वर्तयन्त्या गुणभावं गच्छत्साहाय्यं करोति । तत्र यदि व्यासज्य गीयेत, न ऋचः स्तुतिमभिनिर्वर्तयन्त्याः साम उपकारकं स्यात् । न हि सामावयवः साम भवतीति । न च ऋक्समुदायेन कश्चिदर्थः स्तूयते,

---

ऐतरेयब्राह्मण ३।२३ (अ० १२, खं० १२) में इस तात्पर्य वाला अर्थवादरूप पाठ है। वहां अन्त में कहा है—**तस्मादेकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति नैकस्यै बहवः सह पतयः** (= इसलिये एक पुरुष की बहुत सी पत्नियां होती हैं, एक स्त्री के बहुत पति एक साथ नहीं होते)। एक पुरुष की एक साथ कई स्त्रियों का जो कथन किया गया है, वह सन्तान के अभाव में अपवादरूप है। एक पुरुष का एक स्त्री से विवाह ही वैदिक मर्यादा है। इस स्थिति में वैवाहिक प्रतिज्ञामन्त्र यथार्थरूप में उपपन्नार्थक होते हैं। उत्तर काल में इसका अपवादस्वरूप समाप्त हो गया। **नैकस्यै बहवः सह पतयः** वाक्य के विषय में महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने लिखा है—**श्रुत्यन्तरे सहशब्दात् पर्यायेणानेकपतित्वप्रसञ्जनाद् रागतः प्राप्तत्वाच्च तन्निषेधोपपत्तिः। सह शब्दोऽपि रागतः प्राप्तानुवाद एव न विधायकः।** आदि० १०४।३५ (नीलकण्ठटीका)॥ 'सह' पद के निर्देश से कालान्तर में अर्थात् पति के मरने पर दूसरा पति हो सकता है। अर्थात् नीलकण्ठ के मत में विधवा स्त्री का पुनर्विवाह अशास्त्रीय नहीं है ॥१६॥

वाक्यानां तु विभक्तत्वात् प्रतिशब्दं समाप्तिः स्यात् संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥१७॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त पक्ष 'साम का गान तीन ऋचाओं में विभक्त होकर करना चाहिये' का निवर्तक है। (वाक्यानाम्) वाक्यों के (विभक्तत्वात्) विभक्त होने से [अर्थात् तीन ऋचाओं में भिन्न-भिन्न तीन वाक्य होने से] साम की (प्रतिशब्दम्) प्रति शब्द (समाप्तिः) पूर्णता (स्यात्) होवे (संस्कारस्य) ऋगक्षरों के संस्कारक रूप साम के (तदर्थत्वात्) स्तुति के लिये होने से।

व्याख्या—'तु' शब्द पूर्व पक्ष निवृत्त करता है। ये (=तृच) तीन विभक्त वाक्य हैं। जो ये तीन ऋचाएं हैं, उनमें एक-एक ऋक् सम्पूर्ण पदाक्षरों से स्तुति को सम्पन्न करती है, किसी अन्य ऋचा के साथ मिलकर किसी अर्थ की स्तुति नहीं करता। वहां (= ऐसी स्थिति में) साम संस्तुति करती हुई ऋचा के गुणभाव को प्राप्त होकर सहायता करता है। ऐसी स्थिति में यदि साम तीन ऋचाओं में विभक्त होकर गाया जाये तो स्तुति को निष्पन्न करती हुई का साम उपकारक न होवे। साम का अवयव साम नहीं होता है। और न ही किसी ऋक्समुदाय

यत्र सामसम्बद्धा स्तुतिं कुर्यात् । ऋक् स्तुतिं करोति, सा न सामसम्बद्धा । य ऋक्-समुदायः सामसम्बद्धः, स स्तुतिं न करोति । तत्र प्रत्यृचं साम्नि परिसमाप्ते क्रियमाणे सामवता शब्देन स्तुतिः कृता भवति । सामसंस्कारस्य स्तुतिभावनार्थत्वात् । प्रत्यृचं परिसमाप्तं गानं कर्तव्यमिति ॥१७॥

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१८॥

अन्यार्थमपि वाक्यमेतमर्थं दर्शयति—**अष्टाक्षरेण प्रथमायामृचि प्रस्तौति द्व्यक्षरेणोत्तरयोः**[1] इति प्रस्तावभेदं[2] दर्शयति । तथा च **एका वाऽस्योत्तमा स्तोत्रीया,**

के द्वारा किसी अर्थ की स्तुति की जाती है, जहां [तृच] साम से सम्बद्ध स्तुति करे। ऋक् स्तुति करती है, वह ऋक् [साम के व्यासज्य सम्बद्ध होने पर] साम से सम्बद्ध नहीं है । जो [तृचरूप] ऋचाओं का समुदाय साम से सम्बद्ध है, वह स्तुति नहीं करता । वहां प्रति ऋक् साम की समाप्ति करने पर सामवान् शब्द से की हुई स्तुति होती है । सामरूप संस्कार के स्तुति की भावनावाला होने से प्रति ऋक् गान समाप्त करना चाहिये ॥१७॥

विवरण—इस सूत्र के भाष्य की व्याख्या में भट्टकुमारिल ने भाष्य का भाव इस प्रकार स्पष्ट किया है—प्रति ऋक् गान करना चाहिये। किस हेतु से ? वह ऋक् स्तोत्र साधन के रूप से विहित है । वह स्वयं वर्णों के संस्कार की आकाङ्क्षा करती है । उस विषय में संस्कार रूप से साम का नियम किया जाता है । इस कारण साम ऋक् के संस्कार द्वारा स्तोत्र से सम्बद्ध होता है। जैसे ऋक्समुदाय—एक साम तीन ऋचाओं में गाया जाता है, ऐसा ज्ञात होने पर संस्कारक साम के प्रति यह [एकं साम तृचे क्रियते] गुणवाक्य है। वहां जो अप्राप्त गुण है, उसका विधान किया जाता है । जो 'साम से ऋक् को संस्कारयुक्त करे' यह अनुवाद है । वे ऋचाएं तीन हैं, यह विधान किया जाता है । साम को तीन ऋचाओं में विभक्त करके गान करने पर पूर्ण ऋक् संस्कृत नहीं होगी । ऋचाओं का एकदेश संस्कृत होगा । ऋचाओं के एक देश स्तोत्रीय के संस्कार अपेक्षित नहीं हैं, स्तुति साधन होने से । इस हेतु से साम को तीन ऋचाओं में विभक्त करके गान में सम्पूर्ण वाक्य ही अनर्थक होगा अर्थात् पूर्ण ऋचाओं के संस्कृत न होने से अपेक्षित स्तुति नहीं होगी ।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(तथा) इसी प्रकार का अर्थात् प्रति ऋक् गान पूर्ण करना चाहिये अर्थ को कहनेवाला (अन्यार्थदर्शनम्) अन्य अर्थ को कहनेवाला (च) भी वचन होता है। अर्थात् अन्य अर्थ को कहनेवाले वचन से भी यह अर्थ जाना जाता है कि प्रति ऋक् गान पूरा करना चाहिये ।

व्याख्या—अन्य अर्थ को कहने वा वचन भी इस अर्थ को दर्शाता है—**अष्टाक्षरेण प्रथमायामृचि प्रस्तौति, द्व्यक्षरेणोत्तरयोः** (=आठ अक्षरों से प्रथम ऋचा में प्रस्ताव

---

1. ताण्ड्य ब्रा० ७।७।१-२॥ 2. 'प्रस्तावे भेदं' इति पाठान्तरम् ।

तामुद्गृह्योद्गायेद्[1] इति—उद्गीथभेदं दर्शयति। तस्मादपि प्रत्यृचं गानं कर्तव्यमिति। अर्धर्चप्रगीतेष्वपि ऋच्येव गानं कर्तव्यम्। अपरिपूर्णं तद्वाक्यमर्धर्चे भवति। ऋचि तु परिपूर्यत इति। पादप्रगीतेषु पाद एव गानं कर्तव्यमिति। पाद एव हि तत्परिपूर्णं वाक्यम्। यथा गोष्ठो वासिष्ठ इति। एवं यावति परिपूर्णं वाक्यं, तावति साम परिसमापयितव्यम्। क्वचित्पादेऽपि पूर्णं वाक्यम्। ऋच्यपि, क्वचिदर्धर्चेऽपि परिपूर्णम्। यत्र तथा परिपूर्णं तत्र तथा गातव्यमिति ॥१८॥

भाग का गान करता है, दो अक्षरों से उतर दो ऋचाओं के प्रस्ताव भाग का गान करता है) से प्रस्ताव का भेद दर्शाता है। और भी एका वास्योत्तमा स्तोत्रीया तामुद्गृह्योद्गायेत् (= इसकी एक जो उत्तमा स्तोत्रीया है, उस का उद्ग्रहण करके उद्गाता [उद्गीथ का] गान करे) से उद्गीथ भेद को दर्शाता है। इस से भी प्रति ऋचा [पूरा] गान करना चाहिये [यह जाना जाता है]। अर्धर्चों के प्रगीत होने पर भी ऋचा में ही गान करना चाहिये, वह [गान रूप] वाक्य अर्धर्च में अपरिपूर्ण होता है, ऋक् में परिपूर्ण होता है। पादों के प्रगीत होने पर पाद में ही गान करना चाहिये, पाद में ही वह वाक्य परिपूर्ण है। जैसे गोष्ठः वसिष्ठः। इसलिये जितने में वाक्य परिपूर्ण होता है, उतने में सामगान समाप्त करना चाहिये। कहीं पर पाद में भी वाक्य पूर्ण होता है, ऋचा में भी, कहीं अर्धर्च में भी [वाक्य] परिपूर्ण होता है। जहां जैसे वाक्य परिपूर्ण होवे, वहां वैसे गान करना चाहिये।

विवरण—अष्टाक्षरेण प्रथमायामृचि प्रस्तौति—साम की पांच भक्तियां होती हैं—प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन। इन पांचों भक्तियों से एक साम परिपूर्ण होता है। इन भक्तियों का स्वरूप सामगाचार्यों से ज्ञेय है। **अष्टाक्षरेण** इत्यादि वाक्य ताण्ड्य ब्रा० ७।७।१,२ का है। तदनुसार रथन्तर और बृहत् सामों में अष्टाक्षर से प्रस्ताव कहा है। रथन्तर साम की प्रथम ऋक् है—**अभि त्वा शूर नोनुम** (उत्तरार्चिक संख्या ६८० सातवलेकर संस्क०) इत्यादि, और बृहत् साम की प्रथमा ऋक् है—**त्वामिद्धि हवामहे** (उत्तरा० ८०६)। इन के आदि आठ अक्षरों में प्रस्ताव भाग पूर्ण करना कहा है (शेष ४ भक्तियां पूर्वार्ध के और उत्तरार्ध के शेष अक्षरों में गेय होती हैं)। **द्व्यक्षरेणोत्तरयोः**—सामान्य साम गान का नियम है—**यद् योन्यां गायति तदुत्तरयोर्गायति**। जिस साम का योनिभूत ऋक् (जिस में साम दृष्ट है—पूर्वार्चिक की ऋक्) में गान करता है, उसका उत्तरार्चिक की ऋचाओं में गान करता है। सामसंहिता में प्रायः पूर्वार्चिक की योनि ऋक् का पाठ करके दो और ऋचाएं पढ़ी जाती हैं। **एकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रीयम्** (मी० मा० ६।२।१४ में उद्धृत) एक स्तोत्रीय साम तीन ऋचाओं के समूह पर गाया जाता है। परन्तु कहीं-कहीं इसका अपवाद देखा जाता है। प्रगाथसंज्ञक छन्दों में दो ही ऋचाएं उत्तरार्चिक में पठित हैं। इन के छन्द हैं—बृहती सतोबृहती। बृहती छन्द में ३६ अक्षर होते हैं और सतोबृहती में ४०। बृहती-

---

१. अनुपलब्धमूलम्। मीमांसोद्धरणकोषेऽस्य 'तां० १६।५।२२' संकेतः प्रदत्तः। न तत्रायं पाठ उपलभ्यते।

छन्दस्का प्रथमा ऋक् है और सतोबृहती छन्दस्का द्वितीया। सोऽस्यादिरिति छन्दसः प्रगाथेषु (अष्टा. ४।२।५५)के नियम से पहला छन्द बृहती होने से यह प्रगाथ बार्हत कहाता है। पाणिनि का प्रगाथसंज्ञाविधायक सामान्य लक्षण है। ऋक्प्रातिशाख्य में इससे भिन्न लक्षणवाले प्रगाथ भी निर्दिष्ट हैं (द्र०—वैदिक छन्दो-मीमांसा, प्रगाथ प्रकरण, अ० १२, पृष्ठ १९२-२०२, द्वितीय संस्करण)।

जहां प्रगाथों में दो ही ऋचाएं हैं, वहां उन दो का ही प्रग्रथन करके (=तोड़ मरोड़ कर)[1] तीन ऋचाएं बनाकर एकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रीयम् की उपपत्ति की जाती है।

रथन्तर साम विषयक प्रगाथ (दो ऋचाएं)—

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥१॥ संख्या ६८०

न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वां हवामहे ॥२॥ संख्या ६८१

प्रथम मन्त्र में बृहती छन्द होने से ३६ अक्षर होने चाहियें, परन्तु हैं—१५+१९=३४। द्वितीय मन्त्र में सतोबृहती छन्द होने से ४० अक्षर होने चाहियें, परन्तु हैं १९+२०=३९। न्यूनाक्षरों की व्यूह से पूर्ति की जाती है। प्रथम ऋचा के पूर्वार्ध में 'नोनुमोऽदुग्धा' में लुप्त अकार का व्यूह और उत्तरार्ध में स्वर्दृशम् में सुवर्दृशम् व्यूह करने से २ अक्षरों की न्यूनता पूर्ण होती है। द्वितीय मन्त्र के पूर्वार्ध में एक अक्षर की न्यूनता है। इसकी पूर्ति त्वावाँ में तुवावाँ व्यूह करने से पूर्ण हो जाती है।

इन दो ऋचाओं की तीन ऋचाएं इस प्रकार बनाते हैं—

१. अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥

२. ईशानमिन्द्र तस्थुष ईशानमिन्द्र तस्थुषः।
न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ॥

३. न जातो न जनिष्यते न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥

बृहत् सामविषयक प्रगाथ (दो ऋचाएं) इस प्रकार हैं—

त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः॥ संख्या ८०९

---

१. प्रकर्षं हि प्रशब्दो द्योतयति। प्रकर्षेण यत्र गानं स प्रगाथः। कश्च प्रकर्षः? यत्र किञ्चित् पुनर्गायति। मीमांसाशाबरभाष्य ९।२।२७।

स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया मह स्तवानो अद्रिवः ।
गामश्वं रथ्यमिन्द्र सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे ।। संख्या ८१०

बृहत् साम के इस प्रगाथ में भी पहली ऋचा बृहती छन्द (३६ अक्षर) वाली और दूसरी सतोबृहती छन्द (४० अक्षर) वाली है। इनमें जितने अक्षर न्यून हों, उनकी पूर्ववत् व्यूह करके पूर्ति कर लेनी चाहिए। उक्त दो ऋचाओं की तीन ऋचाएं इस प्रकार बनानी चाहिए—

१. त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः ।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः ।।

२. नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतो नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः ।
स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया मह स्तवानो अद्रिवः ।।

३. मह स्तवानो अद्रिवो मह स्तवानो अद्रिवः ।
गामश्वं रथ्यमिन्द्र सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे ।।

भाष्य में उद्धृत **अष्टाक्षरेण** आदि वाक्य ताण्ड्यब्राह्मण ७।७।१-२ के हैं, यह पूर्व कह चुके हैं। अतः इन की हम यहां सायणभाष्य के अनुसार व्याख्या दर्शाते हैं। सायणभाष्य में कहा है—"आठ संख्या ऋगक्षरमात्रविषया है, न कि स्तोमादिविशिष्टविषया। रथन्तर साम की जो 'अभि त्वा' प्रथमा ऋक् है, उसके आदि के अष्टाक्षर **'अभि त्वा शूर नोनुमः'** भाग से प्रस्ताव का गान करता है। इसी प्रकार बृहत्साम की जो **'त्वामिद्धि'** प्रथमा ऋक् है, उसके अष्टाक्षर भाग **'त्वामिद्धि हवामहे'** भाग से प्रस्ताव भाग का गान करे।" सायण ने यहां स्तोमादियुक्त **'औ होई त्वामिद्धि हवामहा ३ए'** पाठ उद्धृत किया है।

द्व्यक्षरेणोत्तरयो ऋचोः—**'ईशानमस्य जगतः' 'न जातो न जनिष्यते'** इन दो ऋचाओं के **'ईशा वा' 'न जीव'** इन द्व्यक्षरों से प्रस्ताव भाग का गान करे। बृहती में **'औ हाई तु वा ३ मे' 'औ हाई महा ३ ए'** इस प्रकार द्व्यक्षर से प्रस्ताव भाग का गान करे।

रथन्तर की द्वितीया ऋक् के दो अक्षर **'ईशा'** और तृतीया ऋक् के 'न जा' हैं। सायण ने गानरूप का निर्देश किया है। बृहती की द्वितीया ऋक् के दो अक्षर हैं **'त्वा वृ'** और तृतीय ऋक् के दो अक्षर है **'महः'**। सायण ने गान का निर्देश किया है।

श्री प० विश्वनाथ श्रौती जी (नेल्लूर, आन्ध्र प्रदेश) ने आश्वलायनश्रौतसूत्र (५।५) के अनुसार रथन्तर प्रगाथ की दो ऋचाओं के तीन बृहती सम्पादन का जो सोदाहरण स्वरूप लिखकर भेजा है, तदनुसार रथन्तर की द्वितीया ऋक् का पूर्वार्ध है—**ईशानमिन्द्र तस्थुष ईशानमिन्द्र तस्थुषः**। द्र०—आश्वलायनश्रौत ५।५—**बृहतीकारं चेत् ता वेव द्विरभ्यस्येत्**। अर्थात् उत्तरा द्वे ककुप् विधान में जिन चतुर्थ और षष्ठ का अभ्यास कहा है, उन्हीं का बृहती-कार में दो-दो बार अभ्यास करे। चतुर्थ पाद 'ईशानमिन्द्र तस्थुषः' है। सायणाचार्य ने तृतीय पाद **'ईशानमस्य जगतः'** का अभ्यास माना है। इसी प्रकार बृहत्साम प्रगाथ की दो ऋचाओं

का तिसृकरण का निर्देश श्री श्रौतीजी ने नहीं लिखा (मैंने पूछा ही नहीं था), तथापि आश्वलायन श्रौत के इस (५।५) प्रकरण में रथन्तर और बृहत्साम के प्रगाथों के 'ककुबुत्तरे' तथा 'बृहतीकार' पक्षों का साथ-साथ निर्देश किया है, अतः बृहत्साम की द्वितीया ऋक् में चतुर्थ षष्ठ पादों के दो बार अभ्यास में पूर्वार्ध होगा—**'नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतो नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः।** इसके आद्य दो अक्षर होंगे **'न रः'** ।

यह भेद क्यों है ? यह हमारी समझ से बाहर है । क्योंकि हमें सामगान एवं उद्गातृ कर्म का ज्ञान नहीं है ।

ताण्ड्यब्राह्मण के इसी प्रकरण में आगे कहा है—**तस्माद् बृहती प्रथमा ककुभावुत्तरे** (७।७।५) । इस पर सायणाचार्य ने लिखा है—'······**तस्मादिदानींतनैरपि बृहती प्रथमा कार्या ककुभावुत्तरे । तत्प्रकार एव बृहती तत एव सिद्धा । तस्याश्चतुर्थं पादं पुनरावर्त्य विष्टारपङ्क्त्योश्च पादद्वयं मिलित्वा एका ककुप् कुर्यात् । तस्या एव द्वितीयं पादं पुनरावर्त्य अवशिष्टपादद्वयेन अन्या ककुभमिति ।**'

इसका तात्पर्य यह है कि रथन्तर और बृहत्साम ककुप् छन्द है उत्तर जिन का, ऐसा गान करे । [रथन्तर और बृहत् प्रगाथ में दो-दो ऋचाएं हैं, प्रथमा बृहती और उत्तरा सतोबृहती । इनकी तीन ऋचाएं बनानी हैं] प्रथमा बृहती सिद्ध है । उसके चतुर्थ पाद [रथन्तर बृहती के] **ईशानमिन्द्र तस्थुषः** और [बृहत् साम की बृहती के चतुर्थ पाद] **नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः** का पुनः आवर्तन करके उसे उत्तरसतोबृहती (४० अक्षर) के विष्टारपंक्तिछन्दस्क दो पादों के साथ जोड़कर एक ककुप् [८+२०=२८] बनावे । तदनन्तर सतोबृहती के द्वितीय पाद का पुनः आवर्तन करके दूसरी ककुप् बनावे । इस प्रकार ककुप् उत्तर रथन्तर की तीन ऋचाएं इस प्रकार होंगी—

रथन्तर साम के प्रगाथ की दो ऋचाएं पूर्व पृष्ठ २४५५ पर देखें । बृहत्साम के प्रगाथ की दो ऋचायें भी पृष्ठ २४५५ पर देखें—

रथन्तर ककुभ् उत्तर—

१. **अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।**
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥

२. **ईशानमिन्द्र तस्थुषः ।**
न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ॥

३. **न जातो न जनिष्यते ।**
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥

बृहत्साम ककुभ् उत्तर—

१. **त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः ।**
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः ॥

२. नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः ।
स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया मह स्तवानो अद्रिवः ॥

३. मह स्तवानो अद्रिवः ।
गामश्वं रथ्यमिन्द्र सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे ॥

अब विचारने का विषय है कि सायणाचार्य ने रथन्तर और बृहत्साम के ककुबुत्तर बनाने में जो प्रथम ऋचा के चतुर्थपाद और द्वितीय ऋचा के द्वितीयपाद के पुनः पाठ का निर्देश किया है, वैसा ही निर्देश आश्वलायनश्रौत ५।५ में ककुबाकार रथन्तर और बृहत् के शंसन में किया है--**तां द्वे तिस्रस्कारं शंसेत् । चतुर्थषष्ठौ पादौ बार्हते प्रगाथे पुनरभ्यासित्वोत्तरयोरवस्येत् ।** ५।५।४-५॥ अर्थात् उक्त द्वृच प्रगाथ को तीन बनाकर शंसन करे। बार्हत प्रगाथ में चतुर्थ (=द्वृच की प्रथमा ऋक् का चौथा) पाद और षष्ठ (=द्वृच की दृष्टि से, अर्थात् दूसरी ऋचा का दूसरा) पाद का पुनः अभ्यास करे। **बृहतीकारं चेत्तावेव द्विः** (५।५।६)। यदि बृहतीकार (=उत्तर ऋचों की बृहती बनाकर) शंसन करना होवे तो उन्हीं (चतुर्थ षष्ठ) पादों को दो-दो बार अभ्यास करे। इस प्रकार चतुर्थ और षष्ठ पादों का दो बार अभ्यास करने पर २८ अक्षर के पूर्व निष्पादित ककुप् छन्द में ८ अक्षरों की वृद्धि से ३८ अक्षरोंवाला बृहती छन्द बन जायेगा। इस प्रकार ककुबुत्तर तीन ऋचा बनाने में जब चतुर्थ पाद का अभ्यास करना है और बृहतीकार में उसी चतुर्थ पाद का दो बार अभ्यास करना है तो **उत्तरयोर्द्व्यक्षरेण** की व्याख्या में चतुर्थ पाद **ईशानमिन्द्र तस्थुषः** दूसरी ऋचा का प्रथम पाद होगा न कि **ईशानमस्य जगतः** तृतीय पाद।

एकावास्योत्तमा स्तोत्रीया—इत्यादि वचन का मूलस्थल ज्ञात न होने से हम व्याख्या करने में असमर्थ हैं।

भट्ट कुमारिल ने '**पादप्रगीतेषु**' इत्यादि '**गोष्ठो वसिष्ठः**' इत्यन्त भाष्यकार के वचन को अयुक्त कहा है। कैसे? ऋक् में ही ये [गोष्ठ और वसिष्ठ] साम उत्पन्न हुए हैं, पाद में उत्पन्न नहीं हुए। सभी पदों में गीति समान है। इस से लाघव से तीनों पादों में नहीं गाया जाता है। जैसे '**तेभ्यो दशप्राचीः**' इस मन्त्र में। और भी पादोत्पन्न गीति का पाद में ही प्रयोग छान्दोग्य ऊहग्रन्थ में देखा जाता है।

अनवानोपदेशश्च तद्वत् ॥१९॥

सूत्रार्थः—(अनवानोपदेशः) 'विना श्वास लिये गान करे' यह उपदेश=कथन (च) भी (तद्वत्) उसी स्थिति में उपपन्न हो सकता है जैसा कि पूर्व न्याय कहा है।

विशेष—भाष्यकार ने सूत्रस्थ '**तद्वत्**' पद का अभिप्राय पूर्व जो 'प्रति ऋक् गान पूर्ण करना चाहिये' न्याय दर्शाया है, उसको दृष्टि में रखकर व्यक्त किया है। कुतूहलवृत्तिकार

अनवानोपदेशश्च तद्वद् युक्तो भविष्यति । यथाऽस्माभिर्न्याय उपदिष्टः। 'अनवानं गायति' इति, शक्यतेऽनवानं प्रत्यृचं परिसमापयितुम्। न तु तिसृषु व्यासज्य शक्यते। अपि च, स्वाध्यायकाले प्रत्यृचं गानं परिसमापितम्। स्वाध्यायकाले चाभ्यासः, प्रयोगकाले कथं प्राशुना स्यादिति। तद्यदि प्रयोगकाले प्रत्यृचं गानं कर्तव्यं, ततः स्वाध्यायकाले तदभ्यासो युक्तः। तस्मादपि प्रत्यृचं गेयमिति ॥१९॥

अभ्यासेनेतरा श्रुतिः ॥२०॥

अथ यदुक्तं, तस्मादेकं साम तृचे क्रियत इति। तास्वभ्यासेनेतरा श्रुतिर्द्रष्ट-

---

ने 'तद्वान्' को 'स्वाध्यायकालवत् प्रति ऋक् गान पूर्ण करना चाहिये तभी अनवानोपदेश युक्त होगा' ऐसा सम्बन्ध व्यक्त किया है। भाष्यकार ने भी सूत्रव्याख्या के अन्त में 'स्वाध्यायकालवत्' अभिप्राय का संग्रह भी उत्सूत्र संगृहीत किया है।

व्याख्या—अनवानोपदेश (=विना श्वास लिये गान का विधान) भी उसी अवस्था में युक्त होगा, जैसा कि हमने पूर्व न्याय कहा है। अनवानं गायति (=विना श्वास लिये गाता है) यह अनवानता है जब प्रति ऋक् साम समाप्त करने पर ही सम्भव हो सकता है। तीन ऋचाओं में बांटकर अनवान गान सम्भव नहीं है। और भी, स्वाध्यायकाल में प्रति ऋक् गान समाप्त किया है। स्वाध्यायकाल में अभ्यास प्रयोग काल में किस प्रकार शीघ्रता होवे [के लिये है]। तो यदि प्रयोग काल में प्रति ऋक् गान करणीय है तभी स्वाध्याय काल में उसका अभ्यास युक्त है। इससे भी प्रति ऋक् गान करना चाहिये।

विवरण—शक्यतेऽनवानं प्रत्यृचम्—इसका तात्पर्य यह है कि एक ऋचा में तो विना श्वास लिये गान सम्भव है। तीन ऋचाओं में एक साम का गान विना श्वास लिये उपपन्न ही नहीं हो सकता ॥१९॥

अभ्यासेनेतरा श्रुतिः ॥२०॥

सूत्रार्थः—जो कहा है कि एक साम तीन ऋचाओं में गाना चाहिये (अभ्यासेन) अभ्यास के द्वारा (इतरा) अन्य (श्रुतिः) श्रुति जाननी चाहिये अर्थात् एक ही साम का पर्याय से तीनों ऋचाओं में गान करना चाहिये।

व्याख्या—जो यह कहा है—तस्मादेकं साम तृचे क्रियते (=एक साम तृच में गान

---

१. 'गायत्री' इति पुणेसंस्करणे पाठः। इयं पाठमाश्रित्यैव यो मीमांसोद्धरणकोशकर्त्रा आकरस्थाननिर्देशः कृतः, सोऽपि काल्पनिक एव। न तत्र तादृक् तदर्थकश्च पाठ उपलभ्यते। अस्मदाचार्यवर्यैः 'अनवानं गायति' इत्येव पाठोऽस्मभ्यं पाठितः। तुलना कार्या—'अनवानता यष्टव्यम्' मी० भा० ३।५।४५ उद्धृतपाठेन। अपि च गायत्रीति पाठे उभयोः पादयोर्लिङ्गभेदोऽपि अनन्वित एव भवति।

व्या। पर्यायेणेत्यर्थः। न ह्यत्र ऋक् सामनिर्वृत्त्यर्थमुपादीयते। तस्मान्न शक्यमिदं वक्तुम्। सामनिर्वृत्तिसाधनीभूतामृचं त्रिशब्दः परिच्छेत्स्यतीति। साम स्तोत्रस्य गुणभूतं निर्दिश्यते। रथंतरं पृष्ठं भवति, बृहत् पृष्ठं भवतीत्येवमादि। तत्र प्रत्यृचं न्यायेन गानं प्राप्तं, न सामनिर्वृत्त्या संख्या संबध्यते। किं तर्हि? ऋग्भिः। तत्रान्यथा नावकल्पत इत्यभ्यासो लक्ष्यते। तिसृष्वभ्यसितव्यं सामेति। यथा त्रिषु कुलेषु देवदत्तो भोजयितव्य इति। यदा त्रिसंख्या कुलैः संबध्यते, तदाऽभ्यासो लक्ष्यते। एवमिहापि द्रष्टव्यम्। तस्मात् प्रत्यृचं परिसमाप्तं गानं कर्तव्यमिति ॥२०॥

—:०:—

[समानछन्दस्कास्वेव तिसृषु ऋक्षु गानाधिकरणम् ॥४॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमः—**ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत** इति। तत्रैतत्समाम्नायते—**तस्मादेकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रीयम्** इति। तत्रैतत् समधिगतम्। प्रत्यृचं परिसमाप्तं गेयमिति। इदमन्यत्सांशयिकं, समासु विषमासु वा गेयमुत समास्वेवेति। किं तावन्नः प्रतिभाति? नियामकस्य शास्त्रस्याभावादनियम इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

किया जाता है)। उन में अभ्यास से अन्य श्रुति जाननी चाहिये अर्थात् पर्याय से [गान होता है]। यहां ऋक् साम की निर्वृत्ति (=सिद्धि) के लिये ग्रहण नहीं की है। इससे यह नहीं कह सकते हैं। साम की निवृत्ति की साधनीभूत ऋक् का 'त्रि' शब्द परिच्छेद (=परिच्छिन्न) करेगा। साम स्तोत्र का गुणभूत निर्दिष्ट है। रथन्तरं पृष्ठं भवति बृहत्पृष्ठं भवति इत्यादि। ऐसी स्थिति में प्रति ऋक् न्याय से गान प्राप्त है, साम की सिद्धि के लिये 'त्रि' संख्या सम्बद्ध नहीं है। तो कैसे सम्बद्ध है? ऋचाओं से। वह [प्रति ऋक् एक साम] सम्भव नहीं, इससे अभ्यास लक्षित होता है। तीन ऋचाओं में साम का अभ्यास करना चाहिये। जैसे तीन कुलों में देवदत्त को भोजन कराओ। जब 'त्रि' संख्या कुलों के साथ संबद्ध होती है तब अभ्यास लक्षित होता है। इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये। इसलिये प्रति ऋक् परिसमाप्त गान करना चाहिये ॥२०॥

—:०:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम है—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत (=ज्योतिष्टोम से स्वर्ग की कामनावाला यजन करे)। वहां यह पढ़ा है—एकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रियम् (=एक साम तीन ऋचाओं में स्तोत्रिय होता है)। 'इस विषय में यह जाना गया कि प्रति ऋक् गान समाप्त करना चाहिये। यह अन्य सांशयिक है—क्या समान अक्षरोंवाली ऋचा में गान करना चाहिये या विषमाक्षरों में अथवा समानाक्षरों में ही? तो क्या प्रतीति होती है? नियामक शास्त्र के अभाव में अनियम प्राप्त होता है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

तदभ्यासः समासु स्यात् ॥२१॥ (उ०)

समास्वेव गेयं, न नानाछन्दस्कास्विति । किमेवं भविष्यति ? गीतेः संशरविलेशी न भविष्यतः । यदि न्यूनच्छन्दस्का ऋच उपादास्यामहे गीतिं संशृणीयाम । अथ, अधिकच्छन्दस्काः, ततो गीतिं विलेशयाम । उभयथा चाऽऽर्षं बाधेमहि । समासु तूपादीयमानासु न किंचिद् दुष्यति । तस्मात्समासु गानं कर्तव्यमिति । अपि च, त्रिशब्दोपचारः समासु युक्तो भविष्यति । समाने हि कस्मिंश्चिदाश्रीयमाणे संख्याव्यवहारो भवति ॥२१॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२२॥

लिङ्गं खल्वप्यस्मिन्नर्थे पश्यामः । स्थाल्यां सक्तवधीयत इत्याहुः, यद् बृहद्गायत्रीषु क्रियते, ऋक्त्वेनान्तरुजतीति, न चास्यां संभवतीति विच्छन्दस्कासु दोषं ब्रुवन् समानच्छन्दस्कासु गानं दर्शयति ॥२२॥

—:०:—

तदभ्यासः समासु स्यात् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(तदभ्यासः) उस साम का अभ्यास (समासु) समानाक्षरवाली ऋचाओं में ही (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—समानाक्षरोंवाली ऋचाओं में ही गान करना चाहिये, विभिन्न छन्द वालियों में नहीं । ऐसा करने से क्या होगा ? गीति का संशर और विलेश नहीं होगा । यदि न्यून छन्दवाली ऋचा को ग्रहण करते हैं तो गीति [के कुछ भाग को] छोड़ेंगे [गेय अक्षर न्यून होने से] । और यदि अधिक छन्दवाली ग्रहण करेंगे तो गान को विश्लेषित (=बढ़ाना) होगा । दोनों प्रकार से आर्ष की बाधा करेंगे । समान छन्दवाली के ग्रहण करने में कुछ भी दोष नहीं आता । इसलिये समानछन्दस्काओं में गान करना चाहिये । और भी, त्रि शब्द का व्यवहार समानछन्दस्काओं में ही युक्त होता है । किसी समान वस्तु के आश्रय करने पर ही संख्या का व्यवहार होता है ॥२१॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२२॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से (च) भी समानछन्दस्क ऋचाओं में गान होता है ।

व्याख्या—लिङ्ग का दर्शन भी इस अर्थ में देखा जाता है । स्थाली में सत्तु रखा जाता है, ऐसा कहा जाता है । यदि बृहत् गायत्री में किया जाता है तो ऋक्त्व रूप से उसको रुग्ण करता है । अन्दर इसमें संभावना नहीं होती है, अतः विछन्दस्काओं में दोष कहते हुए समानछन्दस्का ऋचाओं में गान करता है, ऐसा दर्शाता है ।

[उत्तराशब्देनोत्तराग्रन्थपठितानामेव ऋचामुपादानाधिकरणम् ॥५॥]

ज्योतिष्टोमे समामनन्ति—रथंतरमुत्तरयोर्गायति, बृहदुत्तरयोर्गायति, कवतीषु रथंतरं गायति, यद्योन्यां गायति, तदुत्तरयोर्गायति इति। तत्रैतत्समधिगतम्। समासु गेयमिति। अथेदानीमिदं संदिह्यते—किं योन्युत्तरयोर्वा, उत्तराग्रन्थसमधिगतयोर्वा गेयमुतोत्तराग्रन्थसमधीते एव उपादातव्ये इति? किं प्राप्तम्? नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादनियम इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

नैमित्तिकं तूत्तरात्वमानन्तर्यात् प्रतीयेत ॥२३॥ (उ०)

नैमित्तिकं तूत्तरात्वमुत्तराग्रन्थसमधीतासूपपद्यत इति। कुतः? समाख्यानात्।

विवरण—बृहत्साम यदि गायत्री में गाया जाता है तो ऋक् रूप से उस को अन्दर रुग्ण करता है, क्योंकि बृहच्छन्दवाले साम का गायत्रीछन्दस्का में गान नहीं हो सकता, उसका कुछ भाग छोड़ना पड़ता है ॥२२॥

—:०:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में पढ़ते हैं—रथन्तरमुत्तरयोर्गायति (=रथन्तर साम को उत्तर दो ऋचाओं में गाता है), बृहदुत्तरयोर्गायति (=बृहत् साम को दो उत्तरा ऋचाओं में गाता है), कवतीषु रथन्तरं गायति (='क' वाली='कस्त्वा' आदि ऋचाओं में रथन्तर का गान करता है), यद्योन्यां गायति तदुत्तरयोर्गायति (=जिस योनि में गाता है, उससे उत्तर दो ऋचाओं में गाता है)। वहां यह जाना गया है कि समानछन्दस्का ऋचाओं में गान करना चाहिये। अब यह सन्देह होता है कि क्या योनि में वा उससे उत्तरा ऋचाओं में गाता है। उत्तरा नामक ग्रन्थ समधिगतों में गेय है, उत्तरा ग्रन्थ में अधीत ही उपादेय हैं? क्या प्राप्त होता है? नियमकारी शास्त्र के अभाव में अनियम है।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—सामगों की संहिता में दो भाग हैं—छन्द और उत्तरा ग्रन्थ। छन्दोग्रन्थ में योनिभूत ऋचाएं ही पठित हैं। उत्तरा ग्रन्थ में सूक्त पठित हैं (सुबोधिनी)। प्रश्न यह है कि जिस योनि ऋक् में गान किया है, उससे उत्तरा ऋचाओं में गान करना चाहिये या उत्तरा ग्रन्थ की किन्हीं भी ऋचाओं में गेय है।

नैमित्तिकं तूत्तरात्वमानन्तर्यात् प्रतीयेत ॥२३॥

सूत्रार्थः—(नैमित्तिकम्) नैमित्तिक (तु) तो (उत्तरात्वम्) उत्तरा ग्रन्थ समधीत ऋचाओं को जाने (आनन्तर्यात् प्रतीयेत) उत्तरा ग्रन्थ समाख्या होने से।

व्याख्या—नैमित्तिक तो उत्तराग्रन्थ अधीताओं में उपपन्न होवे। किस हेतु से?

प्रकृतत्वाच्चोत्तराग्रन्थाधीतानाम्[1]। आह। द्वाभ्यामपि समाख्याप्रकरणाभ्यां वाक्यं बलीयः। तस्मादनियम एव प्राप्नोति। अत्रोच्यते। सर्वे हि संबन्धिशब्दाः पदान्तरमनपेक्षमाणा न कंचिदप्यर्थमाहुः। तस्मादपेक्षितं पदान्तरं, तत्प्रकृतं संनिहितं वा। इतरथाऽपरिपूर्णार्थं वाक्यमनभिधायकमेव कस्यचिदर्थस्य स्यात्। संज्ञाग्रहणे[2] पुनर्न पदान्तरमपेक्षते। श्रुत्यैव परिपूर्णार्थो गृह्यते। तस्मान्न संबन्धिशब्दोऽध्यवसानीयः। उत्तरासंज्ञयोपादातव्येति। न हि संज्ञासु गृह्यमाणासु पदान्तरानन्तर्यमपेक्षितव्यं भवति ॥२३॥

ऐकार्थ्याच्च तदभ्यासः ॥२४॥

तास्वेव चोत्तराग्रन्थसमधीतासु सामाभ्यसितव्यम्। एवमेकार्थता तृचशब्दस्य भविष्यति। एकं कंचित्सामान्यविशेषमाश्रित्य तृचशब्दमुपचरन्ति। एतदेवमुक्तम्। यद्विशेषे कस्मिंश्चित्संख्या भवति। इतरथा हि सर्वत्र सर्वसंख्या भवेयुः। तथा हि संव्यवहाराभावः स्यात्। तस्मात्समानच्छन्दस्कासु समानदेवताकासु च तृचशब्दोपचारादुत्तराग्रन्थसमधीता एव ग्रहीतव्या इति ॥२४॥

'उत्तरा' समाख्या होने से। प्रकृतत्व से उत्तराग्रन्थ में अधीत ऋचाओं का ग्रहण होवे। (आक्षेप) दोनों समाख्याप्रकरणों से वाक्य बलवान् है। इससे अनियम ही प्राप्त होता है अर्थात् योनि ऋक् से उत्तरा और उत्तराग्रन्थ पठितों का अनियम प्राप्त होता है। (समाधान) सब सम्बन्धी शब्द पदान्तर की अपेक्षा करते हुए किसी भी अर्थ को नहीं कहेंगे। इससे अपेक्षित है पदान्तर संयोग, वहां उत्तरा संज्ञा कृत है अथवा सन्निहित है। अन्यथा अपरिपूर्ण अर्थ का वाक्य किसी अनभिधायक अर्थ का कहनेवाला होगा। संज्ञा के ग्रहण में पदान्तर की अपेक्षा नहीं रखना। श्रुति से ही परिपूर्ण अर्थवाला होता है—उत्तराग्रन्थ अधीत। इससे सम्बन्धी शब्द अध्यवसानीय (=स्वीकार्य करने योग्य) नहीं होता है। उत्तरा संज्ञा से ही ग्रहण करने योग्य होता है। संज्ञा के ग्रहण करने पर पदान्तर का आनन्तर्य अपेक्षितव्य नहीं होता ॥२३॥

ऐकार्थ्याच्च तदभ्यासः ॥२४॥

सूत्रार्थः—(एकार्थ्यात्) एक अर्थ होने से (च) भी समानछन्दस्काओं में (तदभ्यासः) उस साम का गान करना चाहिये।

व्याख्या—उन्हीं उत्तरा ऋचाओं से समानछन्दस्का पढ़ी हुई ऋचाओं में अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार तृच शब्द की एकार्थता होगी। एक किसी सामान्य विशेष का आश्रयण करके तृच शब्द का व्यवहार करते हैं। वह इस प्रकार से कहा है। जो किसी विशेष में संख्या होती है। अन्यथा सर्वत्र सब संख्याएं होवें। वैसा होने पर संख्या का व्यवहार न होवे। इसलिये समानछन्दस्क ऋचाओं में और समानदेवतावाली ऋचाओं में तृच शब्द का व्यवहार होने से उत्तराग्रन्थ में अधीत ही ग्रहीतव्य हैं ॥२४॥

---

१. 'उत्तराग्रन्थसमधीतानाम्' इति पाठान्तरम्।

२. 'संज्ञासंज्ञिग्रहणे न पुनः' इति पाठान्तरम्।

[अथवा – वैशोकसाम्न उत्तराग्रन्थपठितयोर्बृहत्योरेव गानाधिकरणम् ॥५॥]

एवं वा—

अस्ति द्वादशाहः– **द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्** इति। तत्र चतुर्थेऽहनि त्रैशोकं नाम साम, अतिजगत्यामुत्पन्नम्। अतिजगती—**विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरः सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे। क्रत्वे वरे स्थेमन्यामुरीमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम्।**[1] उत्तरे द्वे बृहत्यौ। तयोः पूर्वा—**नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वरे सुदीतयो वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः**। उत्तरा—**समु रेभासो अस्वरन्निन्द्र सोमस्य पीतये। स्वर्पतिं यदीं वृधे धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभिः**[2] इति। तत्रैषोऽर्थः सांशयिकः—किमन्ये अतिजगत्यावुपादाय समासु गेयमुत ये एव उत्तरे बृहत्यौ, एते एवोपादाय विषमास्वेव गातव्यमिति। किं प्राप्तम्?

व्याख्या—अथवा इस प्रकार—

द्वादशाह क्रतु का विधान किया गया है—द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत् (=द्वादशाह यज्ञ से प्रजाकाम को यजन कराये)। वहां चतुर्थ दिन में अतिजगती (५२ अक्षरोंवाली ऋक्) में उत्पन्न त्रैशोक साम है। अतिजगती– विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरः सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे। क्रत्वे वरे स्थेमन्यामुरीमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम्। उत्तरा दो बृहती (३६ अक्षरों की), उनमें पूर्वा—नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वरे। सुदीतयो वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः॥ उत्तरा—समु रेभासो अस्वरन्निन्द्र सोमस्य पीतये। स्वर्पतिं यदीं वृधे धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभिः। यहां यह अर्थ सांशयिक है– क्या अन्य अतिजगतियों को लेकर सम छन्दोंवाली ऋचाओं में गेय है, अथवा जो दो उत्तर बृहतीछन्दस्का हैं, उन्हें ही लेकर विषमछन्दस्कों में ही गाना चाहिये। क्या प्राप्त होता है?

विवरण—सामवेद में दो भाग हैं—पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। पूर्वभाग में सामों की योनिभूत ऋचाएं पठित हैं और उत्तरार्चिक में योनिभूत ऋक् के आगे दो वा एक ऋक् पठित हैं। जिनमें योनिऋक् में उत्पन्न साम का अभ्यास किया जाता है। योनिऋक् से उत्तर पठित ऋचाएं समछन्दस्का भी हैं और विषमछन्दस्का भी। यदि उत्तर ऋक् छोटे छन्दवाली है तो उसमें गेय साम का कुछ भाग छोड़ना होगा। यह संशर कहाता है। यदि उत्तर ऋक् अधिक अक्षरोंवाली है तो उसमें साम को खींचना पड़ेगा, बढ़ाना पड़ेगा। यह विलेश कहाता है।

---

१. उत्तरा० प्र० १, अर्ध० १, १५।१॥ आहत्य संख्या ६३०।

२. साम० उ० प्र० १, अर्ध १, २, ३। आहत्य संख्या ६३१, २३२।

तदभ्यासः समासु स्यात् ॥२१॥ (पू०)

संशरविलेशौ मा भूताभित्यन्ये उत्पत्तिजगत्यावुपादायैतत्साम समास्वेवाभ्यसितव्यमिति ॥२१॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२२॥

लिङ्गं खल्वप्यस्मिन्नर्थे दर्शयति—अतिजगतीषु स्तुवन्ति' इति । किं लिङ्गम् ? अतिजगतीष्विति बहुवचनम् । तस्मादन्ये अतिजगत्यावुपादातव्ये इति ॥२२॥

नैमित्तिकं तूत्तरात्वमानन्तर्यात् प्रतीयेत ॥२३॥ (उ०)

नैमित्तिकं तूत्तरात्वमानन्यर्यादुत्तरापाठनिमित्तमानन्तर्ये सति प्रतीयेत ।

तदभ्यासः समासु स्यात् ॥२१॥

सूत्रार्थः—अतिजगती में उत्पन्न (तदभ्यासः) त्रैशोक साम का गान (समासु) सम छन्दवाली अन्य दो अति जगतियों में (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—संशर और विलेश न होवें, इससे अन्य जो उत्पत्ति जगती अवस्था में हैं, उन का उपादान करके समछन्दस्क ऋचाओं में ही अभ्यास करना चाहिये ।

विवरण—(द्र०—ताण्ड्य ब्रा० 'त्रैशोकं ब्रह्म साम भवति' ।) प्रकृत में त्रैशोक साम की योनिभूत ऋक् ५२ अक्षरों की अतिजगती है । परन्तु उत्तरार्चिक में इस ऋचा के आगे जो दो ऋचायें पढ़ी गई हैं, वे बृहतीछन्दस्का ३६ अक्षरों की हैं । अत: यह विचार उत्पन्न होता है कि अन्य अतिजगती छन्दवाली ऋचाएं लेकर गान करना चाहिये या विषम छन्दस्काओं में ही ॥२१॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२२॥

सूत्रार्थः—अतिजगतीषु स्तुवन्ति इस (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से (च) भी अन्य अतिजगतियों का उपादान करना चाहिये ।

व्याख्या—इस अर्थ में लिङ्ग भी दर्शाता है—अतिजगतीषु स्तुवन्ति (=अतिजगती में स्तुति करता है) । लिङ्ग क्या है ? अतिजगतीषु यह बहुवचन । इसलिये अन्य अतिजगतियों का उपादान करना चाहिये ॥२२॥

नैमित्तिकं तूत्तरात्वमानन्तर्यात् प्रतीयेत ॥२३॥

सूत्रार्थः—(उत्तरात्वम्) उत्तरा ग्रन्थ में पठित (तु) तो (आनन्तर्यात्) आनन्तर्य होने से (प्रतीयेत) प्रतीत होता है, यह (नैमित्तिकम्) नैमित्तिक है ।

व्याख्या—उत्तरात्व (=उत्तराग्रन्थ में पाठरूप) निमित्त आनन्तर्य होने पर प्रतीत

---

१. ताण्ड्य ब्रा० १२।१०।२२॥

श्रुतिर्हि वाक्याद् बलीयसीति । प्रकृतत्वादुत्तरे बृहत्यावेवमनुग्रहीष्येते । तस्मान्नान्ये आदातव्ये[1] इति ॥२३॥

ऐकार्थ्याच्च तदभ्यासः ॥२४॥

एवं च समानदेवताके त्रैशोके[2] तृच इति तृचशब्दोपचारो युक्तो भविष्यति। तस्मादपि नान्ये उपादातव्ये इति । अत्राऽऽह । अथ यदुक्तम्—अतिजगतीषु स्तुवन्ति इति, शब्दोपचारादतिजगतीबहुत्वं दर्शयतीति । तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते । तदभ्यास एव द्रष्टव्यः । षोडश्यभ्यासः—**एकविंशः षोडशी**[3] इति, एकविंशतिकृत्वः षोडशिन्यभ्यस्यमाने त्रैशोकाभ्यासः । तत्र सप्तकृत्वोऽतिजगत्यामभ्यस्यमानाया-**मतिजगतीषु स्तुवन्ति** इति वचनमुपपत्स्यत इति ॥२४॥

—:०:—

होता है । श्रुति हि वाक्य से बलवान् होती है । प्रकृत होने से उत्तरबृहतीछन्दस्कों का ही अनुग्रह होगा । इससे अन्य अतिजगतियों का आदान नहीं करना चाहिये ॥२३॥

ऐकार्थ्याच्च तदभ्यासः ॥२४॥

सूत्रार्थः—इस प्रकार (ऐकार्थ्यात्) एक देवतावाले होने से (तदभ्यासः) तृच इस शब्द का कथन (च) भी युक्त होगा । इस से भी अन्यों का उपादान नहीं करना चाहिये ।

व्याख्या—इस प्रकार समान देवतावाले त्रैशोक में 'तृच' इस शब्द का उपचार युक्त होगा । इस से भी अन्य का उपादान नहीं करना चाहिये । (आक्षेप) जो यह कहा—अतिजगतीषु स्तुवन्ति । शब्दोपचार से अतिजगतीबहुत्व दिखाता है, उसका परिहार करो । (समाधान) इस विषय में कहते हैं—उस का अभ्यास ही द्रष्टव्य है । षोडशी में अभ्यास है—एकविंश षोडशी है । एकविंशति वार षोडशी में अभ्यास करने से त्रैशोक का अभ्यास होगा । वहां सात बार अतिजगती में अभ्यास करने पर अतिजगतीषु स्तुवन्ति यह अभ्यास वचन उपपन्न होगा ॥२४॥

विवरण—'एकविंशः षोडशी' इस वचन से वा षोडशीसंज्ञक ग्रहः में सब स्तोत्रों को २१ बार अभ्यास कहा है । वहां तीन ऋचाओं में सात बार अभ्यास से त्रैशोकसाम की योनिभूत अतिजगती ऋचा का भी अभ्यासकृत सप्तसंख्या होने से अतिजगतीषु स्तुवन्ति यह बहुत्व वचन उपपन्न हो जायगा । इसलिये उतरा ग्रन्थ में दो बृहतीऋचाओं का पाठ होने से उन्हीं में संशय दोष को सहकर विषमछन्दस्का में ही गान होगा ॥२४॥

—:०:—

---

१. 'उपादातव्ये' इति पाठान्तरम् ।

२. 'त्रैशोके तृचशब्दोपचारो भविष्यति' इति पाठान्तरम् ।

३. अनुपलब्धमूलम् ।

[बृहद्रथंतरयोः स्वयोन्युत्तराप्रग्रथनेन संपादितककुभोरेव गानाधिकरणम् ॥६॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते— **बृहद् पृष्ठं भवति, रथन्तरं पृष्ठं भवति** इति । रथंतरस्य योनिर्बृहती—**अभि त्वा शूर नोनुमो दुग्धा इव धेनवः । ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ।** उत्तरा पङ्क्तिः—**न त्वावान् अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते । अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ।** बृहतो योनिर्बृहत्येव—**त्वामिद्धि हवामहे साता वाजस्य कारवः । त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः ।** उत्तरा पङ्क्तिरेव—**स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया महःस्तवानो अद्रिवः । गामश्वं रथ्यमिन्द्र संकिर सत्रा वाजं न जिग्युषे** इति । तयोर्वैच्छन्दस्कं गानमाम्नायते—**न वै बृहद्रथंतरमेकच्छन्दो यत्तयोः[1] पूर्वा बृहती ककुभावुत्तरे** इति ।

तत्रायमर्थः सांशयिकः । किमन्ये उत्पत्तिककुभावागमय्य गातव्यमुत याऽसौ पूर्वा बृहती, उत्तरा च पङ्क्तिस्तयोः प्रग्रथनेन तृचकर्म कृत्वा ककुबुत्तराकारं[2] गानं कर्तव्यमिति ? किं प्राप्तम् ? उत्पत्तिककुभावागमयितव्ये इति । कुतः ? एवम-

---

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में सुना जाता है—बृहत्पृष्ठं भवति, रथन्तरं पृष्ठं भवति (=बृहत्पृष्ठ होता है अथवा रथन्तर पृष्ठ होता है) । रथन्तर की योनि बृहती (३६ अक्षर)—अभित्वा शूर नोनुमो दुग्धा इव धेनवः । ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ उत्तरा पङ्क्ति (४० अक्षर)—न त्वावान् अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते । अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥ बृहत्साम की योनि बृहती ही है—त्वामिद्धि हवामहे साता वाजस्य कारवः । त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः । उत्तरा पङ्क्ति ही है—स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया महःस्तवानो अद्रिवः । गामश्वं रथ्यमिन्द्र संकिर सत्रा वाजं न जिग्युषे । उनमें भिन्न छन्द का गान आम्नात है—न वै बृहद्रथंतरमेकच्छन्दो यत्तयोः पूर्वा बृहती ककुभावुत्तरे ।

विवरण—उत्तरा पङ्क्तिः—इसका विशेष नामकरण सतोबृहती है । इसीलिये मुद्रित ग्रन्थों में जहां बार्हत प्रगाथ होता है, वहां प्रथमा ऋक् बृहतीछन्दस्का और द्वितीया सतोबृहतीछन्दस्का लिखा जाता है । ककुप् छन्द में क्रमशः पादाक्षरसंख्या ८+१२+८=२८ होती है ।

व्याख्या—यहां यह अर्थ सांशयिक है कि क्या अन्य उत्पत्ति अवस्थावाली ककुभों का आगमन करके गान करना चाहिये अथवा जो पूर्वा बृहती है और उत्तरा पङ्क्ति, उनके प्रग्रथन से तृच कर्म करके ककुभ् उत्तराकार गान करना चाहिये ? क्या प्राप्त होता है ? उत्पत्ति

---

१. 'यच्चैतयोः' इति पाठान्तरम् ।

२. 'ककुभावुत्तराकारं' इति पाठान्तरम् ।

न्यासां ककुभामुत्पत्तिरर्थवती भविष्यति, यदि ताः ककुप्कार्ये प्रयुज्यते। आह। ननु वाचस्तोमे तासामर्थवत्ता भविष्यति। उच्यते। सत्यमर्थवत्ता तत्र भविष्यति। ककुप्कार्यार्थिताऽपि तु गम्यते। सा नापह्नोतव्येति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

प्रागाथिकं तु ॥२५॥ (उ०)

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। प्रागाथिकं सामगानं कर्तव्यमिति। याऽसौ पूर्वा बृहती, उत्तरा च पङ्क्तिस्तयोः प्रग्रथनं कर्तव्यम्। एवं हि स्मरन्ति—**काकुभः प्रगाथः** इति। आह। ननु ककुभि अनाद्यायां काकुभ इति न प्राप्नोतीति। उच्यते **तस्येदम्** इति, **तत्र भवः** इति वा, न दोषः ॥२५॥

ककुभों का आगमन करना चाहिये। किस हेतु से? इस प्रकार अन्य ककुभों की अर्थवत्ता होगी, यदि वे ककुप्कार्य में प्रयुक्त होती हैं। (आक्षेप) वाचस्तोम में उनकी अर्थवत्ता होगी। (समाधान) सत्य है, वहां (वाचस्तोम में) अर्थवत्ता होगी। ककुप् कार्यार्थिता भी तो **गम्यमान होती है। उसे नहीं भुठलाना चाहिए। अर्थात् ककुप् छन्द होने से ककुप् कार्य तो करना ही चाहिये।**

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—इस सूत्र के भाष्य में जिन बृहत् साम और रथन्तर साम की ऋचाओं का उल्लेख है, उस विषय में पूर्व मी० ९।२।१९ के भाष्य का विवरण पृष्ठ २४५४ देखना चाहिये। वहां बृहती आकार का निर्देश है, यहां ककुभाकार। इस विषय में आगे देखें। **वाचस्तोमे**—आप० श्रौत २२।५।१-३ तक तीन वाचस्तोमों का उल्लेख है। वाचस्तोम में विधान है—**तस्मिन् सर्वा ऋचः सर्वाणि सामानि सर्वाणि यजूंषि प्रयुज्यन्ते** (वही आप०) इस विषय में विशेष मीमांसा व्याख्या भाग २ (२।१।२३) पृष्ठ ४०० का विवरण देखें।

प्रागाथिकं तु ॥२५॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द 'अन्य ककुप् लाकर गान करना चाहिये' इस पक्ष को निवृत करता है। (प्रागाथिकम्) प्रागाथिक साम का गान करना चाहिये।

व्याख्या—'तु' शब्द पक्ष को निवृत्त करता है। प्रागाथिक सामगान करना चाहिये। जो पूर्वा बृहती और उत्तरा पङ्क्ति छन्द है, उनका प्रग्रथन करना चाहिये। ऐसा स्मरण करते हैं—काकुभः प्रगाथः (=काकुभ प्रगाथ है)। (आक्षेप) ककुभ् के आदि में न होने से 'काकुभ' यह प्रयोग प्राप्त नहीं होता। (समाधान) यहां तस्येदम् (पा० ४।३।१२०) से अथवा तत्र भवः (पा० ४।३।१५३) से [अण् प्रत्यय हो जायेगा अतः] कोई दोष नहीं है ॥२५॥

विवरण—ककुभि अनाद्यायां काकुभः—प्रगाथों के नामकरण के लिये पाणिनीय सूत्र है—**सोऽस्यादिरिति छन्दसः प्रगाथेषु** (अष्टा० ४।२।५४) अर्थात् जो छन्द आदि में होता है,

स्वे च ॥२६॥

एवं च, स्वे छन्दसि गानं कृतं भवति। उत्तरापाठेन ह्यत्रैषा पङ्क्तिरुपदर्शिता तृचकर्मणि। तत्र प्रकृतहानमप्रकृतप्रक्रिया च न कृता भविष्यति। तस्मादपि तयो: प्रग्रथनं कर्तव्यमिति ॥२६॥

प्रगाथे च ॥२७॥

एवं चात्र प्रगाथशब्द उपपन्नो भवति। प्रकर्षं हि प्रशब्दो द्योतयति। प्रकर्षेण यत्र गानं स प्रगाथ:। कश्च प्रकर्ष:? यत्किंचित्पुनर्गायति। तस्मादपि प्रकृतयो: प्रग्रथनं कर्तव्यमिति ॥२७।

लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकाच्च ॥२८॥

उससे यथाविहित प्रत्यय होकर प्रगाथ का नामकरण होता है। यहां दोनों सामों में ककुभ् छन्दस्का आदि में न होने से काकुभ: प्रगाथ: प्रयोग उपपन्न नहीं होता। अत: भाष्यकार ने तस्येदम् अथवा तत्र भव: नियमों का आश्रय लिया है। वस्तुत: पाणिनीय सूत्र दिशा-निर्देशक है अथवा प्रायिक। ऋक्प्रातिशाख्य में अनेकविध प्रगाथों का उल्लेख किया है। द्र०—हमारी 'वैदिक-स्वर-मीमांसा' प्रगाथ प्रकरण। भट्ट कुमारिल ने टुप्टीका में लिखा है—एवं हि स्मरन्ति काकुभ: प्रगाथ:—यह अयुक्त है। छन्दोगों (सामवेदियों) के द्वारा 'बार्हत' प्रगाथ ही स्मरण किया जाता है। अत: आक्षेप और परिहार दोनों ही भ्रान्तिमूलक हैं ॥२५॥

स्वे च ॥२६॥

सूत्रार्थ:—इस प्रकार (स्वे) अपने छन्द में (च) ही गान होता है।

व्याख्या—इस प्रकार स्वछन्द में गान उपपन्न होता है। उत्तरा पाठ से ही यहां यह पङ्क्ति उपदर्शित है तृच कर्म के लिये। ऐसा करने पर प्रकृत का परित्याग और अप्रकृत की प्रक्रिया नहीं करनी पड़ती। इससे भी उनका प्रग्रथन करना चाहिये ॥२६॥

प्रगाथे च ॥२७॥

सूत्रार्थ:—(प्रगाथे) प्रगाथ में=प्रकर्ष गान में ऋग्वर्णों के पुनर्ग्रहण में (च) ही प्रगाथ शब्द उपपन्न होता है।

विशेष—कुतूहलवृत्तिकार ने २५-२६-२७ सूत्रों को मिलाकर प्रागाथिकं तु स्वे प्रगाथे एक सूत्र मानकर व्याख्या की है।

व्याख्या—इस प्रकार यहां प्रगाथ शब्द उपपन्न होता है। प्रकर्ष अर्थ को ही 'प्र' शब्द द्योतित करना है। प्रकर्ष रूप से जहां गान हो, वह प्रगाथ कहाता है। यहां प्रकर्ष क्या है? जो कुछ भाग को पुन: गान करता है। इससे भी प्रकृत ऋचाओं का ही प्रग्रथन करना चाहिये ॥२७॥

लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकाच्च ॥२८॥

अव्यतिरेकेण च सर्वत्र लिङ्गं दर्शयति—**कथमिदमव्यतिरेकेण**[1] इति। यत्प्रकृतयोरेव प्रग्रथनमुपपद्यते, न प्रकृतव्यतिरेकेणेति। किं लिङ्गं भवति? एवमाह—**एषा वै प्रतिष्ठिता बृहती या पुनःपदा। तद्यत्पादं पुनरारभते तस्माद्वत्सो मातरमभि हिंकरोति**[2] इति। पुनःपादारम्भः प्रग्रथन उपपद्यते, नान्यथा। तस्माद्याऽसौ पूर्वा बृहती, उत्तरा च पङ्क्तिः, तयोः प्रग्रथनेन तृचकर्म कृत्वा ककुबुत्तराकारं गानं कर्तव्यमिति ॥२८॥

[अथवा—बृहतीविष्टारपङ्क्त्योरेव प्रग्रथनेन संपादिते बार्हते तृचे रौरवयौधाजयसाम्नोर्गानाधिकरणम् ॥६॥]

एवं वा—

अस्ति ज्योतिष्टोमः—**ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत** इति। तत्र त्रिच्छन्दा आवापो माध्यंदिनः पवमानः पञ्चसामा। गायत्रामहीयवे गायत्रे तृचे भवतः,

---

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकात्) लिङ्गदर्शन के अव्यतिरेक से (च) भी प्रकृत ऋचाओं का प्रग्रथन होता है।

व्याख्या—विना व्यतिरेक के सर्वत्र लिङ्ग दर्शाता है। यह अव्यतिरेक से कैसे है? जो प्रकृत ऋचाओं का ही प्रग्रथन उपपन्न होता है, प्रकृत से भिन्न का नहीं। लिङ्ग क्या होता है? ऐसा कहा है—एषा वै प्रतिष्ठिता बृहती या पुनःपदा (=वह बृहती प्रतिष्ठित है जो पुनःपदा होती है)। तद्यत् पादं पुनरारभते तस्माद् वत्सो मातरमभि हिंकरोति (=जो यह पाद को पुनः आरम्भ करता है, इससे वत्स माता=धेनु के प्रति शब्द करता है)। पुनः पाद का आरम्भ प्रग्रथन होता है। इसके विना प्रग्रथन नहीं होता। इससे जो पूर्वा बृहती और उत्तरा पङ्क्ति, उनके प्रग्रथन से तृच कर्म करके ककुबुत्तराकार रूप गान करना चाहिये ॥२८॥

विवरण—प्रगाथ छन्दों में उत्तरार्चिक में पठित बृहती और सतोबृहती छन्दोंवाली दो ऋचाओं को तीन ऋचा बनाकर शंसन वा स्तवन किया जाता है। दो ऋचाओं को तीन ऋचाएं बनाने के भी दो प्रकार हैं। जिन्हें ककुप्कार और बृहतीकार कहा जाता है। बृहतीकार की तीन ऋचाएं कैसे सम्पन्न की जाती हैं, इसका निदर्शन पूर्व कराया जा चुका है।२८।

व्याख्या—अथवा इस प्रकार अधिकरण जानना चाहिये।

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में कहा है—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत (=ज्योतिष्टोम से स्वर्ग की कामनावाला यजन करे)। वहां तीन छन्दवाला आवाप माध्यन्दिन पवमान पांच सामोंवाला है। 'गायत्रामहीयवे' रूप दो गायत्र तृच में होता है, रौरव यौधाजय

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

२. द्र०—ताण्ड्यब्राह्मण १७।१।१३॥ तत्र '**वत्सो मातरमभ्येति**' पाठः।

रोरवयौधाजये बार्हते तृचे, औशनमन्त्यं त्रिष्टुप्स्विति । यदेतद्रौरवं यौधाजयं च द्वे सामनी, तयोः पूर्वा बृहती—**पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि । आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देव हिरण्ययः ।** उत्तरा विष्टारपङ्क्तिः—**दुहान ऊधर्दिव्यं मधुप्रियं प्रत्नं सधस्थमासदत् । आपृच्छ्यं धरुणं वाज्यर्षति नृभिर्धूतो विचक्षणः ।** तदत्र संशयः—किमन्ययोरुत्पत्तिबृहत्योरागमं कृत्वा समासु गानं कर्तव्यमुत याऽसौ पूर्वा बृहती, उत्तरा च विष्टारपङ्क्तिस्तयोः प्रग्रथनेन तृचकर्मं कृत्वा बृहतीकारं गानं कर्तव्यमिति । किं प्राप्तम् ? अन्ये बृहत्यावागमयितव्ये इति । कुतः ? एवमृचामुत्पत्तिरर्थवती भविष्यतीति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

प्रागाथिकं तु ॥२५॥

प्रागाथिकं तु । तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । प्रागाथिकं सामगानं कर्तव्यं, नोत्पत्तिबृहत्यावागमयितव्ये । प्रकृतयोरेव प्रग्रथनं कर्तव्यम् । एवं हि स्मरन्ति—**बार्हतः प्रगाथ इति ।** उत्पत्तिबृहत्योरानीयमानयोः प्रगाथो न स्यात् । तत्र स्मृतिर्बाध्येत । तस्मात्प्रकृतयोः प्रग्रथनं कर्तव्यमिति ॥२५॥

दो साम बार्हत तृच में, अन्त्य औशनस साम त्रिष्टुप् तृच में । जो ये रौरव और यौधाजय दो साम हैं, उनकी पूर्वा ऋक् बृहती है—पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि । आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देव हिरण्ययः ।। उत्तरा विष्टारपङ्क्ति—दुहान ऊधर्दिव्यं मधुप्रियं प्रत्नं सधस्थमासदत् । आपृच्छ्यं धरुणं वाज्यर्षति नृभिर्धूतो विचक्षणः । यहाँ इसमें संशय है—क्या अन्यों की उत्पत्ति बृहती है, उनका आगम करके सामों में गान करना चाहिये, अथवा जो पूर्वा बृहती है और उत्तरा विष्टारपङ्क्ति है, उनके प्रग्रथन से तृच कर्म करके बृहतीकार गान करना चाहिये । क्या प्राप्त होता है ? अन्य बृहती छन्दस्कों का आगमन करना चाहिये । किस हेतु से ? इस प्रकार ऋचाओं की उत्पत्ति अर्थवती होगी ।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

प्रागाथिकं तु ॥२५॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पक्ष को निवृत्त करता है (प्रागाथिकम्) प्रागाथिक साम करना चाहिये ।

व्याख्या—'तु' शब्द [पूर्व उक्त] पक्ष को निवृत्त करता (हटाता) है । प्रगाथसंज्ञक साम का गान करना चाहिये । उत्पत्ति (=योनिरूप) दोनों बृहतीछन्दस्क नहीं लानी चाहिये । प्रकृतिरूप उत्पत्ति अवस्थावाली दो ऋचाओं में ही प्रग्रथन करना चाहिये । ऐसा कहते हैं—बार्हतः प्रगाथः । उत्पत्ति बृहतीछन्दस्क को लाने पर प्रगाथ नहीं बनेगा । उस अवस्था में स्मृति बाधित होवे । इसलिये प्रकृत दो ऋचाओं का प्रग्रथन करना चाहिये ॥२५॥

स्वे च ॥२६॥

एवं च स्वे छन्दसि प्रकृते गानं भविष्यति, प्रकृतहानमप्रकृतप्रक्रिया । तस्मादपि नान्ये बृहत्यावागमयितव्ये इति ॥२६॥

प्रगाथे च ॥२७॥

एवं च प्रगाथशब्द उपपन्नो भविष्यति । स हि प्रकर्षे गानस्य भवति । प्रकर्षश्चेह पुनःपादे उपादीयमाने[1] भवति । तस्पादपि नान्ये बृहत्यावुपादातव्ये इति ॥२७॥

लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकाच्च ॥२८॥

अव्यतिरेकेण च लिङ्गं दर्शयति । किं लिङ्गं भवति । एवमाह—**षष्टिस्त्रिष्टुभो माध्यन्दिनं सवनम्** इति । कथं कृत्वा लिङ्गम् ? यदि प्रग्रथनेन बृहतीकारं गानं क्रियते, ततः सर्वस्मिन् सवने या ऋचः समाम्नातास्ताः षष्टिर्भवन्ति ।

स्वे च ॥२६॥

सूत्रार्थः—(च) इस प्रकार करने पर (स्वे) प्रकृत छन्द में गान होगा ।

व्याख्या—इस प्रकार अपने प्रकृत छन्द में गान होगा । प्रकृत का त्याग और अप्रकृत की प्रक्रिया । इसलिये भी अन्य बृहतियों का आगम नहीं करना चाहिये ॥२६॥

प्रगाथे च ॥२७॥

सूत्रार्थः—(प्रगाथे) प्रगाथ में पूर्व ऋग्वर्णों के पुनः ग्रहण से प्रगाथ शब्द (च) भी उपपन्न होगा ।

व्याख्या—इस प्रकार प्रगाथ शब्द भी उपपन्न होगा । वह (=प्रगाथ शब्द) गान के प्रकर्ष में होता है । यहाँ प्रकर्ष पाद के पुनः गीयमान में होता है, इस से भी अन्य दो बृहतियों का उपादान नहीं करना चाहिये ।

लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकाच्च ॥२८॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकात्) लिङ्ग के दर्शन से और अव्यतिरेक=गत्यन्तर के अभाव से पूर्व बृहतियों का (च) ही उपादान करना चाहिये ।

व्याख्या—और अव्यतिरेक से लिङ्ग को दर्शाता है । क्या लिङ्ग होता है ? ऐसा कहा है—षष्टिस्त्रिष्टुभो माध्यन्दिनं सवनम् (=साठ त्रिष्टुभ्वाला माध्यन्दिन सवन होता है) । लिङ्ग कैसे है ? यदि प्रग्रथन से बृहतीकार गान करते हैं, तो उससे पूरे सवन में जो ऋचाएं पठित हैं, वे साठ होती हैं । अन्यथा उत्पत्तिकालीन बृहतियों के आनयन पर दो

---

1. 'गीयमाने' इति पाठान्तरम् ।

इतरथा उत्पत्तिबृहत्योरानीयमानयोरभ्यधिका भवेयुः। तदिदं निर्दिश्यते—

गायत्रामहीयवे गायत्रे तृचे भवतः। ताः षड् गायत्र्यः। रौरवयौधाजये बार्हते। ता अपि षड् बृहत्यः। औशनमन्त्यं त्रिष्टुप्सु ता अपि तिस्रस्त्रिष्टुभः।

अथ होतुः पृष्ठे बृहति रथंतरे वा सप्तदशस्तोमे क्रियमाणे पञ्च बृहत्यो भवन्ति। द्वादश च ककुभः। कथम्? एषा हि तत्र तत्र विष्टुतिः पञ्चभ्यो हिंकरोति, स तिसृभिः, स एकया स एकया। पञ्चभ्यो हिंकरोति, स एकया, स तिसृभिः स एकया। सप्तभ्यो हिंकरोति स एकया, स तिसृभिः, स तिसृभिरिति।

तत्र बृहतीभिस्तिसृभिः प्रथममेकया च ककुभा, पुनश्चैकया ककुभा। ततः पुनरेकया बृहत्या तिसृभिः ककुब्भिः, एकया च ककुभा। एवं चतस्रो बृहत्यः षट् ककुभः। ततः पुनः, एकया बृहत्या, पुनश्च तिसृभिः ककुब्भिः। पुनश्च तिसृभिः ककुब्भिरिति। एवं पञ्च बृहत्यो द्वादश ककुभ इति। ताभिश्च बृहतीभिः सहैकादश बृहत्यो भवन्ति। ततः षण्णां गायत्रीणां [मध्ये] चतस्रो गायत्र्यो द्वादशभिः ककुब्भिर्द्वादिश बृहत्यो भवन्ति। एवं त्रयोविंशतिर्बृहत्यः। ततो वामदेव्ये सप्तदशका गायत्र्यः। पावमानीभ्यां द्वाभ्यां गायत्रीभ्यामवशिष्टाभ्यां सहैकोनविंशतिगायत्र्यो भवन्ति। ततो नौधसकालेययोरेकत्र सप्तदश बृहत्यः एकत्र सप्तदश। ताश्चतुस्त्रिंशत्, पूर्वसंकलिताभिस्त्रयोविंशतीभिर्बृहतीभिः सप्तपञ्चा-

---

बृहतियाँ अधिक होवें। यह [कैसे होता है] दर्शाया जाता है—

गायत्र आमहीयव गान में दो गायत्र तृच होते हैं। वे छ गायत्रियां हुईं। रौरव और यौधाजय साम बृहती छन्द वाले हैं। वे भी ६ बृहती हुए। औशन अन्त्य है त्रिष्टुपों में। वे भी तीन त्रिष्टुप् हुए।

अब होता के पृष्ठ में बृहत् वा रथन्तर के सप्तदश स्तोम करने पर पांच बृहतियां होती हैं और बारह ककुभ। कैसे? यह वहाँ-वहाँ विष्टुति है—पांच के लिये हिंकार करता है। वह तीन से, वह एक से, वह एक से। पाँच के लिये हिंकार करता है। वह एक से, वह तीन से, वह एक से हिंकार करता है। सात के लिये हिंकार करता है। वह एक से, वह तीन से, वह तीन से।

वहाँ तीन बृहतियों से प्रथम और एक ककुप् से, पुनः एक ककुप् से। अनन्तर पुनः एक बृहती से और पुनः तीन ककुप् से और एक ककुप् से। इस प्रकार चार बृहतियां और छः ककुप् होते हैं। अनन्तर पुनः एक बृहती से, और पुनः तीन ककुभों से। इस प्रकार पांच बृहती और बारह ककुप् होते हैं। उन बृहतियों के साथ मिलकर ११ बृहतियां होती हैं। अनन्तर छः गायत्रियों के मध्य में चार गायत्री बारह ककुभों के साथ मिलकर बारह बृहतियां होती हैं। इस प्रकार २३ बृहतियां हुईं। तदनन्तर वामदेव्य गान में १७ गायत्रियां होती हैं। पवमान देवतावाली बची हुई दो गायत्रियों के साथ १९ गायत्रियां होती हैं। तदनन्तर नौधस और कालेय सामों में एक जगह १७ बृहती और दूसरे में इकट्ठी १७ हैं। वे ३४

शद् बृहत्यो भवन्ति। यास्ता एकोनविंशतिगायत्र्यस्तासां सप्तपञ्चाशता गायत्रीपादैः सह सप्तपञ्चाशद् बृहत्यः सप्तपञ्चाशत् त्रिष्टुभो भवन्ति। पावमानीभिस्त्रिष्टुब्भिः सह षष्टिस्त्रिष्टुभ इति सिद्धं भवति।

अथ बृहद्रथंतरयोरुत्पत्तिककुभोरागमः क्रियते तत्र याः सवने समाम्नाताः; ताः षष्टिर्न भवन्ति। ये ते द्वे सवने ककुभावसमाम्नाते आनीयेते, तयोर्द्वादशकृत्वः प्रयोगः। तेन सा षष्टिः पूर्यते। यास्ता ऋचः सवने समाम्नातास्ता इह सवनशब्देनोच्यन्ते, न कर्मणि सवनशब्दप्रयोगः। तत्र हि त्रिषु सवनेषु बह्व्यस्त्रिष्टुभो भवेयु। न षष्टिस्त्रिष्टुभो माध्यंदिनं सवनमिति। तस्माद्याऽसौ पूर्वा बृहती, उत्तरा च विष्टारपङ्क्तिस्तत्र प्रग्रथनं[1] कृत्वा गातव्यमिति ॥२८॥

[अथवा—अनुष्टुब्गायत्रीद्वयप्रग्रथनेन सम्पादिते आनुष्टुभे तृचे श्यावाश्वान्धीगवसाम्नोर्गानाधिकरणम् ॥६॥]

एवं वा—

पञ्चच्छन्दा आवाप आर्भवः पवमानः सप्तसामा। गायत्रसंहिते गायत्रे तृचे भवतः, श्यावाश्वान्धीगवे आनुष्टुभे, उष्णिहि सफं, ककुभि पौष्कलं, कावमन्त्यं

हुईं। पूर्व गिनी हुई २३ बृहतियों के साथ ५७ बृहतियां होती हैं। और जो १६ गायत्रियां हैं, उनके ५७ गायत्रीपादों के साथ ५७ बृहतियां ५७ त्रिष्टुभ् होते हैं। पावमानी त्रिष्टुभों के साथ ६० त्रिष्टुभ् होते हैं, यह सिद्ध होता है।

यदि बृहद्रथन्तर में उत्पत्तिकालिक ककुभ् (जिस ककुभ् में इन सामों की उत्पत्ति हुई) का आगम किया जाता है, तो उस सवन में पढ़ी गयी ६० नहीं होती हैं। जो दो सवनों में ककुभ् समाम्नात हैं, उन्हें लाया जाता है, तो उनका १२ बार प्रयोग होता है। उससे वह ६० संख्या पूर्ण होती है। जो वे ऋचायें सवन में समाम्नात हैं, वे यहां पर सवन शब्द से कही जाती हैं, कर्म में सवन शब्द का प्रयोग नहीं है। वहां (कर्म में सवन शब्द मानने पर) तीन सवनों में बहुत त्रिष्टुभ् होवें, ६० त्रिष्टुभ् माध्यन्दिन सवन में नहीं होवें। इससे जो पूर्व बृहती है और उत्तरा विष्टारपंक्ति छन्द, उनको वहां प्रग्रथन करके गान करना चाहिये ॥२८॥

अथवा इस प्रकार—

पञ्चच्छन्दा आवाप आभवः पवमानः सप्तसामा (=पांच छन्दोंवाला सात सामों वाला पवमान देवता आर्भव =आवाप होता है), गायत्रसंहिते गायत्रे तृचे भवतः, श्यावाश्वान्धीगवे आनुष्टुभे, उष्णिहि सफं, ककुभि पौष्कलं, कावमन्त्यञ्जगतीषु

---

१. 'प्रगाथं' इति पाठान्तरम्।

जगतीषु इति। यदेतत् श्यावाश्वमान्धीगव च द्वे सामनी तयोः पूर्वाऽनुष्टुप्—पुरोजिती वो अन्धसः सुताय मादयित्नवे। अप श्वानं श्नथिष्ठन सखायो दीर्घजिह्व्यम्। उत्तरे द्वे गायत्र्यौ— यो धारया पावकया परिप्रस्यन्दते सुतः। इन्दुरश्वो न कृत्व्यः। तं दुरोषमभी नरः सोमं विश्वच्या धिया। यज्ञं हिन्वन्त्यद्रिभिः[1] इति।

तत्रैषोऽर्थः सांशयिकः। किमन्ययोरुत्पत्त्यनुष्टुभोरागमं कृत्वा समासु गानं कर्तव्यमथवा, याऽसौ पूर्वाऽनुष्टुप्, उत्तरे च गायत्र्यौ तयोः प्रग्रथनेन तृचकर्म कृत्वाऽनुष्टुप्कारं गानं कर्तव्यमिति। किं प्राप्तम्? अन्ये अनुष्टुभावागमयितव्ये इति। कुत एतत्? एवं तासामुत्पत्तिरर्थवती भविष्यति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

प्रागाथिकं तु ॥२५॥

प्रागाथिकं गानं कर्तव्यम्। एवं हि स्मरन्ति—आनुष्टुभः प्रगाथ इति। प्रगाथता स्मर्यमाणा नापह्नोतव्या ॥२५॥

(=गायत्री से संहित दो गायत्र तृच होते हैं, श्यावाश्व अन्धीगव दो आनुष्टुभ तृच, उष्णिक् छन्द में सफ साम, ककुभ् छन्द में पौष्कल साम, अन्त्य काव साम जगतियों में)। जो यह कथन है, श्यावाश्व और अन्धीगव ये दो साम हैं, इनमें पूर्व अनुष्टुप्—पुरोजिती वो अन्धसः सुताय मादयित्नवे। अप श्वानं श्नथिष्ठन सखायो दीर्घजिह्व्यम्। दो उत्तर गायत्री तृच हैं—यो धारया पावकया परिप्रस्यन्दते सुतः। इन्दुरश्वो न कृत्व्यः॥ तं दुरोषमभी नरः सोमं विश्वच्या धिया। यज्ञं हिन्वन्ति अद्रिभिः॥

इनमें यह अर्थ सांशयिक है कि क्या अन्य उत्पत्ति अनुष्टुप् छन्द का आगम करके समान अक्षरोंवाली ऋचाओं में गान करना चाहिये अथवा जो यह पूर्व अनुष्टुप् है और उत्तर गायत्री दो छन्द, इनके प्रग्रथन से तृच कर्म करके तीन ऋचायें उत्पन्न करके अनुष्टुप् रूप गान करना चाहिये? क्या प्राप्त होता है? (समाधान) अन्य अनुष्टुभों का आगमन वा प्राप्ति करानी चाहिये। यह कैसे? इस प्रकार करने से उन ऋचाओं की उत्पत्ति अर्थवती होगी।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

प्रागाथिकं तु ॥२५॥ (उ०)

सूत्रार्थः—(प्रागाथिकं) प्रागाथिक गान (तु) तो करना चाहिये।

व्याख्या—प्रागाथिक गान करना चाहिये। इस प्रकार स्मरण करते हैं—आनुष्टुभः प्रगाथः (=आनुष्टुभ प्रगाथ होता है)। इसमें स्मर्यमाण प्रगाथता छोड़नी नहीं पड़ती ॥२५॥

---

१. 'अद्रचा' इति पाठान्तरम्।

स्वे च ॥२६॥

एवं स्वे गानं भविष्यति । तत्र प्रकृतमनुग्रहीष्यते । नाप्रकृतप्रक्रिया भविष्यति ॥२६॥

प्रगाथे च ॥२७॥

प्रगाथशब्दश्चोपपत्स्यते पुनःपादे गीयमाने ॥२७॥

लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकाच्च ॥२८॥

अव्यतिरेकेण च लिङ्गं भवति । एवमाह—**चतुर्विंशतिर्जगत्यस्तृतीयसवनम्, एका ककुप्** इति । तन्निर्दिश्यते—**पञ्चच्छन्दा आवाप आर्भवः पवमानः सप्तसामा । गायत्रसंहिते गायत्रे तृचे भवतः** । ताः षड् गायत्र्यस्तिस्रो जगत्यो भवन्ति । श्यावाश्वान्धीगवे आनुष्टुभे, तयोः पूर्वाऽनुष्टुप्, उत्तरे गायत्र्यौ । तत्र प्रग्रथनेन क्रियमाणे द्वयोः साम्नोः षडनुष्टुभः, ताश्चतस्रो जगत्यः, पूर्वाभिः सह सप्त । उष्णिहि सर्फं,

---

स्वे च ॥२६॥ (उ०)

सूत्रार्थः—(च) और (स्वे) स्व छन्द में ही गान होगा ।

व्याख्या—इस प्रकार स्व छन्द में ही गान होगा । उस अवस्था में प्रकृत वचन अनुगृहीत होगा । अप्रकृत प्रक्रिया (=उत्पत्ति साम का आगम) नहीं करनी होगी ॥२६॥

प्रगाथे च ॥२७॥

सूत्रार्थः—(च) और (प्रगाथे) प्रगाथ अर्थ में प्रगाथ शब्द उपपन्न होगा ।

व्याख्या—पुनः पाद के गान करने पर प्रगाथ शब्द उपपन्न होगा ॥२७॥

लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकाच्च ॥२८॥

सूत्रार्थः—(च) और (लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकात्) लिङ्गदर्शन के अव्यतिरेक होने से भी प्रग्रथन ही करना चाहिये ।

व्याख्या—विना व्यतिरेक (=अभाव) के लिङ्ग होता है । इस प्रकार कहा है—चतुर्विंशतिर्जगत्यस्तृतीयसवनम्, एका ककुप् (=२४ जगतियोंवाला तृतीयसवन है और एक ककुप् है) । उनका निर्देश करते हैं—पञ्चच्छन्दा आवाप आर्भवः पवमानः सप्तसामा, गायत्रसंहिते गायत्रे तृचे भवतः (=पांच छन्दोंवाला और सात सामोंवाला आर्भव पवमान का आवाप होता है, गायत्र छन्द से सम्पृक्त दो गायत्र तृच होते हैं) । वे मिलकर छः गायत्री और तीन जगती होती हैं । श्यावाश्व और अन्धीगव आनुष्टुभ साम हैं, उनमें पूर्व अनुष्टुभ् और दो उत्तर गायत्रियां हैं । वहां उनके प्रग्रथन करने पर दोनों सामों में छः अनुष्टुभ्, चार जगती पूर्व जगतियों के साथ मिलकर सात होते हैं । उष्णिक् छन्द में

ककुभि पौष्कलम् । एकमप्येकस्यामृचि, अपरमप्येकस्याम् । ते द्वे उष्णिक्ककुभी । सैका जगती, गायत्रीपादश्च । पूर्वाभिः सहाष्टौ जगत्यः । कावे तिस्रो जगत्यः। ताभिः सहैकादश भवन्ति । एकविंशं यज्ञायज्ञीयम् । तत्र पूर्वा बृहती विष्टारपंक्तिः । ततः ककुभावुत्तरे कृत्वा प्रगाथः क्रियते । एकविंशे च स्तोमे क्रियमाणे सप्त बृहत्यो भवन्ति । चतुर्दश ककुभः । या सप्त बृहत्यः, ताः पञ्च जगत्यः । पूर्वाभिः सह षोडश । एकश्चात्र जगतीपादः । पूर्वेण गायत्रीपादेन सह विंशतिरक्षराणि । अथ चतुर्दशसु ककुप्सु या द्वादश ककुभः, ताः सप्त जगत्यः । पूर्वाभिः सह त्रयोविंशतिः । ये द्वे ककुभौ शिष्टे, सैका जगती, गायत्रीपादश्च । पूर्वाभिः सह चतुर्विंशतिर्जगत्यः । गायत्रीपादः पूर्वैविंशत्यक्षरैः सहैका ककुब् भवति । एवं प्रगाथे क्रियमाणे चतुर्विंशतिर्जगत्यः, एका च ककुप् । अथ प्रगाथो न क्रियते, ततः श्यावाश्वान्धीगवयोरुत्पत्त्यनुष्टुभोरागमात्[1], यज्ञायज्ञीय उत्पत्तिककुभोरागमान्नैषा संख्या सम्पद्यते । तस्मात्प्रग्रथनेन गानं कर्तव्यमिति ।।२८।।

[अथवा—गवामयने द्वयोर्द्वयोर्ऋचोः प्रग्रथनेन ब्रह्मसामगानाधिकरणम् ।।६।।]

एवं वा—

सफ साम, ककुभ् में पौष्कल साम । एक ऋचा में एक, दूसरी ऋचा में दूसरा साम । वे दोनों उष्णिक् और ककुभ् छन्दों वाली होती हैं । वह एक जगती और गायत्रीपाद हुआ । पहली जगतियों के साथ मिलकर आठ जगतियां हुईं । काव नामक साम में तीन जगतियां उनके साथ मिलकर ११ जगतियां होती हैं । २१वां यज्ञायज्ञीय साम है । उनमें पहली बृहती तथा उत्तर विष्टारपंक्ति होती है । तत्पश्चात् दो ककुभ् बाद में करके प्रगाथ किया जाता है । और एकविंश स्तोम के करने पर सात बृहतियां होती हैं, १४ ककुभ् होते हैं । और जो ७ बृहतियां हैं, वे ५ जगतियां बनती हैं । पूर्व जगतियों के साथ १६ होती हैं । और एक जगतीपाद बचता है । वह पूर्व बचे हुए गायत्रीपाद के साथ मिलकर २० अक्षरवाला होता है। और १४ ककुभों में जो १२ ककुभ् छन्द हैं, वे ७ जगतियां बन गईं और पूर्व जगतियों के साथ मिलकर २३ होती हैं । जो दो ककुभ् शेष हैं, वह एक जगती और गायत्रीपाद हुए । पूर्व के साथ मिलकर २४ जगती और गायत्रीपाद पूर्व २० अक्षरों के साथ मिलकर एक ककुभ् होती है । इसी प्रकार प्रगाथ करने पर २४ जगतियां और एक ककुभ् बनता है । अब प्रगाथ न करें तो श्यावाश्व और अन्धीगव सामों में उत्पत्तिकालिक अनुष्टुभ् छन्दवाली ऋचा के लाने से यज्ञायज्ञीय में उत्पत्तिककुभ् के आगमन से यह संख्या सम्पन्न नहीं होती । इसलिये प्रग्रथन से गान करना चाहिये ।।२८।।

अथवा इस प्रकार—

---

१. 'उत्तरत्रानुष्टुभोः' इति पाठान्तरम् ।

गवामयने ब्रह्मसाम प्रकृत्य समामनन्ति—**चतुःशतमैन्द्रा बार्हताः प्रगाथाः । त्रयस्त्रिंशच्च[1] सतोबार्हतास्तृचा** इति । तत्र सन्देहः । किं द्वयोर्द्वयोर्ऋचोः प्रग्रथनं[2] कृत्वा गातव्यमुत तिसृषु ऋक्षु गातव्यमिति । किं प्राप्तम् ? तिसृषु ऋक्ष्विति । कुतः ? एवं प्रकृतौ श्रूयते—**तस्मादेकं साम तृचे क्रियत** इति । तदिह चोदकेन प्राप्तम् । तस्मात् तिसृषु गातव्यमिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

प्रागाथिकं तु ॥२५॥

स्वे च ॥२६॥

प्रगाथे च ॥२७॥

द्वयोर्द्वयोर्ऋचोर्गेयम् । एवं स्वे गानं कृतं भविष्यति । कस्मिन् ? स्वे प्रगाथे । कथं प्रगाथः स्वः ? विहितो हि गवामयने ब्रह्मसाम प्रकृत्य—**तस्माद् ब्रह्मसाम्नः स्वः प्रगाथः** । प्रगाथशब्देन च वचनात्स्वः प्रगाथ इत्युच्यते ॥२५॥२६॥२७॥

गवामयन में ब्रह्मसाम प्रकृत करके पढ़ते हैं—चतुःशतमैन्द्रा बार्हताः प्रगाथास्त्रयस्त्रिंशच्च सतोबार्हतास्त्रिचाः (=चार सौ ऐन्द्र बार्हत प्रगाथ हैं और तेंतीस सतोबार्हत तृच हैं) । इसमें सन्देह है कि दो-दो ऋचाओं का प्रग्रथन करके गान करना चाहिये अथवा तीन-तीन ऋचाओं में गान करना चाहिये ? क्या प्राप्त होता है ? तीन ऋचाओं में गान करना चाहिये । किस हेतु से ? इस प्रकार प्रकृति में सुना जाता है—तस्मादेकं साम तृचे क्रियते (=इसलिये एक साम तीन ऋचाओं में गाया जाता है) । यह चोदक वचन से यहाँ प्राप्त है । इसलिये तीन ऋचाओं में गान करना चाहिये ।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

प्रागाथिकं तु ॥२५॥

स्वे च ॥२६॥

प्रगाथे च ॥२७॥

व्याख्या—दो-दो ऋचाओं में गान करना चाहिये । इस प्रकार स्व छन्द में गान होगा । किस में ? अपने प्रगाथ में । कैसे है उनका अपना प्रगाथ ? गवामयन में ब्रह्मसाम को आरम्भ कर कहा है—तस्माद् ब्रह्मसाम्नः स्वः प्रगाथः (=इससे ब्रह्मसाम का अपना प्रगाथ है) । प्रगाथ शब्द के वचन से स्व प्रगाथ कहा है ॥२५, २६, २७॥

विवरण—**गवामयने ब्रह्मसाम**—गवामयन क्रतु में ३६१ सुत्या हैं । उनकी पूर्त्ति

---

१. 'त्रयस्त्रिंशतं सतोबार्हतास्त्रिकाः' इति पाठान्तरम् ।
२. 'प्रगाथं' इति पाठान्तरम् ।

लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकाच्च ॥२८॥

भवति हि लिङ्गदर्शनम्—पञ्चसु मा:सु बार्हता: प्रगाथा आप्यन्त इति । तच्च प्रग्रथने युज्यते, न तृचगाने । कथम् ? चतुरुत्तरं हि शतं ते प्रगाथा: । तत्र बृहद्रथंतरयोर्ज्योतिष्टोमे प्रगाथद्वयम् । नौधसकालेययोरपि तत्रैव प्रगाथद्वयम् । इन्द्रक्रतुः प्रगाथ उत्तरस्मिन् पक्षसि भवति । त एते नवनवति: प्रगाथा: शिष्टा अभिप्लवेषु कर्तव्या: । पृष्ठेषु सतोबृहत्यो विधीयन्ते । अभिप्लवानां तृतीये दिवसे सतोबृहत्य: । एवमत्रशिष्टान्यभिप्लवानां शतमहानि । तेषामन्त्ये सतोबृहत्य: । अन्येषु नवनवतौ दिवसेषु नवनवति: प्रगाथा आप्यन्त इति लिङ्गमप्युपपन्नं भवति । तृचे पुनर्गाने क्रियमाणे षट्षष्टितृचस्त्रिषु सप्ताधिकेषु मासेषु समाप्येरन् । तदेतस्माल्लिङ्ग-

---

ताण्डकशाखियों ने इस प्रकार कही है—उनमें १८० सुत्या पूर्वपक्ष में और १८० उत्तरपक्ष में । दोनों के मध्य में विषुवान् दिन होता है । पूर्वपक्ष (=पूर्व छ: महीनों) में प्रायणीय प्रथम दिन, दूसरा प्रायणीय २४वाँ, उनमें चार अभिप्लव संज्ञक ६ दिन होते हैं । ये २४ दिन हुए । इन २४ में एक षडह, इसी प्रकार एक महीना, इसी प्रकार दूसरा, तीसरा, चौथा और पांचवां महीना और उसके पीछे तीन अभिप्लव संज्ञक षडह—इनको मिलाकर १८ दिन हुए । एकपृष्ठ्य संज्ञक ६ दिन, अभिजित् नाम का एक दिन, तीन स्वर साम—ये २८ दिन हुए । आद्य दो दिनों के साथ मिलकर छः मास पूर्ण हुए, यह पूर्वपक्ष है । दोनों पक्षों के मध्य में विषुवान् संज्ञक दिन, अनन्तर उत्तरपक्ष तीन स्वरसाम, विश्वजित् एक दिन, एकपृष्ठ्य षडह ३३ आरम्भण, तीन अभिप्लव षडह मिलकर २८ दिन हुए । पुन: पृष्ठ्य षडह ३३ आरम्भण ४ अभिप्लव षडह=एक मास । इसी प्रकार द्वितीय तृतीय चतुर्थ तीन अभिप्लव षडह, आयु और गौ संज्ञक दो दिन । द्वादशाह के १० दिन । महाव्रत और रात्र=२२ दिन । आदि के २८ दिनों के साथ मिलकर छ: मास पूर्ण हुए ।

लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकाच्च ॥२८॥

सूत्रार्थ:—(च) और (लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकात्) लिङ्ग के दर्शन के अव्यतिरेक से ।

व्याख्या—लिङ्गदर्शन होता है—पञ्चसु मा:सु बार्हता: प्रगाथा आप्यन्ते (=पांच महीनों में बार्हत प्रगाथ समाप्त किये जाते हैं) । यह प्रग्रथन में युक्त होता है, तृच गान में युक्त नहीं होता । कैसे ? १०४ वे प्रगाथ हैं । उनमें बृहद्रथन्तर में दो ज्योतिष्टोम में दो प्रगाथ हैं । नौधस और कालेय में भी वहीं पर दो प्रगाथ कहे हैं । इन्द्रक्रतु प्रगाथ उत्तर पक्ष में होता है । वे ये ९९ प्रगाथ अभिप्लव कर्म में कर्त्तव्य कहे हैं । पृष्ठ साम में ही सतोबृहतियों का विधान है । अभिप्लव संज्ञक तृतीय दिन में सतोबृहती पढ़ी हैं । इस प्रकार अवशिष्ट अभिप्लव संज्ञक १०० दिन होते हैं । उनमें अन्तिम दिन में सतोबृहतियां कही हैं । अन्य ९९ दिनों में ९९ प्रगाथ पूरे किये जाते हैं । यह लिङ्ग उपपन्न होता है । पुनः तृच के गान करने पर ६६ तृच सात महीने तीन दिन में समाप्त हों । इस लिङ्गदर्शन से प्रगाथ में

दर्शनात्प्रगाथे गानं कर्तव्यमिति मन्यते ।

आह । अथ कस्मान्न प्रथमतृचे गानं कृत्वा ततस्तस्मात्तृचादेकामृचमादायान्ये द्वे ऋचौ गृहीत्वा तृचे गानं क्रियते ? तथा हि तृचगानप्रापी चोदकोऽनुगृहीतो भवति । लिङ्गं चोपपत्स्यते—**पञ्चसु माःसु बार्हताः प्रगाथा आप्यन्त** इति । उच्यते । अव्यतिरेकेण लिङ्गं दर्शयति, अन्या अन्या ऋचो भवन्ति । तदेव सामेति । तस्माद् द्वयोर्द्वयोर्ऋचो प्रग्रथनं[1] कृत्वा गानं कर्तव्यमिति ॥२८॥

—:०:—

[गीत्युपायानां शाखाभेदेन समाम्नातानां विकल्पाधिकरणम् ॥७॥]

सामवेदे सहस्रं गीत्युपायाः । आह । क इमे गीत्युपाया नाम ? उच्यते । गीतिर्नाम क्रिया । सा, आभ्यन्तरप्रयत्नजनितस्वरविशेषाणामभिव्यञ्जिका । सा सामशब्दाभिलप्या । सा नियतपरिमाणा, ऋचि च गीयते । तत्सम्पादनार्था ऋगक्षरविकारो विश्लेषो विकर्षणमभ्यासो विरामः स्तोभ इत्येवमादयः सर्वे समधिगताः समाम्नायन्ते । तेषु संशयः ? किं समुच्चीयन्त उत विकल्प्यन्त इति । किं तावन्नः प्रतिभाति ? सर्वेषां समाम्नानात्सर्वाङ्गोपसंहारित्वाच्च प्रयोगवचनस्य समुच्चीयेरन्निति ।

गान करना चाहिये ॥

(आक्षेप) क्यों नहीं प्रथम तृच में गान करने के पश्चात् उस प्रथम तृच से एक ऋचा को लेकर और अन्य दो ऋचाओं को ग्रहण कर तृच बनाकर गान किया जाता है ? इस प्रक्रिया से तृच में गान प्राप्त करानेवाला चोदक वचन अनुगृहीत होता है और लिङ्ग भी उपपन्न होगा—पञ्चसु माःसु बार्हताः प्रगाथा आप्यन्ते । (समाधान) अव्यतिरेक से लिङ्ग दर्शाता है । अन्य-अन्य ऋचाएं होती है । वही साम है । इसलिये दो-दो ऋचाओं का प्रग्रथन कर गान करना चाहिये ॥२८॥

—:०:—

व्याख्या— सामवेद में सहस्र गीति के उपाय हैं । (आक्षेप) ये गीति उपाय नाम क्या हैं ? (समाधान) गीति नाम क्रिया है, वह आभ्यन्तरप्रयत्न जनित स्वरविशेष की अभिव्यञ्जिका है । वह साम शब्द से कही जाती है । वह नियत परिमाणवाली है और ऋचाओं में गायी जाती है । उस गीति के सम्पादन के लिये ऋगक्षरों का विकार, विश्लेष, विकर्षण, अभ्यास, विराम, स्तोभ इत्यादि सब प्राप्त हुए पढ़े जाते हैं । उन में संशय है । कि क्या ऋगक्षर विकार विकर्षण आदि का समुच्चय किया जाता है अथवा विकल्प ? हमें क्या सूझता है ? सब ऋगक्षर विकार आदि का पाठ होने से और सबका समाम्नान होने से और प्रयोगवचनों का सर्वाङ्ग उपसंहारी होने से समुच्चय होवे ।

---

१. 'प्रगाथं' इति पाठान्तरम् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

अर्थैकत्वाद्विकल्पः स्यात् ॥२९॥ (सि०)

अर्थैकत्वाद् विकल्पः स्यादिति। एकार्था हि गीत्युपायाः। गीतिः कथं निर्वर्तेतेति प्रयुज्यन्ते। तत्रान्यतमेन[1] गीतौ निर्वृत्तायां नेतरे प्रयोगमर्हन्ति। तस्माद्विकल्प इति ॥२९॥

—:०:—

[प्रगीताया एव ऋचो वैकृतापूर्वस्तोत्रसाधनत्वाधिकरणम् ॥८॥]

क्वचित् कर्मविशेषे श्रूयते—ऋचा स्तुवते, साम्ना स्तुवते। यदृचा स्तुवते तदसुरा अन्ववायन्, यत्साम्ना स्तुवते तदसुरा नान्ववायन्। य एवं विद्वान् साम्ना स्तुवीत इति। तत्रायमर्थः सांशयिकः। किमृचा वा स्तोतव्यं साम्ना वा, उत साम्नैवेति। किं तावत्प्राप्तम्?

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

अर्थैकत्वाद् विकल्पः स्यात् ॥२९॥

सूत्रार्थः—(अर्थैकत्वात्) गीति प्रयोजन एक होने से (विकल्पः) गीति उपायों का विकल्प (स्यात्) होवे।

व्याख्या—एक गीति प्रयोजन होने से गीति उपायों का विकल्प होवे। गीति के उपाय एक प्रयोजन गीति के लिये हैं। वे सब गीति कैसे उपपन्न हों, इसके लिये प्रयुक्त किये जाते हैं। उसमें अन्यतम से गीति के उपपन्न हो जाने पर गीति के उपायों का प्रयोग नहीं होवे। इससे विकल्प है ॥२९॥

—:०:—

कहीं पर कर्मविशेष में सुना जाता है—ऋचा स्तुवते साम्ना स्तुवते यदृचा स्तुवते तदसुरा अन्ववायन् यत् साम्ना स्तुवते तदसुरा नान्ववायन् य एवं विद्वान् साम्ना स्तुवीत (=ऋचा से स्तुति करता है, साम से स्तुति करता है, जो ऋचा से स्तुति करता है, उसका असुर अनुकरण करते हैं, जो साम से स्तुति करता है, उसका असुर अनुकरण नहीं करते। इस प्रकार जानता हुआ विद्वान् साम से स्तुति करे)। यहां यह अर्थ सांशयिक है। क्या ऋचा से स्तुति करनी चाहिये अथवा साम से? अथवा साम से ही? क्या प्राप्त होता है?

---

१. 'तत्रान्यतरेण भित्तौ गीतौ निर्वृत्तायां' इति पाठान्तरम्।

अर्थैकत्वाद् विकल्पः स्याद् ऋक्सामयोस्तदर्थत्वात् ॥३०॥ (पू०)

विकल्पः, ऋचा वा साम्ना वा। भिन्नमिदं[1] वाक्यं दृश्यते—**यदृचा स्तुवते तदसुरा अन्ववायन्** इति। ऋचा स्तवे क्रियमाणेऽसुरा अन्ववगता इति। परिपूर्णमेतावति वाक्यं पश्यामः। एवमर्थमिदं संकीर्त्यते, कथं नाम गम्यत ऋचा स्तोतव्यमिति। किमर्थम्? यस्मिन् कर्मविशेषे श्रूयते, तस्याङ्गं यथा स्यात्। तच्च[2] प्रयोगसामर्थ्यात्प्रयोगवचनेन गम्यत इति। नन्वसुरसंकीर्तनान्निन्दैषा। नेत्याह। न वयं निन्दिताननिन्दितान्वाऽसुरान् विद्मः। संकीर्तनात्कर्तव्यतामध्यवस्यामः। **एवं साम्ना स्तुवत** इति पृथग्वाक्यम्। तस्माद्विकल्पः ऋक्सामयोः स्तुत्यर्थत्वादुभयोरप्येकं कार्यम्। स्तुतिर्हि निर्वर्तयितव्येति, तदन्यतरेण सिध्यतीति विकल्पः ॥३०॥

वचनाद् विनियोगः स्यात् ॥३१॥ (सि०)

अर्थैकत्वाद् विकल्पः स्याद् ऋक्सामयोस्तदर्थत्वात् ॥३०॥

सूत्रार्थः—ऋचा वा साम का (अर्थैकत्वात्) एक स्तुति प्रयोजन होने से (विकल्पः) विकल्प (स्यात्) होवे (ऋक्सामयोः) ऋक् और साम के (तदर्थत्वात्) श्रुति के लिये होने से।

व्याख्या—विकल्प। ऋचा अथवा साम से। क्योंकि ये भिन्न-भिन्न वाक्य दिखाई देते हैं—यदृचा स्तुवते तदसुरा अन्ववायन्। ऋचा के द्वारा स्तुति करने पर असुर देवों के अनुगत हुए। इतने अर्थ में वाक्य को परिपूर्ण देखते हैं। इस प्रयोजन के लिये इस वाक्य का कथन है कि कैसे ऋचा से स्तुति करनी चाहिये। किसलिये? जिस कर्मविशेष में यह वाक्य श्रुत है, उस कर्म का अङ्ग बने। यह प्रयोगसामर्थ्य से अर्थात् प्रयोगवचन से जाना जाता है। असुरों का संकीर्तन वाक्य में होने से यह वचन निन्दा के लिये है। निन्दा नहीं है। हम निन्दित और अनिन्दित असुर ऐसे दो प्रकार के असुरों को नहीं जानते। केवल संकीर्तन से कर्म की कर्तव्यता जानते हैं। इसी प्रकार 'एवं साम्ना स्तुवते' यह पृथक् वाक्य है। इसलिये ऋक् और साम का विकल्प है। क्योंकि स्तुतिरूप कार्य दोनों का एक ही है, इसलिये विकल्प ऋक् और साम का होना चाहिये। स्तुति किसी प्रकार कहनी चाहिये, इसलिये ऋक् और साम दो पृथक् अर्थ होने से दो प्रकार से पृथक्-पृथक् स्तुति कही गई है। वह स्तुति ऋक् व साम एक से सिद्ध हो जाती है, इसलिये विकल्प है ॥३०॥

वचनाद् विनियोगः स्यात् ॥३१॥

सूत्रार्थः—(वचनात्) वचनसामर्थ्य से साम का (विनियोगः) विनियोग (स्यात्) होवे।

---

१. 'भिन्नमिदं हि' इति पाठान्तरम्। २. 'एतच्च' इति पाठान्तरम्।

नैतदस्ति, विकल्प इति । साम्नो विनियोगः स्यात् । कुतः ? तस्येह विनियोजकं वचनमस्ति—**यदृचा स्तुवते तदसुरा अन्ववायन् । यत्साम्ना स्तुवते तदसुरा नान्ववायन्**[1] । **य एवं विद्वान् साम्ना स्तुवीत** इति साम्ना स्तुतिः प्रशस्यते प्रत्यक्षेण प्रशंसावचनेन । इतरथा कल्प्या स्यात्, ऋचा स्तवनेऽसुरा अनुगताः । तस्मादृचा स्तोतव्यमिति । अथ साम्ना स्तवः प्रशस्यते, ततो यदृचा स्तुवते तदसुरा अन्ववायन्नितीतरप्रशंसार्था निन्दैषा, न किंचित्कल्पयिष्यत इति। कथं निन्दावचनमेतदिति गम्यते ? इतरस्तुतिवचनात् । तस्मात्साम्नैव स्तोतव्यमिति ॥३१॥

[अथवा—विकृतिविशेषे प्रगीतयैव ऋचाऽऽहवनीयोपस्थानाधिकरणम् ॥८॥]

एवं वा—

अर्थैकत्वाद् विकल्पः स्याद् ऋक्सामयोस्तदर्थत्वात् ॥३०॥ (पू०)

क्वचित्कर्मविशेषे श्रूयते—**अयं सहस्रमानव इत्येतयाऽऽहवनीयमुपतिष्ठते**

व्याख्या—यह नहीं है कि विकल्प है। साम का विनियोग होवे । किस हेतु से ? उसका विनियोजक वचन है—यदृचा स्तुवते तदसुरा अन्ववायन् । यत्साम्ना स्तुवते तदसुरा नान्ववायन् । य एवं विद्वान् साम्ना स्तुवीत (=जो ऋचा से स्तुति करता है, उसका असुर अनुकरण करते हैं । जो साम से स्तुति करता है, उसका असुर अनुकरण नहीं करते । इस प्रकार जो विद्वान् साम से करता है) इस वाक्य से साम से की गयी स्तुति की प्रत्यक्षरूप से प्रशंसावचन के द्वारा प्रशंसा की है। अन्यथा स्तुति की कल्पना करनी होगी। ऋचा के द्वारा स्तुति करने पर असुर अनुगत हुए, इसलिये ऋचा से स्तुति की जानी चाहिये । साम से स्तुति की प्रशंसा की जाती है, अनन्तर जो ऋचा से स्तुति करता है, असुर उसके अनुगत हुए । एक प्रशंसा के लिये है और एक निन्दा के लिये । इस प्रकार दोनों अर्थों का पृथक्-पृथक् प्रयोजन होने से कुछ कल्पना नहीं करनी पड़ती । यह निन्दावचन है, यह कैसे जाना जाता है ? दूसरे की स्तुतिवचन से । इसलिये साम से ही स्तुति करनी चाहिये ॥३१॥

व्याख्या—अथवा इस प्रकार—

अर्थैकत्वाद् विकल्पः स्याद् ऋक्सामयोस्तदर्थत्वात् ॥३०॥

सूत्रार्थः—(अर्थैकत्वात्) एक प्रयोजन होने से (विकल्पः) विकल्प (स्यात्) होवे (ऋक्सामयोः) ऋक् और साम के (तदर्थत्वात्) एक ही प्रयोजन होने से ।

व्याख्या—कहीं कर्मविशेष में सुना जाता है—'अयं सहस्रमानवः इत्येतया आहवनीयमुपतिष्ठते' (='अयं सहस्रमानवः' इसके द्वारा आहवनीय का उपस्थान करता

---

१. इदं वाक्यं काशीमुद्रिते नोपलभ्यते ।

इति। अत्रायमर्थः सांशयिकः। किमप्रगीतयोपस्थानव्यमुत प्रगीतयेति? किं प्राप्तम्? प्रगीतया, अप्रगीतया वा। कुतः? अविशेषोपदेशात्। प्रगीताऽप्येतद्विषयमेव ऋक्, अप्रगीताऽपीयमेव। उभयथा हि तां समामनन्ति। तस्मान्न विशेष आदर्तव्य इति। न चेद्विशेषः, स्तुतिपरत्वादृक्सामयोर्विकल्प इति ॥३०॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

वचनाद् विनियोगः स्यात् ॥३१॥

प्रगीतैव विनियुज्यते, नाप्रगीता। कुतः? वचनात्। किं वचनम्? अयं सहस्रमानव इत्येतया – इति प्रकृतवचनः शब्दः। प्रगीता च सामवेदे प्रकृता। सा एतयेति सम्बध्यते। नन्वप्रगीताऽपि तत्र पठ्यते। सत्यम्। प्रमाणसम्बन्धार्था तु सा। न ह्यपठितायां प्रमाणं शक्यते कर्तुमिति, ऋक्[1] सामार्थे। ऋचोऽध्ययनं सामार्थं गम्यते। न ह्यन्तरेण ऋचं सामनिर्वृत्तिर्भवति। अन्तरेणापि तु साम, ऋङ् निर्वर्त्यते। न ऋक् सामाऽऽकाङ्क्षत इति। तस्मादेव सामवेदे—उपतिष्ठते

है)। यहां यह अर्थ सांशयिक है। क्या अप्रगीत बिना गान के उपस्थान करना चाहिये अथवा गाई हुई से। क्या प्राप्त होता है? चाहे प्रगीता ऋचा से अथवा अप्रगीता से। किस कारण? सामान्य उपदेश होने से। प्रगीता ऋचा भी इसी विषयवाली है और अप्रगीता भी यही है। प्रगीत और अप्रगीत दोनों रूप से ऋक् को पढ़ते हैं। इसलिये किसी विशेष का आदर नहीं करना चाहिये। यदि विशेष नहीं है तो ऋक् और साम के स्तुतिपरक होने से दोनों का विकल्प है ॥३०॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

वचनाद् विनियोगः स्यात् ॥३१॥

सूत्रार्थः—(वचनात्) वचनसामर्थ्य से प्रगीत का (विनियोगः) विनियोग (स्यात्) होगा।

व्याख्या—प्रगीत ऋचा ही विनियुक्त होवे, अप्रगीत नहीं। किस हेतु से? वचनसामर्थ्य से। क्या वचन है? 'अयं सहस्रमानवः' इससे यह प्रकृत प्रगीत मन्त्र का ही कहनेवाला यह शब्द है। सामवेद में प्रगीत ऋचा ही कही गयी है। वह प्रगीत ऋक् इससे सम्बद्ध होती है। (आक्षेप) वहां सामवेद में अप्रगीता ऋक् भी पढ़ी जाती है? (समाधान) सत्य है। अप्रगीता ऋक् भी वहां पढ़ी जाती है। वह अप्रगीता ऋक् प्रमाण का सम्बन्ध करने के लिये है। ऋचा के बिना पाठ के साम का प्रमाण नहीं किया जा सकता कि ऋक् जो है, वह साम के लिये है, सामवेद में ऋचा का अध्ययन भी साम के लिये जाना जाता है। बिना ऋक् के साम की सिद्धि नहीं होती। साम के बिना भी ऋक् उपपन्न होती है। ऋक्

---

१. 'ऋक्सामसम्बन्धे, ऋचोऽध्ययनं' इति पाठान्तरम्।

वा स्तौति वा इत्युक्ते प्रगीतायामेव ऋचि संप्रत्ययो भवति, नाप्रगीतायाम् ।

आह । यदि प्रगीतायां संप्रत्ययः प्रकरणात्, वचनादप्रगीतायाम् । अप्रगीताऽपि हि शाखान्तरे समाम्नायते । सा प्रकरणं बाधित्वा वाक्येन गृह्येतेति ।

उच्यते—न वाक्येन ऋक् गृह्यते । प्रतीकग्रहणं ह्येतत् । **अयं सहस्रमानव** इत्येतयेति पुनः प्रकृताया[1] ऋचो वाचको मुख्य ऋक्शब्दः । त्वत्पक्षे प्रतीकग्रहस्य[2] लक्षणा स्यात् । श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या, न लक्षणा । तस्मात् प्रगीतयोपस्थातव्यमिति ॥३१॥

[अथवा—ऋग्यजुर्मन्त्राणां तानस्वरेण कर्मणि प्रयोगाधिकरणम् ॥८॥]

एवं वा—

इह केचित् त्रैस्वर्येणाधीयन्ते,[3] केचिच्चातुःस्वर्येण । आह । य इमे चातुःस्वर्येणाधीयते,[4] किं तु उदात्तानुदात्तस्वरितेभ्योऽधिकमपरं स्वरं कुर्वन्ति । नेत्याह । तेषामप्येत एव स्वराः, येऽन्येषाम् । किं नु कुर्वन्ति ? एकं स्वरान्तरमुत्क्रम्याधीयते[4]।

साम की आकांक्षा नहीं करती । इसलिये ही सामवेद में 'उपतिष्ठते वा, स्तौति वा' ऐसा कहने पर प्रगीता ऋचा में ही ज्ञान होता है, अप्रगीता में नहीं ।

(आक्षेप) यदि प्रगीता ऋचा में ही प्रकरण से ज्ञान होता है तो वचनसामर्थ्य से अप्रगीता में भी प्रतीति होती है । अप्रगीता ऋक् भी शाखान्तर में पठित है, वह प्रकरण को बांधकर वाक्य के द्वारा प्रवृत्त होगी ।

(समाधान) वाक्य से ऋक् का ग्रहण नहीं होगा । यह प्रतीकग्रहण है । 'अयं सहस्रमानवः' इस से पुनः प्रकृत ऋचा का वाचक मुख्य ऋक् शब्द है । तुम्हारे पक्ष में प्रतीकग्रहण लक्षणार्थ होवे । श्रुति और लक्षणा के संशय में श्रुति न्याय्य है, लक्षणा नहीं । इसलिये प्रगीता ऋक् = साम से उपस्थान करना चाहिये ॥३१॥

अथवा इस प्रकार—

व्याख्या—यहां पर कुछ वेदपाठी त्रैस्वर्य से अध्ययन करते हैं और कुछ चातुःस्वर्य से । (आक्षेप) जो चातुःस्वर्य से अध्ययन करते हैं किन्तु उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तीन स्वर से अधिक स्वर करते हैं (समाधान) नहीं, ऐसा नहीं । उनके भी ये ही स्वर हैं, जो अन्यों के हैं । तो फिर क्या करते हैं ? एक स्वरान्तर को उत्क्रमण करके अध्ययन करते हैं ।

---

१. 'प्रगीतायाः' इति पाठान्तरम् ।

२. 'प्रतीकग्रहणमस्य लक्षणार्थं स्यात्' इति पाठान्तरम् ।

३. 'आम्नायन्ते-अधीयते-इति च' इति पाठान्तरम् ।

४. 'अधीयन्ते' इति पाठान्तरम् ।

तत्र सन्देहः। किं समुच्चयस्त्रैस्वर्यादीनामुत विकल्प इति। किं प्राप्तम्? सर्वाङ्गोपसंहारित्वात्प्रयोगवचनस्य, समुच्चय इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

अर्थैकत्वाद् विकल्पः स्याद् ऋक्सामयोस्तदर्थत्वात् ॥३०॥ (पू०)

अर्थैकत्वाद् विकल्पः स्यात्। एकोऽर्थः सर्वेषां त्रैस्वर्यादीनामध्ययननिर्वृत्तिः। तस्माद् विकल्पः ॥३०॥

वचनाद् विनियोगः स्यात् ॥३१॥ (सि०)

वचनमिदं भवति स्मृत्यनुमितम्[1]—**तानो यज्ञकर्मणि** इति। तस्मात्तानेन प्रयोगः कर्तव्यः। अथ त्रैस्वर्यादीनां किमर्थं समाम्नानमिति? उच्यते। अर्थावबोधनार्थं भविष्यति ॥३१॥

—:०:—

[योनिसाम्न उत्तरावर्णवशेनोत्तरयोर्ऋचोर्गानाधिकरणम् ॥९॥]

इदमाम्नायते—**रथन्तरमुत्तरयोर्गायति यद् योन्यां तदुत्तरयोर्गायति**, कवतीषु

वहां सन्देह है। क्या त्रैस्वर्यों का समुच्चय ही है अथवा विकल्प है? क्या प्राप्त होता है? पयोजनवचन के सब अङ्गों का उपसंहारवाला होने से समुच्चय होगा। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

अर्थैकत्वाद् विकल्पः स्याद् ऋक्सामयोस्तदर्थत्वात् ॥३०॥

सूत्रार्थः—(अर्थैकत्वात्) दोनों के प्रयोजन एक होने से (विकल्पः) विकल्प (स्यात्) होवे (ऋक्सामयोः) ऋक् और साम के (तदर्थत्वात्) एक ही प्रयोजन होने से।

व्याख्या—**दोनों का अर्थ एक होने से विकल्प होवे। एक ही प्रयोजन है त्रैस्वर्यादियों का अध्ययन की निवृत्ति करना। इससे विकल्प होगा ॥३०॥**

वचनाद् विनियोगः स्यात् ॥३१॥

सूत्रार्थः—(वचनात्) वचन से (विनियोगः) विनियोग (स्यात्) होवे।

व्याख्या—**स्मृति से अनुमित यह वचन होता है**—तानो यज्ञकर्मणि। **इसलिये एकश्रुति से प्रयोग करना चाहिये। यदि यज्ञकर्म में एकश्रुति है तो त्रैस्वर्यों का क्यों समाम्नान किया? वह त्रैस्वर्य अर्थ के ज्ञान के लिये होगा ॥३१॥**

—:०:—

व्याख्या—यह पढ़ा जाता है—रथन्तरमुत्तरयोर्गायति (=**रथन्तर साम को**

---

१. स्मृत्यनुमितमिति—'यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु' (पा० सू० १।२।२४) इति व्याकरणस्मृत्यनुमितमित्यर्थः। तान इति च पूर्वाचार्याणामेकश्रुतेः संज्ञा।

रथन्तरं गायति, विराट्सु वामदेव्यं गायति इति । तत्र सन्देहः । किमुत्तरावर्णवशेन गातव्यं, किं योनिवर्णवशेन ? कथमुत्तरावर्णवशेन गीतं भवति, कथं वा योनिवर्णवशेनेति ? उच्यते । किंचिदुदाहरणं गृहीत्वा व्याख्यास्यामः । यदा तावद् वृद्धं तालव्यमाई भवति इति, योनौ यस्मिन् भाग[1] आईभावः कृतस्तस्मिन्नेव भाग उत्तरासु, आईभावः क्रियते, ततो योनिवर्णवशेन गीतं भवति । अथ भागान्तरे वृद्धं तालव्यं दृष्ट्वा आईभावः क्रियते, तत उत्तरावर्णवशेन गीतं भवति ।

सामप्रदेशे विकारस्तदपेक्षः स्याच्छास्त्रकृतत्वात् ॥३२॥ (पू०)

किं पुनरत्र कर्तव्यम् ? योनिवर्णवशेनेति । कथम् ? यावति भाग एकारस्य योनावाईभावः कृतस्तत्र[2] विचारयामः । किं तत्र कृतमिति ? एकारो नोच्चारितः, इकाराकारावागमिताविति । एवं चेदुत्तरास्वपि तावत्येव भागे यो वर्णः, स

उत्तर ऋचाओं में गान करता है), यद् योन्यां तदुत्तरयोर्गायति (=जो योनिभूत ऋचा में गाता है, वही उत्तर दो ऋचाओं में गाता है), कवतीषु रथन्तरं गायति (=क वाली ="कया नश्चित्र" आदि ऋचाओं में रथन्तर का गान करता है), विराट्सु वामदेव्यं गायति (=विराट् छन्द में वामदेव्य का गान करता है) । इसमें सन्देह है—क्या उत्तरा ऋक् के जो वर्ण हैं, उनके अनुसार गान करना चाहिये अथवा योनिभूत जो ऋचा है, उसके वर्णवश से ? उत्तरा ऋचा के वर्ण के अनुसार कैसे गान होता है और योनिभूत ऋचा के वर्णवश से कैसे? (समाधान) कुछ उदाहरण लेकर इसका व्याख्यान करेंगे । जब वृद्धं तालव्यमाई भवति (वृद्ध तालव्य 'आई' होता है) योनिभूत ऋचा में जिस भाग में सामगान में आईभाव किया है, उसी भाग में उत्तरा ऋचा में आईभाव किया जाता है, तब योनिभूत ऋचा के वर्ण के अनुसार आईभाव गाया जाता है । और यदि भागान्तर में वृद्ध तालव्य वर्ण को देखकर आईभाव किया जाता है, उससे उत्तर ऋचा के वर्ण के अनुसार गीत होता है ।

सामप्रदेशे विकारस्तदपेक्षः स्यात् शास्त्रकृतत्वात् । ३२॥

सूत्रार्थः—(सामप्रदेशे) साम के अतिदेश में (विकारः) आईभावादिलक्षण विकार (तदपेक्षः) योनिभूत ऋचा की अपेक्षा (स्यात्) होवे, (शास्त्रकृतत्वात्) शास्त्र के द्वारा किया होने से । शास्त्र में कहा है—यद् योन्यां गायति तदुत्तरयोर्गायति =जो योनिभूत ऋचा में गान करता है, वही उत्तरा ऋचा में गान करता है ।

व्याख्या—यहाँ क्या करना चाहिए ? योनिभूत ऋचा के वर्ण के अनुसार । कैसे ? जितने भाग में एकार को योनिभूत ऋचा में आईभाव किया है, उस को विचार करते हैं । वहाँ पर क्या किया है ? वहाँ एकार का उच्चारण नहीं किया है । ईकार और आकार का आगम किया है अर्थात् उसके स्थान पर ईकार और आकार का आगम किया है । यदि ऐसा

---

१. 'सामभागे' इति पाठान्तरम् ।

२. द्र० — ९।१।१७,५०॥

नोच्चारयितव्यः। इकाराकारावागमयितव्याविति। एवं, यद् योन्यां तदुत्तरयोर्गीतं भवति। तस्माद् योनिवर्णवशेन गातव्यमिति। अपि चैवं गीतिर्न प्रणङ्क्ष्यति। इतरथा क्वचित्प्रणश्येत्। यत्र महती गीतिरल्पेष्वक्षरेषु गीयते। तत्र व्यक्तं प्रणश्यति यद्युत्तराक्षरवशेन क्रियते। तस्माद् योन्यक्षरवशेन कर्तव्यम्।

अपि च क्वचित् क्रम उपरुध्यते, यत्राक्रम आईभावभाग्वर्णं आर्षं च क्वचिदुपरुध्यते। यत्र प्राकृत आगमो नैवं क्रियते, तत्र स्वाध्यायकाले गानेन च कर्मकालं गानमविरुद्धं कर्तव्यम्। तस्माद्योन्यक्षरवशेन कर्तव्यमिति। सामप्रदेशे विकार आईभावादि। तदपेक्षो योन्यपेक्षः। एतच्छास्त्रेण कृतं—यद् योन्यां तदुत्तरयोः इति। यावति सामभागे योनावाईभावः कृतस्तावत्येवोत्तरासु कर्तव्यः ॥३२॥

वर्णे तु बादरिर्यथाद्रव्यं द्रव्यव्यतिरेकात् ॥३३॥

उत्तरावर्णवशेन कर्तव्यं बादरिर्मन्यते स्म, न योनिभागवशेन। कुतः?

है तो उत्तरा ऋचा में उतने ही भाग में जो वर्ण है, उसका उच्चारण नहीं करना चाहिये, उस के स्थान पर ईकार और आकार का आगम करना चाहिये। ऐसा मानने पर जो योनि में गान करता है, वही उत्तरा में भी गान होता है। इसलिये योनि के वर्ण के अनुसार गान करना चाहिये। और भी, गीति का नाश नहीं होगा, अन्यथा कहीं गीति नष्ट हो जावे। जहाँ पर बड़ा गान अल्प अक्षरों में गाया जाता है, वहाँ पर गान व्यक्त ही नष्ट होगा, यदि उत्तरा योनि के अक्षरों के अनुसार किया जाता है। इसलिये योनि के अक्षर के अनुरूप करना चाहिये।

और कहीं पर क्रम का उपरोध होता है, जहाँ पर बिना क्रम के आईभाववाला वर्ण है। कहीं आर्ष (अध्ययन काल में किया गान) उपरुद्ध होता है। जहाँ पर प्राकृत आगम नहीं किया जाता, वहाँ स्वाध्यायकाल में गान से कर्मकाल में गान विरुद्ध करना होता है। इसलिये योन्यक्षर-वश से ही उत्तरा ऋचाओं में गान करना चाहिये। सामप्रदेश में विकार आईभाव आदि है। उसके योग्य गान करना चाहिये। यह शास्त्र ने कहा है—यद् योन्यां गायति तदुत्तरयोर्गायति (=जो योनि में गान करता है, वह उत्तरा में गान करता है)। योनिभूत ऋचा में जहाँ आईभाव किया है, उतने भाग में उत्तरा ऋचा में भी करना चाहिये ॥३२॥

वर्णे तु बादरिर्यथाद्रव्यं द्रव्यव्यतिरेकात् ॥३३॥

सूत्रार्थः—(बादरिः) बादरि आचार्य (वर्णे) वर्ण में (तु) ही आईभाव मानता है (यथाद्रव्यम्) जैसे द्रव्य में (द्रव्यव्यतिरेकात्) द्रव्य के भिन्न होने से।

व्याख्या—उत्तरा ऋचा के वर्ण के अनुसार आईभाव करना चाहिये, यह बादरि आचार्य मानते हैं, योन्यपेक्ष नहीं। किस कारण? जो प्राकृत आईभाव किया है, वह आगम

योऽसौ प्रकृतावाईभावः कृतो नासावागमः। न च तत्रैकारलोपः। किं[1] तर्ह्येकारो नाम। अवर्णम्, इवर्णं च। अवर्णं संवृतम्, इवर्णं विवृतम्। उभे अपि च दीर्घे। ताभ्यामसाधुभ्यां संध्यक्षरं साधु जन्यते। तत्र प्रकृतावकारेकारौ विश्लेषितौ, नापूर्वावागमितौ। गुणस्तु तयोः कश्चिदपूर्वः कृतः। सर्वत्रात्र प्रमाणं प्रत्यक्षम्। तद्यत्र, तावति भागेऽन्यो वर्णो भवति, न संध्यक्षरं, तत्र संश्लेषाभावे विश्लेषो न शक्यः कर्तुम्। अन्यस्मिन् भागे यत्र संध्यक्षरं भवति, तत्र तद्वशाद्विश्लेषः क्रियते। एवं यद्योन्यां तदुत्तरयोः कृतं भवति। योन्यां हि संश्लिष्टयोर्विश्लेषः कृतः। इहापि संश्लिष्टयोर्विश्लेषः। इतरथा व्यतिरिक्तं कल्पितं स्यात्। अथ यदुक्तं, गीतिः प्रणङ्क्ष्यतीति। न प्रणङ्क्ष्यतीति। विरामं[2] कृत्वाऽनक्षरं गायिष्यते। संश्लेषाभावाच्चाशक्यो विश्लेषः कर्तुम्। आर्षक्रमौ नोपरोत्स्येते[3] ॥३३॥

—:०:—

[उत्तरयोः स्तोभातिदेशाधिकरणम् ॥१०॥]

स्तोभस्यैके द्रव्यान्तरे निवृत्तिमृग्वत् ॥३४॥ (पू०)

नहीं है। जहाँ आईभाव किया है, वहाँ एकार का लोप नहीं है। एकार क्या है? अवर्ण और इवर्ण एकार हैं। उसमें अवर्ण संवृत है और इवर्ण विवृत है और ये दोनों दीर्घ वर्ण हैं। उन अशुद्ध अक्षरों से सन्ध्यक्षर उत्पन्न होता है। प्रकृत में आकार और इकार दोनों को मिलाया है, इनका अपूर्व आगम नहीं किया है। कहीं पर अपूर्व गुण भी किया है। यहाँ पर सर्वत्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। जहाँ पर उतने भाग में अन्य वर्ण होता है, सन्ध्यक्षर नहीं होता, वहाँ पर संश्लेष न होने से विभाग नहीं कर सकते, और अन्य भाग में जहां पर सन्ध्यक्षर होता है, वहां सन्धि के वश से विश्लेष किया जाता है। इस प्रकार जो योनि में आईभाव है, वह किया जाता है। योनि में संश्लिष्टों का विश्लेष किया है, यहाँ भी उसी प्रकार संश्लिष्ट का ही विश्लेष होगा। अन्यथा भिन्न कल्पना होवे। और जो कहा है कि गीति नष्ट होगी, तो नष्ट नहीं होगी। विराम करके विना अक्षर के ही गान करेंगे। संश्लेष न होने से विश्लेष आईभाव भी नहीं किया जा सकता। ऐसा करने से आर्ष पाठ और क्रमपाठ दोनों का उपरोध होगा ॥३३॥

—:०:—

स्तोभस्यैके द्रव्यान्तरे निवृत्तिमृग्वत् ॥३४॥

सूत्रार्थः—(एके) कुछ आचार्य (स्तोभस्य) स्तोम का भी (द्रव्यान्तरे) द्रव्यान्तर में (निवृत्तिम्) निवृत्ति मानते हैं (ऋग्वत्) ऋक् के समान।

---

१. 'किं तर्ह्येकारो नाम बादरिर्मन्यते स्म' इति पाठान्तरम्।

२. 'विनामं' इति पाठान्तरम्। ३. 'नोपरुध्येते' इति पाठान्तरम्।

कवतीषु रथन्तरं गायति, रथन्तरमुत्तरयोर्गायति, यद् योन्यां तदुत्तरयोर्गायति इति। तत्रोत्तरावर्णवशेन गातव्यमित्येतत्समधिगतम्। अथेदानीमिदं संदिह्यते—किं स्तोभाः प्रदिश्यन्ते, नेति। किं प्राप्तम्? न प्रदिश्यन्त इति। कुतः? गीतिर्हि साम, न स्तोभाः। या गीतिः सा प्रदिश्यते। **यद् योन्यां तदुत्तरयोर्गायति** इति गायतिशब्दसम्बन्धात्। अपि च, ऋक्शब्दार्थैरसंबध्यमानः स्तोभोऽनर्थकः स्यात्। तस्मादपि न प्रदिश्येत, अपि च, क्वचिद् भवति वचनम्—ऐन्द्रयामवभृथसाम गायति इति। तत्रानुपपत्तिर्भवेत्। शीतकर्मा हीन्द्रो वाक्यशेषेभ्योऽवगम्यते। तस्य तपतीत्यनेन सम्बन्धो न स्यात्। तस्मात् स्तोभस्य ऋगन्तरे निवृत्तिः। यथा, ऋगक्षराणामगीतित्वान्निवृत्तिरेवं स्तोभाक्षराणामपीति ॥३४॥

सर्वातिदेशस्तु सामान्याल्लोकवद्विकारः स्यात् ॥३५॥ (सि०)

नैतदस्ति, स्तोभानां निवृत्तिरिति। सर्वातिदेशो[1] भवति। ऋक्स्तोभस्वर-

---

व्याख्या—कवतीषु रथन्तरं गायति (=क वाली 'कया नश्चित्र०' ऋचाओं में रथन्तर का गान करता है), रथन्तरमुत्तरयोर्गायति (=रथन्तर को उत्तर दो ऋचाओं में गाता है), यद् योन्यां गायति तदुत्तरयोर्गायति (=जिस साम को योनिभूत ऋचा में गाता है, उसको उत्तर दो ऋचाओं में गाता है)। पहले अधिकरण से यह जाना गया कि उत्तरा ऋचाओं के वर्ण के अनुसार गान करना चाहिये। अब यह सन्देह होता है कि स्तोभों का भी अतिदेश होता है वा नहीं? क्या प्राप्त होता है? अतिदेश नहीं होता। किस कारण से? गीति का नाम साम है, स्तोभ गीति नहीं है। जो गीति है, उसका अतिदेश होता है, यद् योन्यां गायति तदुत्तरयोर्गायति वचन में 'गायति' का सम्बन्ध होने से। और भी, ऋक् शब्द के साथ सम्बन्ध होने से स्तोभों का अतिदेश नहीं होता, क्योंकि स्तोभ अनर्थक हैं। अनर्थक होने से भी उनका अतिदेश नहीं होगा। और भी कहीं वचन होता है—ऐन्द्रयामवभृथसाम गायति (=ऐन्द्री ऋचा में अवभृथ साम का गान करता है)। वहाँ पर उपपन्न नहीं होगा। इन्द्र शीतकर्मा है, यह वाक्यशेष से जाना जाता है। उसका 'तपति' के साथ सम्बन्ध न होवे। इसलिये स्तोभ के ऋगन्तर में निवृत्ति होती है अर्थात् अतिदेश नहीं होता। जैसे ऋगक्षरों की गीति का निवर्त्तन होता है (पूर्व अधिकरण के अनुसार), इसी प्रकार स्तोभाक्षरों की भी निवृत्ति होगी ॥३४॥

सर्वातिदेशस्तु सामान्याल्लोकवद् विकारः स्यात् ॥३५॥

सूत्रार्थः—(तु) तु शब्द पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (सर्वातिदेशः) सबका स्तोभ सहित (अतिदेशः) अतिदेश होता है (सामान्यात्) स्वर ताल आदि के समान होने से (लोकवत्) लोक के समान (विकारः) विकार (स्यात्) होवे।

व्याख्या—स्तोभों की निवृत्ति होती है, यह नहीं है। सब का अतिदेश होता है।

---

१. 'सर्वातिदेशो हि' इति पाठान्तरम्।

कालाभ्यासविशिष्टाया गीतेः सामशब्दो वाचकः । कथमवगम्यते ? तत्र प्रयोगात् । यदि स्तोभा निवर्तेरन्, तत्कृतो विशेषो नोपसंगृहीतः स्यात् । तत्र शब्दो बाध्येत । तस्मात् स्तोभाः प्रदिश्येरन् । तत्तूक्तम्, ऋक्शब्दार्थैरसम्बध्यमानाः स्तोभा अनर्थका भवेयुः । अत्र ब्रूमः । लोकवत् । नानर्थका भविष्यन्ति । तद्यथा लोके गायनैरङ्ग-वस्तुकानि यानि नाम प्रक्षिप्यन्ते, तानि गीतिकालगणनार्थानि, नार्थसम्बन्धायो-च्चार्यन्ते । सुखं ह्यक्षरैर्गीतिकालः परिच्छिद्यते । तद्वदिहापि कालपरिच्छेदार्थानि स्तोभाक्षराण्यनुवर्तेरन्निति ।।३५।।

अन्वयं चापि दर्शयति ।।३६।।

अन्वयतश्चापि स्तोभान् दर्शयति । यत्राऽऽर्चिकानि पदानि निवर्तन्ते, स्तोभा गेह्याश्चानुयन्तीति । स्तोभाः—स्तोभा एव । गेह्याः—स्वराः । तस्मादपि स्तोभाः प्रदिश्यन्ते ।।३६।।

निवृत्तिर्वाऽर्थलोपात् ।।३७।।

साम शब्द ऋक्, स्तोभ, स्वर, काल और अभ्यासविशिष्ट गीति का वाचक है । यह कैसे जाना जाता है ? इस विशिष्टार्थ में प्रयोग होने से । यदि स्तोभों की निवृत्ति करदें तो स्तोभों से होनेवाला विशेष संगृहीत नहीं होगा । वहां शब्द की बाधा होवे । इससे स्तोभ भी प्रदिष्ट =अतिदिष्ट होवें । यहां कहते हैं—लोकवत् = लोक के समान अनर्थक नहीं होते । जैसे लोक में गान की शोभा के लिये गायकों के द्वारा अनर्थक वर्ण भी प्रयुक्त होते हैं, वे गीति में काल की गणना के लिये होते हैं । उसी प्रकार यहाँ पर भी काल के परिच्छेद=पूर्ति के लिये स्तोभ के अक्षरों का अनुवर्तन होगा ।।३५।।

अन्वयञ्चापि दर्शयति ।।३६।।

सूत्रार्थः—(च) और स्तोभाक्षरों का (अन्वयम्) अन्वय (अपि) भी (दर्शयति) दिखाता है कि स्तोभों का प्रयोग होता है ।

व्याख्या—अन्वय से भी स्तोभों को दर्शाता है । जैसे ऋक् के पद निवृत्त हो जाते हैं, स्तोभ और गेह्य अनुवृत्त होते हैं । स्तोभ 'स्तोभ' नाम से प्रसिद्ध हैं (ये प्रायः अनर्थक होते हैं) और गेह्य स्वर कहाते हैं । इससे भी स्तोभों का अतिदेश होता है ।।३६।।

निवृत्तिर्वाऽर्थलोपात् ।।३७।।

सूत्रार्थः—(अर्थलोपात्) अर्थ के लोप होने से (निवृत्तिः) स्तोभों की निवृत्ति होती है ।

वाशब्दात् पक्षो विपरिवर्तते[1]। निवृत्तिः, अग्निष्टपति इत्येवंजातीयकानां स्तोभानाम्। शीतकर्मा हीन्द्रो वाक्यशेष उपलभ्यते। न तेनैवंजातीयकाः स्तोभाः सम्बध्येरन्निति। अन्वयात् सम्बध्यन्ते लोकादिति यदुक्तं, तत् परिहर्तव्यम् ॥३७॥

अन्वयो वाऽर्थवादः स्यात् ॥३८॥

अन्वीयुर्वा एवंजातीयकाः स्तोभाः। न हि वयमिन्द्ररूपं प्रत्यक्षमुपलभामहे। यच्च वाक्यशेषवचनं, सोऽर्थवादः ॥३८॥

—:०:—

[स्तोभानां लक्षणाधिकरणम् ॥११॥]

अथ कः स्तोभो नाम, तस्य लक्षणं कर्तव्यम्। उच्यते—

अधिकं च त्रिवर्णं च जैमिनिः स्तोभशब्दत्वात् ॥३९॥ (सि०)

व्याख्या—'वा' शब्द के प्रयोग से पक्ष परिवर्तित होता है। 'अग्निष्टपति' आदि स्तोमों की निवृत्ति होती है अर्थात् अनुवर्तन नहीं होता। इन्द्र शीतकर्मा है, यह वाक्य से उपलब्ध होता है। उसके साथ इस प्रकार के स्तोम सम्बद्ध नहीं होंगे ॥३७॥

लोक के समान अन्वय से सम्बद्ध होते हैं, यह जो कहा, उसका परिहार करना चाहिये—

विशेष—पैंतीसवें सूत्र के भाष्य में 'तद्यथा लोके' द्वारा जो कहा, उसकी ओर यह संकेत है।

अन्वयो वार्थवादः स्यात् ॥३८॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पक्ष की व्यावृत्ति के लिये है। (अर्थवादः) अर्थवाद इस प्रकार (अन्वयः) अनुगत (स्यात्) होवे।

व्याख्या—इस प्रकार के स्तोम अनुगत होवें। हम इन्द्र के रूप को प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं करते अर्थात् वह शीतकर्मा है वा तपतिकर्मा। और 'शीतकर्मा इन्द्रः' यह जो वाक्यशेष है, वह अर्थवादमात्र है ॥३८॥

—०—

व्याख्या—स्तोभ नाम किसका है, उसका लक्षण करना चाहिये। उसे कहा जाता है—

अधिकञ्च त्रिवर्णञ्च जैमिनिः स्तोभशब्दत्वात् ॥३९॥

सूत्रार्थः—(जैमिनिः) जैमिनि आचार्य मानते हैं कि (अधिकम्) जो ऋगक्षरों से

---

१. 'विनिवर्तते' इति पाठान्तरम्।

य ऋगक्षरेभ्योऽधिकः, न च तैः सवर्णः स स्तोभो नाम। ईदृशे हि लौकिकाः स्तोभशब्दमुपचरन्तीति। तद्यथा, देवदत्तेन सभायां परं प्रलपता बहुस्तोभं कथितमिति। यदर्थवचनेभ्योऽधिकं विवर्णं च तदालोच्यैवं वक्तारो भवन्ति।

लक्षणकर्मणः प्रयोजनं न वक्तव्यम्। लक्षणकर्मणो हि तदेव प्रयोजनं, यल्लक्षितो भविष्यतीति। किमर्थमुभयं सूत्रितम्? नन्वन्यतरत् पर्याप्तम्,अधिकमिति वा विवर्णमिति वेति। नेत्याह। भवति हि किंचिदधिकं, न विवर्णम्। यथा, अभ्यासः श्वाद्रिः श्वाद्रिरिति। तथा किंचिद् विवर्णं नाधिकम्। यथा विकारः, ओ ग्ना ई, इति। तस्मादुभयं सूत्रयितव्यमिति ॥३९॥

—०—

[प्राकृतव्रीह्यादिस्थानापन्नेषु नीवारादिषु व्रीह्यादिधर्माणामूहेनानुष्ठानाधिकरणम् ॥१२॥]

वाजपेये श्रूयते—**बार्हस्पत्यं चरुं नैवारं सप्तदशशरावं निर्वपति** इति। अस्ति च प्रकृतौ व्रीहिषु प्रोक्षणम्। तन्नीवारेषु भवति, न वेति संशयः। तथा, उद्गीथा वा एतर्हि वाग्भवति यर्हि पृष्ठ्यः षडहः संतिष्ठते, न बहु वदेत्, नान्यं पृच्छेत्,

---

अधिक (च) और (विवर्णम्) भिन्नवर्ण होता है, वह स्तोम कहाता है। (स्तोभशब्दत्वात्) इसी अर्थ में लोक में स्तोम शब्द का प्रयोग होने से।

व्याख्या—जो ऋगक्षरों से अधिक है और उनके समान वर्ण नहीं है, वह स्तोभ कहाता है। इस प्रकार के शब्द में ही लौकिक स्तोभ शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसे 'देवदत्त ने सभा में बहुत प्रलाप करते हुए बहुत स्तोभ का प्रयोग किया'। जो अर्थवचन से अधिक अर्थात् जितना कहना चाहिये, उससे अधिक, और असम्बद्ध वर्ण, उस को विचार करके वक्ता उक्त वचन कहते हैं।

लक्षण कर्म का प्रयोजन नहीं कहना चाहिये। लक्षणकर्म का यही प्रयोजन है कि उसके द्वारा जो लक्षित होता है। 'अधिकम्' और 'विवर्णम्' ये दोनों सूत्र में क्यों पढ़े हैं? दोनों में से एक पर्याप्त है—'अधिकम्' अथवा 'विवर्णम्'। ऐसा नहीं है। कुछ अधिक होता है, परन्तु वह विवर्ण=असम्बद्ध नहीं होता। जैसे अभ्यास—'श्वाद्रिः श्वाद्रिः'। इसी प्रकार कुछ भिन्न वर्णवाला है, अधिक नहीं है, जसे—ओग्नाइ। इसलिये दोनों ही पद सूत्र में होने चाहिये ॥३९॥

—:०:—

व्याख्या—वाजपेय में सुना जाता है—बार्हस्पत्यं चरुं नैवारं सप्तदशशरावं निर्वपति (=बृहस्पति देवतावाले १७ शरावों में पकाये हुए नीवार के चरु का निर्वाप करे)। प्रकृति में=दर्शपौर्णमास में व्रीहि में प्रोक्षण कहा गया है, वह नीवारों में होता है या नहीं, यह संशय है। तथा उद्गीथवाली यह वाक् होती है, जो पृष्ठ्य षडहों में नहीं बोली

नान्यस्मै ब्रूयात् । संस्थिते षडहे मध्वाशयेत्, घृतं वा—इति मध्वशने घृताशने च षडहधर्मा भवन्ति वा न भवन्तीति संशयः । तथा राजसूये श्रूयते—**नैर्ऋतं चरुं नखावपूतानां परिवृक्त्यै गृहे**[1] इति । अस्ति प्रकृतावुलूखलमुसलयोः प्रोक्षणम्—**प्रोक्षिताभ्यामुलूखलमुसलाभ्यामवहन्ति** इति । तन्नखेषु भवति, न भवतीति संशयः । तथा चातुर्मास्येषु श्रूयते—**परिधौ पशुं नियुञ्जीत** इति । परिधौ यूपधर्माः कर्तव्या न कर्तव्या इति संशयः । तथा—**न गिरा गिरेति ब्रूयाद् यदि गिरा गिरेति ब्रूयादात्मानं तदुद्गातोद्गिरेदैरं कृत्वोद्गेयम्** इति । इरापदे गिरापदधर्मा भवन्ति, न भवन्तीति संशयः । किं तावत् प्राप्तम् ?

व्रीह्यादिषूक्ता धर्मा न नीवारादिषु । तस्मात्तेषु न भवेयुरिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

धर्मस्यार्थकृतत्वाद् द्रव्यगुणविकारव्यतिक्रमप्रतिषेधे चोदनानुबन्धः समवायात् ॥४०॥ (सि०)

जाती । बहुत न बोले, अन्य से न पूछे, इसको दूसरे से न कहे । षडह के समाप्त होने पर शहद खावे, अथवा घृत खावे, ऐसा मधु के खाने में अथवा घृत के खाने में षडह के धर्म होते हैं वा नहीं, यह संशय है । और राजसूय में सुना जाता है—नैर्ऋतञ्चरुं नखावपूतानां परिवृक्त्यै[2] गृहे (=निर्ऋति देवतावाले चरु को नख से छीले गये परिवृक्ति संज्ञक पत्नी के घर में) । प्रकृति में उलूखल और मूसल का प्रोक्षण कहा (तुष-विमोचक ऊलूखल-मूसल का प्रोक्षण कहा) । प्रोक्षिताभ्यामुलूखलमुसलाभ्यामवहन्ति (=प्रोक्षित उलूखल-मुसलों से व्रीहि का अवहनन करता है) । वह प्रोक्षण नखों में होता है या नहीं होता है, यह संशय है । तथा चातुर्मास्य में सुना जाता है—परिधौ पशुं नियुञ्जीत (=परिधि में पशु को बांधे)। यहां परिधि में यूप धर्म करने चाहिये वा नहीं करने चाहिये, यह संशय है । तथा—न गिरा गिरेति ब्रूयाद यदि गिरा गिरेति ब्रूयाद आत्मानं तदुद्गातोद्गिरेद् ऐरं कृत्वोद्-गेयम् (='गिरा गिरा' ऐसा नहीं बोले, यदि गिरा गिरा बोले तो आत्मा को गिरा दे, गिरा के स्थान पर 'ऐरम्' पद का गान करे) । यहाँ पर इस पद में गिरा पद के धर्म होते हैं या नहीं होते, यह संशय है । तो क्या प्राप्त होता है ?

व्रीहि आदि में कहे गये धर्म नीवार आदि में नहीं होते । इसलिये उनमें नहीं होंगे । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

धर्मस्यार्थकृतत्वाद द्रव्यगुणविकारव्यतिक्रमप्रतिषेधे चोदनानुबन्धः समवायात ॥४०॥

सूत्रार्थः—(धर्मस्य) धर्म के (अर्थकृतत्वात्) अर्थकृत प्रयोजन होने से (द्रव्यगुणविकार-

---

१. क्वचिद् 'ग्रहे' पाठो दृश्यते ।

२. राजा की मध्यम पत्नी 'परिवृक्ति' कहाती है ।

नीवारादिषु चोदनानुबन्धः स्यात् । समवैति हि तेषु स प्राकृतो धर्मः । प्रकृतौ तावदपूर्वप्रयुक्तोऽसौ[1], न व्रीह्यादिप्रयुक्तः । येनापूर्वस्य विशिष्टोऽयं साधनविशेषस्तत्रैष धर्मो न व्रीह्यादाविति समधिगतमेतत् । नीवारादयश्च व्रीह्यादिकार्यकारिण इत्यवगम्यते । नीवारस्य तावच्चोदना[2]—**नैवारश्चरुः कर्तव्य** इति । स च नान्येन प्रकारेण नीवारो यागस्योपकरोति वर्जयित्वा तण्डुलनिवृत्तिम् । स प्रत्यक्षेणावगम्यते व्रीहिकार्ये वर्तत इति । तस्माद् व्रीहिधर्मा नीवारे भवेयुरिति ।

एवं **षडहेनोपासीत** इति चोदनायां सत्यां यदा षडहः संतिष्ठते, न षडहेनोपास्यत इत्यर्थः । मधुघृताभ्यामशनेनोपासीतेति[3] गम्यते । यस्य भावे यस्य निर्वृत्तिस्तत्तस्य स्थानेऽवगम्यते । षडहनिवृत्तौ मध्वशनं ब्रुवन् षडहकार्ये वदतीति गम्यते । तस्मात् षडहधर्मो व्रतं नियमो वा मध्वशने भवतीति । यागाभावात्तन्निमित्ता ग्रहा न प्रवर्तन्ते । ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकरोतीति ग्रहचमसाभावात्

व्यतिक्रमप्रतिषेधे) द्रव्य गुण विकार व्यतिक्रम के प्रतिषेध में (चोदनानुबन्धः) चोदना का अनुबन्ध होता है (समवायात्) उनमें समवेत होने से ।

व्याख्या—नीवार आदि में चोदना का अनुबन्ध होता है अर्थात् चोदना के कहे गये कार्य किये जाते हैं । उनमें प्राकृत धर्म समवेत होना है । प्रकृति में यह धर्म अपूर्व से प्रयुक्त है, व्रीहि आदि से प्रयुक्त नहीं है । जिस कारण अपूर्व से विशिष्ट साधनविशेष है, उसमें ही यह धर्म होगा, केवल व्रीह्यादि में नहीं, यह जाना गया । नीवार आदि जो द्रव्य हैं, वे व्रीहि आदि के कार्यकारी हैं अर्थात् व्रीहि से जो कर्म करना है, वह नीवार आदि से करना चाहिये, यह जाना जाता है । नीवार की चोदना कही है—नैवारश्चरुः कर्तव्यः । नीवार आदि जो हैं, वे और किसी प्रकार से याग के उपकारक नहीं हैं, तण्डुल के कर्म को छोड़कर । वह प्रत्यक्ष रूप से जाना जाता है कि नैवार व्रीहिकार्य के लिये है, इसलिये व्रीहि के धर्म नीवार में होंगे ।

इसी प्रकार से—षडहेण उपासीत (= षडह से कर्म करे) इस चोदना के होने पर जब षडह समाप्त होता है, षडह कर्म नहीं किया जाता, यह अभिप्राय है । वहां पर मधु और घृत से अशन करे । जिसके होने पर जिसकी निवृत्ति होती है, उसके स्थान पर वह जाना जाता है । षडह की निवृत्ति होने पर मधु का भक्षण कहते हुए षडह कार्य में उसका कथन जाना जाता है । इसलिये षडह का धर्म, व्रत, नियम मधु का अशन होता है । याग के न होने से यागनिमित्त ग्रहों की प्रवृत्ति नहीं होती । ग्रह का ग्रहण करके, चमस का उन्नयन करके स्तोत्र समाप्त करता है, यह ग्रह चमस के अभाव से उनके स्तोत्र का भी अभाव है । स्तोत्र के न होने से स्तोत्र के पश्चात् होनेवाले शस्त्र का अभाव होता है । सवन न होने से

---

१. 'तावद् दर्शपूर्णमासप्रयुक्तोऽसौ' इति पाठान्तरम् ।

२. 'भावचोदना' इति पाठान्तरम् ।　३. 'मधुघृताभ्यामुपासीत' इति पाठान्तरम् ।

स्तोत्राभावः । स्तुतमनुशंसतीति स्तोत्राभावाच्छस्त्राभावः[1] । सवनाभावात् सवनीया न प्रवर्तन्ते, इत्येवमादि न प्रवर्तते । व्रतानि नियमाश्च प्रवर्तन्त इति । यच्चान्यदनर्थलुप्तं, नखावपूतानामिति । नान्यथा नखावपूता भवन्ति । यदि न तैस्तुषा विपूयन्ते, तस्मात् तुषविमोचने नखाः श्रुता इति गम्यते । अतश्चोलूखलमुसलधर्मैः सम्बध्यन्त इति ।

तथा, परिधिर्यूपकार्ये वर्तत इति विस्पष्टमेव वचनम्–परिधौ पशुं नियुञ्जीत[2] इति । तस्मात्तद्धर्मकः परिधिः स्यादिति । तथा न गिरागिरेति ब्रूयादैरं कृत्वोद्गेयमिति नैतौ द्वावपि निधीयेते—प्रतिषेध इरापदं च । तथा हि वाक्यं भिद्येत । न चेरापदमप्राप्तत्वादनूद्यते । प्रतिषेधे त्वनुवादः सम्भवति । यदा, इरापदं तदा व्यक्तं गिरापदं न भवतीति । एकवाक्यरूपं च गम्यते । यस्माद् गिरापदस्यायं दोषस्तस्मादिरापदं ब्रूयादिति । भिन्नवाक्यरूपे त्वाश्रीयमाणे भूयसी अदृष्टानुमानकल्पना स्यात् । न ह्यात्मानं गिरेदिति दोषो विधीयते । शरीरं गिरितुमसंभवः । परमात्मन्यदोषः । वाक्यभेदस्तु स्थित एव । तस्माद् गिरापदोच्चारणमिरापदस्य तत्कार्यापत्तिप्रदर्शनार्थं, न[3] गिरा गिरेति कृत्वोद्गायेदिति । तस्माद् गिरापदधर्मा इरापदे भवेयुरिति । सर्वत्र पर्यवसितम् । परिधावन्तरा कथा वर्तिष्यते ॥४०॥

—०—

सवनसम्बन्धी कर्म भी नहीं होते । ये कार्य प्रवृत्त नहीं होते । व्रत और नियम प्रवृत्त होते हैं । और जो कोई अर्थ लुप्त हो, प्रयोजनाभाव लुप्त हो नखावपूतों का । जब नखावपूत नहीं होते अथवा उन नखों से तुष-विमोक नहीं होता, इससे तुषविमोचन में नख सुने गये हैं ऐसा जाना जाता है । यहां उलूखल और मूसल धर्म से सम्बद्ध होता है ।

तथा परिधि यूप कार्य में कही है, यह स्पष्ट ही वचन है—परिधौ पशुं नियुञ्जीत (=परिधि में पशु को बांधे) इसलिये उस धर्मवाली परिधि होवे । तथा गिरा गिरा दोनों नहीं रखे जाते, प्रतिषेध और इरा पद । ऐसा करने पर वाक्यभेद होता है । अप्राप्त इरा पद का अनुवाद भी नहीं है । प्रतिषेध में तो इरा पद का अनुवाद होवे । जब इरा पद व्यक्त है तो गिरा पद नहीं होता । और एकरूपता भी जानी जाती है । जिस कारण गिरा पद में यह दोष है, इसलिये इरा पद बोले । भिन्न वाक्य की कल्पना में बहुत ही अदृष्ट की कल्पना होगी और गिरा पद के उच्चारण करने पर आत्मा को नहीं गिराता अर्थात् मरण को प्राप्त नहीं होता, यह दोष भी होगा । इसलिये इरा पद का उच्चारण करे । अपने आत्मा को न गिरावे, यह दोष कथन किया गया है । शरीर को तो गिराना=मारना असम्भव है, परन्तु आत्मा में तो दोष होता है । इसमें आत्मदोष तो स्थिर रहता है । इसलिये गिरा पद का उच्चारण इरा पद के कार्य का प्रदर्शन के लिये हैं 'न गिरा गिरेति ब्रूयात्' में । इसलिये गिरा पद के धर्म इरा पद में होवें । सभी में यह कथन समाप्त हो गया । अगला कथन परिधि के विषय में होगा ॥४०॥ —०—

---

१. 'स्तोत्राभावादस्याभावः' इति पाठान्तरम् । २. 'नियुञ्जन्ति' इति पाठान्तरम् ।
३. 'न गिरा गिरेति ब्रूयादैरं कृत्वोद्गायेद्' इति पाठान्तरम्।

[परिधौ यूपधर्माणामाक्षेपसमाधानाधिकरणम् ॥१३॥]

तदुत्पत्तेस्तु निवृत्तिस्तत्कृतत्वात् स्यात् ॥४१॥ (पू०)

चातुर्मास्येष्वाम्नायते—**मध्यमे पर्वणि परिधौ पशुं नियुञ्जीत**' इति । तत्र उक्तं, यूपधर्माः परिधौ कर्तव्या इति । तद्विपरिवर्तते । ते न कर्तव्याः । तदुत्पत्तेः—परिधेराहवनीयपरिधानार्थोत्पत्तेर्यूपधर्मा निवर्तेरन् । तत्कृता हि तेऽपूर्वप्रयुक्तपशुबन्धनद्वारेणापूर्वं गच्छन्ति । तत्र यद् बन्धनस्याङ्गभूतमिति श्रुतं तद् बन्धनार्थमेव द्रव्यमुत्पन्नम् । यच्चाऽऽहवनीयपरिधानार्थमुत्पन्नं, तस्मिन् पराङ्गभूते बन्धनं कृतं भवति न तद्धर्माणां द्वारं भवितुमर्हति । न हि तत्र क्रियमाणाः पशोः कृता भवन्ति, न पाशुकस्य । अपि च, सत्वक्कः परिधिरनुच्छ्रयश्च यूपधर्मैः परिधित्वाद्धीयेत । यूपायाज्यमानय इति च शब्द ऊह्येत । तत्रायं बाधितः स्यात् । तस्मात् परिधौ यूपधर्मा न स्युरिति ॥४१॥

आवेश्येरन् वाऽर्थवत्त्वात् संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥४२॥ (सि०)

तदुत्पत्तेस्तु निवृत्तिस्तत्कृतत्वात् स्यात् ॥४१॥

सूत्रार्थः—(तदुत्पत्तेः) परिधान के लिये यूपधर्मों की (निवृत्तिः) निवृत्ति (स्यात्) होगी (तत्कृतत्वात्) केवल पशुनियोजनार्थ होने से ।

व्याख्या—चातुर्मास्य में सुना जाता है—मध्यमे पर्वणि परिधौ पशुं नियुञ्जीत (=मध्यम=वरुणप्रघास पर्व में परिधि में पशु को बांधे) । वहाँ कहे गये यूपधर्म परिधि में करने चाहियें । वे बदलते हैं । वे नहीं करने चाहियें । उसकी उत्पत्ति से=परिधि के आवहनीय परिधान के लिये उत्पत्ति से यूपधर्म निवृत्त होवें । उसके द्वारा किये गये ही वे अपूर्व पशुबन्धन द्वारा अपूर्व अर्थ को प्राप्त होते हैं । वहां पर जिस बन्धन के अङ्गभूत वह यूपबन्धन श्रुत है, उसके बन्धन के लिये ही द्रव्य उत्पन्न हुआ है । जिस आवहनीय के परिधान के लिये द्रव्य उत्पन्न हुआ है, उसके पराङ्गभूत में बन्धन किया जाता है । वह धर्म की प्राप्ति का द्वार नहीं हो सकता । वहाँ पर परिधि में किये हुए धर्म न पशु के उपकारक होते हैं और न पाशुक कर्म के । और भी, परिधि के त्वचा सहित होने से और खड़ा न किये जाने से यूपकर्मों से हीन हो जाती है । और यूपायाज्यमानय (=यूप के लिये आज्य लाओ) यह शब्द ऊहित करना पड़ता है । और वहाँ पर यह यूप शब्द बाधित होगा । इसलिये परिधि में यूपधर्म नहीं होते ॥४१॥

आवेश्येरन् वार्थवत्त्वात् संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥४२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है । परिधि में यूप

---

१. 'नियुञ्जन्ति' इति पाठान्तरम् ।

आवेश्येरन् वा यूपधर्माः परिधौ। बन्धनोपकारसाधने हि विधीयन्ते। यश्च परार्थो बन्धनं नयति निष्पादयति, करोत्यसौ बन्धनोपकारम्। अयं च संस्कारो बन्धनं निष्पादयति, तदर्थोत्पत्तिमतदर्थोत्पत्तिं वा नापेक्षते। तस्मात् परिधौ यूपधर्माः कर्तव्या इति। यदुक्तम्, अनुच्छ्रयश्च सत्वक्कश्च परिधिरिति। अत्रोच्यते, ये परिधित्वाविरोधिनो यूपधर्मास्ते करिष्यन्ते, न विरुद्धा इति ॥४२॥

आख्या चैवं तदावेशाद् विकृतौ स्याद् अपूर्वत्वात् ॥४३॥

अथ यदुक्तम्-यूपायाज्यमानय इति शब्द ऊहितव्यः स्यादिति। अत्रोच्यते। नोहितव्यो भविष्यति। धर्मावेशादाख्याऽपि यूप इति भविष्यति। धर्मनिबद्धा हि सा यथैव यूपे, तथा परिधावपि भवितुमर्हति। तस्मान्नोहिष्यते यूपशब्द इति ॥४३॥

—:०:—

धर्म (आवेश्येरन्) आविष्ट होवें, प्राप्त होवें (अर्थवत्त्वात्) अर्थवान् होने से (संस्कारस्य) संस्कार के (तदर्थत्वात्) तदर्थ =कर्मार्थ होने से।

व्याख्या—अथवा पूर्वोक्त पक्ष निवृत्त होवे। परिधि में यूपधर्म प्राप्त होवें। वे धर्म बन्धन के उपकारसाधन में विधान किये जाते हैं। जो दूसरे के लिये बन्धन करता है, निष्पन्न करता है, वह बन्धन का उपकार करता ही है। यह संस्कार बन्धन को निष्पन्न करता है। तदर्थ उत्पत्ति या अतदर्थ उत्पत्ति की अपेक्षा नहीं करता। इसलिये परिधि में यूपधर्म करने चाहिये। और जो यह कहा है कि लिटायी हुई और त्वक् सहित परिधि होती है, इस विषय में कहते हैं। जो परिधि के अविरोधी यूपधर्म सम्भव हो सकेंगे, वे यूपधर्म परिधि में किये जायेंगे, विरुद्ध नहीं ॥४२॥

आख्या चैवं तदावेशाद् विकृतौ स्याद् अपूर्वत्वात् ॥४३॥

सूत्रार्थः—(च) और (एवम्) इस प्रकार (आख्या) यूपसंज्ञा भी (तदावेशात्) संस्कार के आविष्ट होने से (विकृतौ) विकृति में (स्यात्) होगी (अपूर्वत्वात्) संस्कार के अपूर्व होने से।

व्याख्या—यह जो कहा कि—यूपायाज्यमानय यह शब्द ऊहित होगा। इस विषय में कहते हैं कि ऊहित नहीं होगा। यूपधर्म के आविष्ट होने से परिधि की यूप आख्या हो जायगी, वह यूपाख्या यूपधर्म से जैसे यूपधर्म में निबद्ध है, वैसे ही परिधि में भी यूप आख्या हो सकती है। इसलिये 'यूपायाज्यमानय' शब्द में यूप शब्द ऊहित नहीं करना होगा ॥४३॥

—:०:—

[अभ्युदयेष्टौ दधिपयसोः प्रणीताधर्मानुष्ठानाधिकरणम् ।।१४।।]

वि वा एनं प्रजया पशुभिरर्धयति, वर्धयत्यस्य भ्रातृव्यं यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति,[1] स त्रेधा तण्डुलान् विभजेत्, ये मध्यमास्तानग्नये[2] दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत् । ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुं, ये क्षोदिष्ठास्तान्[3] विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम् । शृते चरुं दधंश्चरुमित्येतदुदाहरणम् । तत्रायमर्थः सांशयिकः । किं शृते दध्नि प्रणीताधर्माः कर्तव्या उत न कर्तव्या इति । किं प्राप्तम् ? न कर्तव्या इति ।

परार्थे न त्वर्थसामान्यं संस्कारस्य तदर्थत्वात् ।।४४।। (पू०)

परार्थमेतत् प्रदानार्थमिति, न प्रणीतार्थम् । दधि च तण्डुलविभागश्चैको भाग इन्द्राय प्रदात्रे दातव्यः । शृतं च तण्डुलविभागश्च विष्णवे शिपिविष्टाय । न श्रपणार्थं दधि पयो वा विधीयते । तत्र हि सप्तमीसंयोगोऽनुवाद एव । न च[1] प्रणीताकार्ये विधीयते दधि पयो वा । तस्मात् प्रणीतानां[2] धर्मैर्न संयुज्येते । न हि प्रणीतानां दध्नश्चार्थसामान्यं किंचिदस्ति । तदर्थश्चायं संस्कारः श्रपणद्वारकः । तस्मान्न प्रणीताधर्माः पयसि दधनि वा भवेयुरिति ।।४४।।

व्याख्या—वि वा एनं प्रजया पशुभिरर्द्धयति वर्द्धयत्यस्य भ्रातृव्यं यस्य...... शृते चरुम् । **'शृते चरुम्, दध्नश्चरुम्' यह उदाहरण है । यहाँ पर यह अर्थ संशयवान् है । क्या गरम दूध और दही में चरु के धर्म करने चाहिये, अथवा नहीं करने चाहिये ? क्या प्राप्त होता है ? नहीं करना चाहिये ।**

परार्थे न त्वर्थसामान्यं संस्कारस्य तदर्थत्वात् ।।४४।।

सूत्रार्थः—(न) नहीं करना चाहिये (परार्थे) दूसरे के प्रयोजन के लिये विहित होने से (संस्कारस्य) संस्कार के (अर्थसामान्यम्) अर्थ के समान होने से (तदर्थत्वात्) उसी के लिये होने से अर्थात् जिस कार्य के लिये संस्कार किया जाता है, उसी के लिये वह संस्कार होता है ।

व्याख्या—**यह प्रदान के लिये है, प्रणीता के लिये नहीं है । दही और तण्डुल विभाग का एक भाग इन्द्र के लिये देना चाहिये । पका हुआ तण्डुल का एक भाग शिपिविष्ट विष्णु को देने के लिये है, श्रपण के लिये दही और दूध का विधान नहीं किया जाता है । उस वाक्य (शृते चरुम्) में जो सप्तमी का निर्देश है, वह अनुवाद मात्र के लिये है । प्रणीता के कार्य के लिये दही और दूध का विधान नहीं है । इससे प्रणीता के धर्मों से दधि और पय संयुक्त नहीं होते । प्रणीता का और दधि का अर्थसामान्य कुछ भी नहीं है । उसके लिये यह संस्कार श्रपणद्वारवाला हो । इसलिये प्रणीता के धर्म दूध और दही में नहीं होंगे ।।४४।।**

---

१. 'अभ्युदियात्' इति पाठान्तरम् । २. 'मध्यमाः स्युः' इति पाठान्तरम् ।
३. 'येऽणिष्ठाः' इति पाठान्तरम् ।
१. 'न चेत् प्रणीताकार्ये' इति पाठान्तरम् । २. 'प्रणीताधर्मैः' इति पाठान्तरम् ।

क्रियेरन् वाऽर्थनिर्वृत्तेः ॥४५॥ (सि०)

न चैतदस्ति, प्रणीताधर्मा दधिपयसोर्न कर्तव्या इति। श्रपणसाधने हि ते विधीयन्ते न श्रपणार्थमुत्पन्ने द्रव्ये। येनार्थो निवर्तेत। तत्र तेऽपूर्वप्रयुक्तत्वात् क्रियन्ते। क्रियते च दधिपयोभ्यां श्रपणम्। तस्मात् तद्धर्मैः संयोगः स्यात् ॥४५॥

—:o:—

[बृहद्रथन्तधर्माणां व्यवस्थया तत्तत्सामगानकालेऽनुष्ठानाधिकरणम् ॥१५॥]

एकार्थत्वादविभागः स्यात् ॥४६॥ (पू०)

ज्योतिष्टोमे समामनन्ति—बृहत्पृष्ठं भवति, रथन्तरं पृष्ठं भवति इति। व्यक्तो हि बृहद्रथन्तरयोर्विकल्पः। यस्मिन् कार्ये रथन्तरं प्रवर्तते, तस्मिन्नेव कार्ये बृहत्पृष्ठसिद्धिद्वारेण धर्मा विहिताः। तस्माद् बृहद्धर्मा रथन्तरधर्माश्चोभयत्र कर्तव्या इति। बृहद्ग्रहणं च लक्षणार्थं भविष्यति ॥४६॥

क्रियेरन् वा अर्थनिर्वृत्तेः ॥४५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (क्रियेरन्) दूध और दही में प्रणीता के धर्म करने चाहिये। (अर्थनिर्वृत्तेः) अर्थ की निर्वृति होने से।

व्याख्या—यह नहीं है कि प्रणीता के धर्म दही और दूध में न किये जायें। दूध और दही श्रपण के साधन रूप में कहे गये, पकाने के लिये ये द्रव्य नहीं कहे गये। जिससे प्रणीता के धर्म निर्वृत्त होवें। वहाँ प्रणीता के धर्म अपूर्व प्रयुक्त होने से किये जाते हैं। दधि और पय से श्रपण किया जाता है। इसलिये प्रणीता के धर्म से संयोग होवे ॥४५॥

—:o:—

एकार्थत्वाद् अविभागः स्यात् ॥४६॥

सूत्रार्थः—बृहद् और रथन्तर के जो धर्म कहे गये हैं, वे (एकार्थत्वाद्) एक प्रयोजन वाले होने से (अविभागः) विभाग न (स्यात्) होवे।

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में पढ़ा गया है—बृहत्पृष्ठं भवति, रथन्तरं पृष्ठं भवति (=बृहत् पृष्ठ होता है, रथन्तर पृष्ठ होता है)। यहाँ पर व्यक्त ही बृहद् और रथन्तर का विकल्प है। जिस कार्य में रथन्तर प्रवृत्त होता है, उसी कार्य में बृहत् पृष्ठ सिद्धि के द्वारा धर्म विहित हैं। इसलिये बृहत् के धर्म और रथन्तर के धर्म दोनों में करने चाहिये। इस अवस्था में बृहद् ग्रहण लक्षणा के लिये होगा ॥४६॥

निर्देशाद्वा व्यवतिष्ठेरन् ॥४७॥

निर्देशाद्वा, रथन्तरे रथन्तरधर्माः कर्तव्याः। नोच्चैर्गेयं, न च बलवद्गेयम्। रथन्तरे प्रस्तूयमाने संमीलयेत्, स्वर्दृशं प्रतिवीक्षेतेत्येवमादयः। बृहद्धर्माश्च, बृहति उच्चैर्गेयं, बृहति गीयमाने[1] समुद्रं मनसा ध्यायेदित्येवमादयः। एवं निर्देशोऽर्थवान् भविष्यति। इतरथा रथन्तरग्रहणं च बृहद्ग्रहणं च प्रदर्शनार्थं स्यात्। तथा लक्षणा भवेत्। न च श्रुतिसम्भवे लक्षणा न्याय्या।

यदुच्यते, अर्थैकत्वाद् बृहद्रथन्तरयोरिति। सत्यमेकोऽर्थः पृष्ठसिद्धिः। एतदप्यस्ति। अन्यथा बृहता साध्यते पृष्ठम् अन्यथा रथन्तरेणेति। तथा पर्वणि विभज्यमाने द्वावप्युपायौ। यथा—द्वौ पुरुषावन्तयोर्गृहीत्वाऽऽकर्षतः। यद्वा तीक्ष्णेन शस्त्रेण छेदनम्। तत्र यच्छस्त्रस्य तीक्ष्णीकरणं द्रव्यं तच्छेदनाभ्युपाये सम्बध्यते, नाऽऽकर्षणाभ्युपाये तदर्थापन्नेऽपि। एवं बृहद्धर्मा रथन्तरे तदर्थापन्ने भवेयुर्वा न वेति जायते विचारणा। तत्र निर्देशसामर्थ्यादिदमवगच्छामः। अन्यथा बृहत्साधयति। अन्यथा रथन्तरमिति। प्रत्यक्षं खल्वप्यन्यदुपलभामहे। रथन्तरं शूरादिकां

निर्देशाद् वा व्यवतिष्ठेरन् ॥४७॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है। (निर्देशात्) निर्देश होने से (व्यवतिष्ठेरन्) रथन्तर में रथन्तर धर्म और बृहत् में बृहद्धर्म व्यवस्थित होवें।

व्याख्या—अथवा निर्देश से रथन्तर में रथन्तर धर्म करने चाहिये। ऊंचे से गान न करे और बलपूर्वक गान न करे। रथन्तर का गान करते हुए आंखें बन्द करले और 'स्वर्दृशम्' का प्रयोग होने पर आंखें खोले। इत्यादि धर्म कहे हैं। बृहत् के धर्म, बृहत् में ऊंचे से गान करना चाहिये और बृहत् का गान करते समय समुद्र का मन से ध्यान करे, इत्यादि। इस प्रकार निर्देश अर्थवान् होगा। अन्यथा रथन्तर ग्रहण और बृहत् ग्रहण शब्द का प्रयोग. प्रदर्शनार्थ=दिशानिर्देश के लिये होगा। वैसा करने पर लक्षणा करनी होगी। श्रुत्यर्थ के होने पर लक्षणा न्याय्य नहीं।

और जो कहते हो कि बृहत् और रथन्तर दोनों का एक अर्थ है। सत्य है, कि पृष्ठसिद्धि सामगान एक ही प्रयोजन है। यह भी प्रयोजन है—बृहत् से अन्य प्रकार से पृष्ठसिद्धि होती है और रथन्तर से अन्य प्रकार से। पर्व के विभाग करने पर दोनों ही उपाय हैं। जैसे दो पुरुष बीच में से पकड़ कर खींचते हैं, अथवा तीक्ष्ण शस्त्र से दो विभाग करना। इसमें शस्त्र का जो तेज करना है, वह छेदन के उपाय के साथ सम्बद्ध होता है। आकर्षण के उपाय में सम्बद्ध नहीं होता, उसके लिये आकर्षण के होने पर भी। इस प्रकार बृहद्धर्म रथन्तर में पर्वविभाग के साधन होने पर भी होवें या न होवें, पर विचार उत्पन्न होता है। वहां पर निर्देश के सामर्थ्य से हम यह जानते हैं कि पृष्ठ अन्य प्रकार से प्रयोजन को सिद्ध करता है

---

१. 'स्तूयमाने' इति पाठान्तरम्।

संस्तुतिं कुर्वत् पृष्ठं साधयति । बृहत् चित्रादिकाम् । तस्माद् रथन्तरधर्माः शूरादिकायां स्तुतौ निबद्धा रथन्तरे प्रस्तूयमाने भवेयुर्न बृहति । बृहद्धर्मा अपि चित्रादिकायां स्तुतौ निबद्धा बृहति भवेयुः, न रथन्तरे । तस्माद् व्यवस्था धर्माणामिति ॥४७॥

—०—

[कण्वरथन्तरेऽविरुद्धानां बृहद्रथन्तरधर्माणां समुच्चयाधिकरणम् ॥१६॥]

अस्ति वैश्यस्तोमः—**वैश्यो वैश्यस्तोमेन यजेत** इति । तत्रेदमाम्नायते—**कण्वरथन्तरं पृष्ठं भवति** इति । तत्रायमर्थः सांशयिकः । किं कण्वरथन्तरेऽन्यतरस्य रथन्तरस्य बृहतो वा धर्माः कर्तव्या उतोभयोरपीति । किं प्राप्तम् ? अन्यतरस्येति । कुतः ? एवं ह्युक्तम् । रथन्तरस्य राथन्तरा भवन्ति । बृहतो बृहद्धर्माः[1] । निर्देशसामर्थ्यादिति । तद्विशेषेऽनुच्यमाने यावदुक्तं तावत् प्राप्तमिति । तस्मादन्यतरस्य धर्माः कर्तव्या इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

अप्राकृते तद्विकाराद् विरोधाद् व्यवतिष्ठेरन् ॥४८॥ (सि०)

और रथन्तर अन्य प्रकार से । प्रत्यक्ष भी हम अन्य प्राप्त करते हैं । रथन्तर शूरादिका की स्तुति करता हुआ पृष्ठ को सिद्ध करता है और बृहत् चित्रादिका को । इससे रथन्तर धर्म शूरादि की स्तुति में निबद्ध हैं, इसलिये रथन्तर के प्रस्तूयमान होने पर ही होवें । बृहती के प्रस्तूयमान होने पर न होवें । बृहद्धर्म भी चित्रादिका की स्तुति में बृहत् में होवें, रथन्तर में नहीं । इसलिये धर्मों की व्यवस्था होवे ॥४७॥

—०—

व्याख्या—वैश्यस्तोम नाम का कर्म है—वैश्यो वैश्यस्तोमे यजेत (=वैश्य वैश्यस्तोम से यजन करे) । वहाँ पर यह पढ़ा गया है—कण्वरथन्तरं पृष्ठं भवति (=कण्वरथन्तर पृष्ठ होता है) । उसमें यह अर्थ सांशयिक है—क्या कण्वरथन्तर में दोनों में से किसी के धर्म करने चाहिये अथवा दोनों के ? क्या प्राप्त होता है ? किसी एक के । किस हेतु से ? ऐसा कहा है—रथन्तर के राथन्तर धर्म होते हैं और बृहत् के बृहद्धर्म होते हैं । दोनों में किसी एक के धर्म निर्देशसामर्थ्य से करने चाहिये । वहाँ विशेष के न कहने पर जितना कहा गया है, उतना प्राप्त होता है । इसलिये किसी एक पृष्ठ के धर्म करने चाहिये । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

अप्राकृते तद्विकाराद् विरोधाद् व्यवतिष्ठेरन् ॥४८॥

सूत्रार्थः—(अप्राकृते) अप्रकृत कण्व रथन्तर में (तद्विकारात्) रथन्तर का विकार होने से (विरोधात्) विरोध होने से (व्यवतिष्ठेरन्) व्यवस्थित होवें ।

---

१. 'बृहद्धर्मा' इति पाठान्तरम् ।

अप्राकृते कण्वरथन्तरे तद्विकारात् । यस्मात् कण्वरथन्तरमुभयोः कार्ये वर्तते, तस्मादुभयधर्माल्लँभेत । न हि विकृतौ निर्देशोऽस्ति, यथा प्रकृतौ । अर्थापत्तित इह धर्मा भवन्ति, न चोदकेन । कण्वरथन्तरमुभयोरर्थापन्नम् । तस्मादुभयधर्माल्लँभेत । ये तु विरुद्धा धर्माः, तद्यथा—उच्चैर्गेयं बलवद् गेयम् इत्येवंजातीयका विरोधाद् व्यवतिष्ठेरन् । अविरुद्धेषु समुच्चयः ।।४८।।

—०—

[बृहद्रथन्तरोभयसामके क्रतौ रथन्तरादिधर्माणां प्रकृतिवद् व्यवस्थाधिकरणम् ।।१७।।]

उभयसाम्नि चैवमेकार्थापत्तेः ।।४९।। (पू०)

सन्त्युभयसामानः क्रतवः । **संसव उभे कुर्यात्, गोसव उभे कुर्यात् । अपविताप्येकाहे उभे बृहद्रथन्तरे कुर्यात्** इति श्रूयते । सन्ति तु प्रकृतौ बृहद्धर्मा रथन्तरधर्माश्च । त इह चोदकेन प्राप्यन्ते । तत्र संशयः । किमुभयसाम्नि, उभयधर्माः कर्तव्या अथवेहापि तथैव व्यवतिष्ठेरन्निति । किं प्राप्तम् ? उभयसाम्नि चैवं

व्याख्या—अप्राकृत कण्वरथन्तर में रथन्तर का विकार होने से जिससे कण्व रथन्तर दोनों के कार्यों में वर्तमान होता है, इस कारण दोनों के धर्मों को प्राप्त होता है। विकृति में वैसा निर्देश नहीं है जैसा प्रकृति में है। विकृति में अर्थापत्ति से धर्म होते हैं, प्रेरक वचन से नहीं। कण्वरथन्तर दोनों के प्रयोजन के लिये प्राप्त होता है। इसलिये दोनों के धर्मों को प्राप्त होवे। जो धर्म परस्पर विरुद्ध है, जैसे उच्चैर्गेयम्, बलवद् गेयम् (=ऊंचे से गान करना चाहिये, बलपूर्वक गान करना चाहिये) इत्यादि इस प्रकार के विरोध होने से धर्म व्यवस्थित होंगे, और जो दोनों के अविरुद्ध धर्म हैं, उनमें समुच्चय होगा ।।४८।।

—:०:—

उभयसाम्नि चैवमेकार्थापत्तेः ।।४९।।

सूत्रार्थः—(उभयसाम्नि) दोनों सामवाले यज्ञों में (च) भी (एकार्थापत्तेः) एक अर्थ के लिये होने से (एवम्) इस प्रकार समुच्चय होगा।

व्याख्या—उभय (=रथन्तर और बृहत्) सामवाले क्रतु हैं—संसव उभे कुर्यात्, गोसव उभे कुर्यात् । अपवितावपि एकाहे उभे बृहद्रथन्तरे कुर्यात् (=संसव में दोनों करे, गोसव में दोनों करे। अपवित नाम के एकाह में दोनों बृहद्रथन्तर करे) ऐसा सुना जाता है। प्रकृति में बृहद्धर्म और रथन्तरधर्म वाले कर्म हैं। वे कर्म यहां उभयसामा क्रतुओं में चोदक से प्राप्त होते हैं। उसमें संशय होता है कि क्या दोनों सामों में दोनों धर्म करने चाहिये अथवा यहां भी पूर्ववत् व्यस्थित होवें। क्या प्राप्त होता है ? दोनों सामों में उसी

स्यात् । यथा कण्वरथन्तरे । उभे ह्यत्र सामनी पृष्ठकार्ये वर्तेते, नैकैकम् । तस्मान्नैकैकधर्माल्लँभेत । उभे ह्यत्र संहते, उभे धर्मैः संयुज्येयाताम् । उभे हि ते संहते, एकार्थापत्तेः[1] पृष्ठकार्ये वर्तेते इति ॥४९॥

स्वार्थत्वाद्वा व्यवस्था स्यात् प्रकृतिवत् ॥५०॥ (सि०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । न चैतदस्ति बृहद्रथंतरयोः संहतयोरुभये धर्माः कर्तव्या इति । रथन्तरे रथन्तरधर्माः[1], बृहति बृहद्धर्माः । कुतः ? स्वार्थत्वाद् धर्माणाम् । रथन्तरधर्मा रथन्तरार्थाः, बृहद्धर्मा बृहदर्थाः । साम्नोश्चैते धर्माः, न पृष्ठस्य । तच्च साम प्रयुज्यते रथन्तरं बृहद्वा । रथन्तरे प्रयुज्यमाने तद्धर्माः प्रयोक्तव्याः । बृहत्यपि प्रयुज्यमाने बृहद्धर्माः । सामप्रयुक्ता एवैते धर्माः । साम्नाऽपि हि दृष्टमदृष्टं च क्रियते । तस्मात् सामापि धर्मप्रयोजने समर्थम् । अतो व्यवस्था धर्माणां प्रकृतिवत् । तथा प्रकृतौ रथन्तरे प्रयुज्यमाने तदङ्गं प्रयुज्यते । बृहति तदङ्गम् । एवमिहापीति ॥५०॥

—०—

प्रकार होवे, जैसे कण्वरथन्तर में हुआ । जहाँ पर दोनों साम पृष्ठ कार्य में वर्तमान होते हैं, एक-एक नहीं । इसलिये अनेक धर्मों को प्राप्त होवें । जहां पर दोनों साम मिले हुए हैं, वहाँ उभय धर्मों से संयुक्त होवें । वे दोनों साम मिले हुए हैं, एक प्रयोजन के लिये होने से पृष्ठ कार्य में होते हैं (कहीं पर 'एकार्थापन्ने' पाठ है) ॥४९॥

स्वार्थत्वाद् वा व्यवस्था स्यात् प्रकृतिवत् ॥५०॥

सूत्रार्थः— (वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष को निवृत्त करता है । (स्वार्थत्वात्) स्व प्रयोजन से (प्रकृतिवत्) प्रकृति के समान (व्यवस्था) व्यवस्था (स्यात्) होवे ।

व्याख्या— 'वा' शब्द पूर्व पक्ष को निवृत्त करता है । यह नहीं है कि बृहद् और रथन्तर जहां संहत हों, वहां पर उभयधर्म करना चाहिये । रथन्तर में रथन्तर धर्म और बृहत् में बृहद् धर्म होते हैं । किस कारण ? धर्म उस पदार्थ के स्व अर्थ से युक्त होते हैं । रथन्तर धर्म रथन्तर के लिये हैं और बृहत् के धर्म बृहत् के लिये हैं । ये दोनों धर्म सामों के हैं, पृष्ठ के नहीं । वह साम प्रयुक्त होता है रथन्तर या बृहत् । रथन्तर के प्रयुक्त होने पर उसके धर्म प्रयुक्त करने चाहिये और बृहत् के प्रयुक्त होने पर बृहत् के धर्म प्रयुक्त करने चाहिये । साम से प्रयुक्त हुए भी ये धर्म प्रयोक्तव्य हैं । साम के द्वारा भी यज्ञ में दृष्ट और अदृष्ट किया जाता है । इससे साम भी धर्म के प्रयोजन में प्रयुक्त होने में समर्थ हैं । इसलिये प्रकृति के समान धर्मों की व्यवस्था होवे । जैसे प्रकृत रथन्तर के प्रयुक्त होने पर उसका अङ्ग प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार बृहत् के धर्म प्रयुक्त होते हैं । इसी प्रकार यहां पर भी समझना चाहिये ॥५०॥ —०—

---

१. 'रथन्तरार्थाः' इति पाठान्तरम् ।

[पार्वणहोमयोर्विकृतावनतिदेशाधिकरणम् ।।१८।।]

स्तौ दर्शपूर्णमासौ । तत्रेदं समामनन्ति—**स्रुवेण पार्वणौ जुहोति** इति । सौर्यादिषु वैकृतेषु कर्मसु भवति सन्देहः ? किं तेषु पार्वणहोमौ कर्त्तव्यौ न वा ? इति । तत इदं तावत् परीक्ष्यम् । किं कालाभीज्या पार्वणहोमौ, उत समुदायाभीज्येति । कालाभीज्यायां तयोः प्रवृत्तिः । समुदायाभीज्यायामप्रवृत्तिः । कुतः संशयः ? उभयत्र प्रसिद्धेः । उभयत्र हि पर्वशब्दो लोके प्रसिद्धः । काले समुदाये च, आ हिमवत आ च कुमारीभ्यः । किं तावत् प्राप्तम् ? कालाभीज्येति । ततः कालगता प्रसिद्धिर्व्यपदिश्यते ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

पार्वणहोमयोस्त्वप्रवृत्तिः समुदायार्थसंयोगात् तदभीज्या हि ।।५१।। (सि०)

पार्वणयोर्वैकृतेषु कर्मसु अप्रवृत्तिः । कुतः ? समुदायार्थसंयोगात् । ततः समुदाये प्रसिद्धिर्व्यपदिश्यते । काले प्रसिद्धिं परिहरिष्याम इति । अतः समुदायवाचित्वात् पर्वशब्दस्य समुदायस्याभियष्टव्यत्वाद् वैकृतेष्वप्रवृत्तिरिति ।।५१।।

व्याख्या—दर्श और पौर्णमास यज्ञ हैं । वहां पर यह पढ़ते हैं—स्रुवेण पार्वणौ जुहोति (=स्रुव से पार्वण होम करता है) । सौर्यादि वैकृत कर्मों में सन्देह होता है कि उनमें पार्वणहोम करने चाहियें वा नहीं ? उससे यह परीक्षा करनी चाहिये । क्या काल के समय में पार्वणहोम यजन करने योग्य है ? अथवा समुदाय रूप में यजन करने योग्य है ? काल की अभीज्या के लिये उनकी प्रवृत्ति है, समुदाय की अभीज्या में प्रवृत्ति नहीं है । संशय कैसे हुआ ? दोनों में प्रसिद्ध होने से । काल में और समुदाय में हिमालय से लेके कुमारी तक पर्वशब्द लोक में प्रसिद्ध है । क्या प्राप्त होता है ? काल की अभीज्या । कालगत (कालसम्पृक्त) प्रसिद्धि कही जाती है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

पार्वणहोमयोस्त्वप्रवृत्तिः समुदायार्थसंयोगात् तदभीज्या हि ।।५१।।

सूत्रार्थः—(पार्वणहोमयोः) पार्वणहोम में (तु) तो (अप्रवृत्तिः) दोनों की प्रवृत्ति नहीं होगी (समुदायार्थसंयोगात्) समुदाय रूप अर्थ के संयोग होने से (तदभीज्या) वह अभीज्या कर्म अर्थात् पार्वणहोम के विषय में दर्श और पूर्णमास का निर्देश न होने से समुदाय पर्व शब्द का संयोग होने से पृथक्-पृथक् कर्म नहीं होंगे ।

व्याख्या—वैकृत पार्वणहोम कर्म में प्रवृत्ति नहीं होगी । क्यों ? समुदाय का अर्थ संयुक्त होने से । अर्थात् पर्व शब्द दर्शपूर्णमास समुदाय में प्रसिद्ध है । काल में प्रसिद्धि का परिहार करेंगे, अतः समुदायवाची होने से पर्व शब्द समुदाय के अभियजनीय होने से वैकृत में पर्व शब्द प्रयुक्त नहीं है ।।५१।।

कालस्येति चेत् ॥५२॥

इति चेत् पश्यसि, कालस्य पर्वशब्दो वाचकः। तस्मात् कालाभीज्येति। तत् परिहर्तव्यम्। आभाषान्तं सूत्रम् ॥५२॥

प्रकरणे[1] विशेष्यते—

नाप्रकरणत्वात् ॥५३॥

नास्ति कालस्य प्रकरणम्। अस्ति तु समुदायस्य। तस्मात् प्रकरणेन विशेषेण समुदायवाची गृह्यते, न कालवाची।

अत्राऽऽह। न प्रकरणेन शक्यते पर्वशब्दस्य कालवाचितां बाधितुम्। दुर्बलं हि लिङ्गात् प्रकरणम्। उच्यते नायमुभयत्र पर्वशब्दो वर्तते। यदि कालवचनः, तत्-सम्बन्धात् समुदाये गम्यते। यदि वा समुदायवचनः, तत्संबन्धात् काले। अन्यतर-वचनो युक्तो नोभयवचनः। तत्र समुदायवचने कल्प्यमाने प्रकरणमनुगृहीतं भवति। अपि च, पृणातेः पर्वशब्दः। पृणातिश्च दाने प्रसिद्धः। दानानि च समुदायाः।

कालस्येति चेत् ॥५२॥

सूत्रार्थः—यदि (कालस्य) काल का वाचक पर्व शब्द (इति चेत्) होगे तो।

व्याख्या—यदि यह मानते हो कि पर्व शब्द काल का वाचक है तो उससे यह काल की अभीज्या होगी। यह जो दोष दिया था, उसका परिहार करना चाहिये। यह दोष-स्मारक सूत्र है ॥५२॥

प्रकरण से विशेषित होता है—

नाप्रकरणत्वात् ॥५३॥

सूत्रार्थः—(अप्रकरणत्वात्) काल का प्रकरण न होने से (न) काल का वाचक नहीं होगा।

व्याख्या—काल का प्रकरण नहीं है, समुदाय का प्रकरण है। इसलिये प्रकरण के विशेष होने से यह समुदायवाची गृहीत होता है, काल का वाची नहीं। (आक्षेप) इस विषय में कहते हैं—प्रकरण के पर्व शब्द की कालवाचिता को नहीं हटा सकते। लिङ्ग से प्रकरण दुर्बल है (द्रष्टव्य—मी० ३।३।१४)। (समाधान) इस विषय में कहते हैं। यह पर्व शब्द उभयत्र काल और समुदाय दोनों का वाचक नहीं है। यदि पर्व शब्द काल का वाचक है तो उस विशिष्ट काल के सम्बन्ध से समुदायार्थ में जाना जाता है। यदि समुदाय का वाचक पर्व शब्द है, तो उसके सम्बन्ध से काल में प्रयुक्त होता है। दोनों में से एक अर्थ का वाचक युक्त है, दोनों का वाचक युक्त नहीं। वहाँ पर्व शब्द को समुदायवाचक कल्पना मानने पर प्रकरण अनुगृहीत होता है। और भी, पर्व शब्द 'पॄ' धातु से निष्पन्न होता है।

---

१. 'परेण' इति पाठान्तरम्।

तस्मात् समुदायाभीज्या। एवं शब्दावयवप्रसिद्धिरनुगृहीता भवतीति। तस्माद् वैकृतेषु पार्वणयोरप्रवृत्तिः ॥५३॥

मन्त्रवर्णाच्च ॥५४॥

मन्त्रवर्णाच्च फलवदनुवादो भविष्यति[1]। **ऋषभं वाजिनं वयं पूर्णमासं यजामहे** (तै० ब्रा० ३।७।५।१२)। **अमावास्या सुभगा सुशेवा** (तै० ब्रा० ३।७।५।१२) इति च। तस्मादपि समुदायाभीज्येति ॥५४॥

तदभावेऽग्निवदिति चेत् ॥५५॥

नैतदस्ति, यदुक्तम् वैकृतेष्वप्रवृत्तिरिति। तदभावेऽपि—यद्यपि समुदायवचनोऽयम्। न च वैकृतेष्वयमस्ति समुदायः। तथाऽपि पार्वणहोमौ भवेतामेव। कुतः? अन्या एवंशब्दिका देवता भविष्यन्ति[2]। समुदायो वाऽसंनिहितोऽपि यक्ष्यते, सौर्याद्युपकारार्थेन। यथा **अग्निमग्न आवह**—इति। संनिहितोऽसंनिहितो वाऽग्नि-

---

'पृ' धातु दान अर्थ में प्रसिद्ध है। दान समुदाय है। इसलिये समुदाय की अभीज्या है। इस प्रकार शब्द के अवयव की प्रसिद्धि अनुगृहीत होती है। इस कारण वैकृत कर्मों में पार्वण कर्म की प्रवृत्ति नहीं होती ॥५३॥

मन्त्रवर्णाच्च ॥५४॥

सूत्रार्थः—(च) और (मन्त्रवर्णात्) मन्त्रवर्ण से भी फलवान् का अनुवाद होगा।

व्याख्या—और मन्त्रवर्ण से भी फलवान् का अनुवाद होगा। ऋषभं वाजिनं वयं पूर्णमासं यजामहे। अमावास्या सुभगा सुशेवा (=श्रेष्ठ अन्न युक्त पूर्णमास का हम यजन करते हैं। अच्छे प्रकार सेवने योग्य अमावास्या)। इससे भी समुदाय की अभीज्या है ॥५४॥

तदभावेऽग्निवदिति चेत् ॥५५॥

सूत्रार्थः—(तदभावे) उस समुदाय के अभाव में (अग्निवत्) अग्नि के समान (इति चेत्) होवे।

व्याख्या—यह नहीं है। जो कहा है कि वैकृतों में प्रवृत्ति पार्वण होम की नहीं होगी। पार्वण होम के अभाव में भी यद्यपि समुदायवाची है। वैकृत होमों में समुदाय नहीं है। फिर भी पार्वण होम होगा ही। कैसे? अन्य पर्वसंज्ञक देवताएं होंगी। अथवा असन्निहित जो समुदाय हैं, उनका यजन होगा, सौर्य आदि विकृत धर्म के उपकार के लिये। जैसे—अग्निमग्न आवह (=हे अग्नि! अग्नि को बुलाओ)। अग्नि जो यज्ञ में सन्निहित है वा

---

१. 'भवति' इति पाठान्तरम्।
२. 'भविष्यति' इति पाठान्तरम्।

र्यागार्थेनाऽऽवाह्यते । एवमिहापीति ॥५५॥

नाऽऽधिकारिकत्वात् ॥५६॥

नैतदेवम् । आधिकारिकं हीदं वचनम् । अधिकारे भवं, यस्याधिकारस्तस्य गुणं विदधातीति । आग्नेयादीनां चाधिकारः । ते चात्र देवताः । तेषां होमो देवतार्थः । एवं यत्र सा देवता नास्ति, तत्र तदर्थो होमो न करिष्यते । तस्मात् पार्वणहोमयोर्वैकृतेभ्यो निवृत्तिः ॥५६॥

—:०:—

[पार्वणहोमयोरन्यतरस्यैव तत्तत्समुदायोपकारकस्य दर्शपूर्णमासयोरनुष्ठानाधिकरणम् ॥१९॥]

इदमिदानीं संदिह्यते—किमुभौ होमौ पौर्णमास्याममावास्यायां च, उत पौर्णमासीहोमः पौर्णमास्याम्, अमावास्याहोमोऽमावास्यायामिति । किं प्राप्तम् ?

उभयोरविशेषात् ॥५७॥

यज्ञ में सन्निहित नहीं है, वह भी कर्म के उपकार के लिये बुलाई जाती है । इसी प्रकार यहां भी ॥५५॥

नाधिकारिकत्वात् ॥५६॥

सूत्रार्थः—(न) उक्त कहा पक्ष नहीं है (आधिकारिकत्वात्) अग्नि के अधिकार वाला होने से ।

व्याख्या—ऐसा नहीं है, अधिकारवाला होने से । 'अग्निमावह' वचन अधिकारवाला है अर्थात् अग्नि का सम्बन्ध है । अधिकार में होनेवाला, जिसका अधिकार है, उसके गुण को कहता है । पार्वण होमों में आग्नेय आदि का अधिकार है । वे अग्नि आदि यहाँ देवता हैं । उनके लिये किया गया होम देवता के लिये है । इस प्रकार जहां वह देवता नहीं है, उस देवता के लिये होम नहीं किया जायेगा । इस कारण पार्वण होमों की वैकृत यागों से निवृत्ति हो जाती है ॥५६॥

—:०:—

व्याख्या—अब यह सन्देह होता है—क्या दोनों पार्वण होम पौर्णमासी में और अमावस्या में होते हैं अथवा पौर्णमासी होम पौर्णमासी में और अमावस्या होम अमावस्या में ? क्या प्राप्त होता है ?

उभयोरविशेषात् ॥५७॥

सूत्रार्थः—(उभयोः) दोनों पावर्णहोमों में (अविशेषात्) अर्थ के विशेष न होने से ।

उभावप्युभयत्र । कुतः ? उभयोर्हि प्रकरणे उभावप्याम्नातौ । तस्मादुभयत्र भवितुमर्हतः ॥५७॥

यदभीज्या वा तद्विषयौ ॥५८॥

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदस्ति, उभयमुभयत्रेति । यदभीज्या, स तत्र भवेत् । तस्य हि स उपकारकः । अनुपकारक इतरस्य । न चानुपकारकः कर्तव्यः । समुदायप्रधानावत्र होमावित्युक्तम् । तस्माद्यदभीज्या, तद्विषयौ भवेतामिति ॥५८॥

—:०:—

[समिदादिपदानां नामधेयत्वेन प्रयाजानामारादुपकारकत्वाधिकरणम् ॥२०॥]

दर्शपूर्णमासयोः प्रयाजा आम्नाताः—**समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति** इति । तत्र संशयः क्रियते । किं समिधो यजतीत्यादिशब्दैः समिदादयो देवताविशेषा विधीयन्ते, एतान्समिदादीन् यजतीति । किंवा न प्रकृतैः समिदादिभिः सम्बन्ध उपादीयते, एवंशाब्दिका देवता न प्रकृतावुपदिश्यन्त इति । किं तावत् प्राप्तम् ?

व्याख्या—दोनों पार्वण होम दोनों दर्श और अमावस्या में होते हैं । किस हेतु से ? क्योंकि दोनों के प्रकरण में दोनों पार्वण होम पढ़े गये हैं । इसलिये पार्वण होम दोनों में होने योग्य हैं ।

यदभीज्या वा तद्विषयौ ॥५८॥

सूत्रार्थः—(वा) वा शब्द पूर्व निर्दिष्ट पक्ष को व्यावर्तित करता है । अर्थात् दोनों में नहीं होते (यदभीज्या) जिस विषयक इज्या कही है (तद्विषयौ) वह पार्वण होम उसी के विषयवाला है ।

व्याख्या—'वा' शब्द पूर्व पक्ष को व्यावर्तित करता है । जिसकी यहाँ इज्या कही है, वह वहाँ होवे । वह उसी का उपकारक है, दूसरे याग का उपकारक नहीं है । अनुपकारक कर्म नहीं करना चाहिये । यहाँ पर होमों से समुदाय के प्रधानों का निर्देश है । इसलिये जिस के प्रति इज्या कही गई है, उसी विषयवाले होवें ॥५८॥

—:०:—

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में प्रयाज कहे गये हैं—समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति । इस विषय में संशय किया जाता है कि क्या 'समिधो यजति' इत्यादि शब्दों से समिध् आदि देवताविशेषों का विधान किया जाता है अर्थात् समिदादि देवताओं का यजन करता है अथवा प्रकृत समिद् आदि के साथ सम्बन्ध नहीं कहा जाता है । इस प्रकार शब्दमात्रवाली देवता प्रकृत में उपदिष्ट नहीं होती । क्या प्राप्त होता है ?

प्रयाजेऽपीति चेत् ॥५६॥ (पू०)

प्रकृतानां समिदादीनां यागो विधीयते। समिदादयश्च देवता वाक्यसंबन्धादिति। एवं प्रकृतैः समिदादिभिः सम्बन्धे क्रियमाणे प्रकरणानुग्रहो भविष्यति। तस्मात् प्रयाजेऽपि प्रकृता देवा भवितुमर्हन्तीति। देवताप्राधान्यं च यथा पार्वणहोम इति ॥५६॥

नाचोदितत्वात् ॥६०॥ (सि०)

नैतदेवम्। नात्र समिदादयश्चोद्यन्ते देवतात्वेन। कुतः? द्वितीयानिर्देशात्। तद्धितनिर्देशेन वा देवता चोद्यते, चतुर्थ्यन्तनिर्देशेन वा। तत्र हि तादर्थ्यं गम्यते। तादर्थ्ये च सति देवता भवति। न देवता नाम जात्या काचित्। सैव कस्यचिद्रूपस्य देवता, सैव नान्यस्य। यस्य यां प्रति तादर्थ्यं, सा यस्य देवता। द्वितीया हीप्सिततमे कारके भवति। तत्र न द्रव्यस्य तादर्थ्यं गम्यते। तस्मान्न द्वितीयान्तेन देवताविधानम्।

प्रयाजेऽपीति चेत् ॥५६॥

सूत्रार्थः—(प्रयाजे) प्रयाज में (अपि) भी समिद् आदि के नामधेय हेतु से प्रयाज का समीपतः उपकारक होगा (इति चेत्) ऐसा कहो तो।

व्याख्या—प्रकृत समिद् आदि का याग कहा जाता है। समिद् आदि देवता हैं वाक्य के सम्बन्ध से, अर्थात् 'समिधो यजति' वाक्य के निर्देश से। इस प्रकार प्रकृत समिद् आदि के साथ सम्बन्ध कर लेने पर प्रकरण का अनुग्रह होगा। इसलिये प्रयाज में भी प्रकृत देवता हो सकते हैं। जैसे देवता का प्राधान्य पार्वण होम में है ॥५६॥

नाच ॥६०॥

सूत्रार्थः—पार्वण होम के समान (न) देवता का प्राधान्य नहीं है (अचोदितत्वात्) समिदादि का देवतारूप से विधान न होने से।

व्याख्या—इस प्रकार नहीं है अर्थात् पार्वण होम के समान यहाँ देवता का प्राधान्य नहीं है। यहाँ पर समिदादि देवता के रूप से नहीं कहे गये हैं। किस कारण? 'समिधो यजति' इत्यादि में द्वितीया का निर्देश होने से। तद्धित प्रत्यय के निर्देश से देवता कही जाती हैं अथवा चतुर्थ्यन्त निर्देश से? तद्धितनिर्देश से अथवा चतुर्थ्यन्तनिर्देश से उसके लिये अर्थ जाना जाता है। तादर्थ्य गम्यमान होने पर वह देवता होता है। स्वभावतः कोई देवता नामवाला नहीं है। जो वही किसी रूप का देवता हो और किसी का देवता न हो। जिसका जिसके प्रति तादर्थ्यभाव होता है, उसकी वह देवता होती है। द्वितीया विभक्ति ईप्सिततम कारक में होती है। उसमें द्रव्य की तादर्थ्यता अर्थात् उसका यह नहीं जाना जाता है। इसलिये द्वितीयान्त प्रयोग से देवता का विधान नहीं होता।

अत्राऽऽह । तादर्थ्यं कल्पयिष्यामः । यथा, विष्णुं यजति, वरुणं यजतीति । अत्र न विष्णुवरुणो वा यागः । नापि यागादर्थान्तरं, यागस्य कारकं यदीप्सितं, तद् द्वितीययाऽभिधीयते । तेन तत्र कल्प्यते तादर्थ्यम् । शब्दान्तरेण वा विहितं गम्यते । इह तु न शब्दान्तरविहितम् । न चैवं शक्यं परिकल्पयितुम् । न च यागस्य कारकत्वेन सम्भवति । समिदादिशब्दकत्वात्तु यजीनां समिदादयः शब्दा वाचका उपपद्यन्ते । क्रियायां चेप्सितायामिष्यते द्वितीया । यथा पाकं पचतीति ।

तस्मात् समिधो यजतीत्ययमर्थः—समिद्यजिः कर्तव्य इति । यदा च यजिं प्रत्यनुष्ठानं चोद्यते, तदा यजिरुपदिष्टो भवति । यदि पुनरत्र देवतोपदिश्येत, उपदिष्टे यजौ देवतोपदिश्येत । तत्रोपष्टिोपदेशे वाक्यं भिद्येत । तस्मान्न देवतोपदेशः । यदा न देवतोपदेशस्तदा मान्त्रवर्णिको देवताविधिः । तदा चोपादेयत्वादेवंशब्दिका देवताश्चोद्यन्ते । तस्मान्मान्त्रवर्णिको देवताविधिः ॥६०॥

इति श्रीशबरस्वामिकृते मीमांसाभाष्ये नवमाध्यायस्य

द्वितीयः पादः ॥

इस विषय में कहते हैं —तदर्थता की कल्पना करेंगे । यथा 'विष्णुं यजति वरुणं यजति' यहाँ विष्णु और वरुण याग नहीं है । और याग से भिन्न अर्थान्तर नहीं है । याग का कारक जो ईप्सित है, वह द्वितीया से कहा जाता है । इससे उक्त वाक्य में तादर्थ्य की कल्पना की जाती है । अथवा शब्दान्तर के द्वारा विहित जाना जाता है । यहां किसी शब्दान्तर से याग विहित नहीं है और इस प्रकार की कल्पना भी नहीं कर सकते । याग के (क्रिया होने से) कारक रूप से सम्भव नहीं है । समिदादि शब्दों से यजि क्रिया के समिदादि शब्द वाचक उपपन्न होते हैं । क्रिया की ईप्सितता होने पर द्वितीया इष्ट है । जैसे—पाकं पचति ।

इससे 'समिधो यजति' का अर्थ होगा—समित् याग करना चाहिये । और जब समित् के लिये याग के प्रति अनुष्ठान कहा जाता है, तब याग उपदिष्ट होता है । यदि 'विष्णुं यजति' इत्यादि में देवता का उपदेश होवे, तो याग के उपदिष्ट होने पर देवता का उपदेश होवे । इस प्रकार उपदेश करने पर वाक्य का भेद होवे । अर्थात् देवता का और याग का दोनों का उपदेश करना पड़ेगा । इसलिये देवता का उपदेश है । जब देवता का उपदेश नहीं है तब मन्त्रों में वर्णित देवता की विधि होगी । अर्थात् मन्त्रों में वर्णित देवता ही याग का देवता होगा । तब उपादेय होने से इस प्रकार शब्दवर्णित देवता जानी जाती है । अतः मन्त्र में कही हुई देवता की विधि नहीं है ॥६०॥

नवमाध्याये तृतीयः पादः

[सौर्यादिविकृतावतिदिष्टमन्त्रे वैकृतद्रव्यादिवाचकपदोहाधिकरणम् ॥१॥]

वैकृतानि कर्माण्युदाहरणम्—**सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकाम** इति । **ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकाम** इति । **चित्रया यजेत पशुकाम** इति । **वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकाम** इति । अस्ति तु प्रकृतौ निर्वापमन्त्रः—**अग्नये जुष्टं निर्वपामि** इति । तथा **इन्द्राय मरुत्वते नैवारमेकादशकपालं निर्वपेद्** इति । अस्ति तु प्रकृतौ व्रीहिलिङ्गो मन्त्रः—**स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि । तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमान** इति । तच्चैतच्च विकृतौ चोदकप्राप्तं संदिह्यते । किमविकारेण प्रयोक्तव्यमुतोहेनेति । किं प्राप्तम् ? अधिकारेणेति । तथा आर्षमनुगृह्यते । यत्प्रकृतौ कर्तव्यं, तद्विकृताविति । प्रकृतौ चाग्निव्रीहिशब्दौ प्रयुक्तौ । तस्माद् विकृतावपि तावेव प्रयोक्तव्याविति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

व्याख्या—विकृतिरूप कर्म उदाहरण हैं—सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः (=सौर्य चरु का ब्रह्मवर्चसकामवाला निर्वाप करे) । ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः (=इन्द्राग्नि देवता हैं जिसके, ऐसे ११ कपालों का प्रजाकाम वाला निर्वाप करे) । चित्रया यजेत पशुकामः (=चित्रा याग से पशुकामनावाला यज्ञ करे) । वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकामः (=विश्वदेव देवतावाली सांग्रहणी नामक इष्टि का प्रजाकामना वाला निर्वाप करे) । प्रकृति में निर्वाप मन्त्र हैं—अग्नये जुष्टं निर्वपामि । तथा इन्द्राय मरुत्वते, नैवारमेकादशकपालं निर्वपेत् (=इन्द्र के लिये नीवार का एकादश कपाल निर्वाप करे) । प्रकृति याग में व्रीहिलिङ्गवाला मन्त्र है—स्योनन्ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि । तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः (=हे पुरोडाश ! तुम्हारे स्थित होने के लिये सुखकारी स्थान बनाता हूं और घृत की धारा से सुखकारी बनाता हूं । उसमें स्थित हो, अमृत में स्थित हो, हे व्रीहि के सुमनस्यमान सार !) । वह और यह विकृतियाग में चोदक से प्राप्त सन्देह का कारण होते हैं । यहां पर मन्त्र में अविकार से व्रीहि शब्द से ही प्रयोग करना चाहिये या ऊहा करके द्रव्यान्तर का प्रयोग करना चाहिये ? क्या प्राप्त होता है ? अविकार से । ऐसा अविकार से प्रयोग होने पर जो मन्त्रपाठ है, वह अनुगृहीत होता है । जो प्रकृति में कर्तव्य है, वही विकृति में कर्तव्य है । प्रकृति में अग्नि और व्रीहि शब्द का प्रयोग हुआ ह । इसलिये विकृति में भी इनका प्रयोग करना चाहिये । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—चित्रया यजेत पशुकामः—चित्रा यागविशेष का नाम है । यह मीमांसा

प्रकृतौ यथोत्पत्तिवचनमर्थानां तथोत्तरस्यां ततौ तत्प्रकृतित्वादर्थे चाकार्यत्वात् ॥१॥ (सि०)

सत्यं, प्रकृतौ यथोत्पत्तिवचनमर्थानां कृतं मन्त्रे, तथोत्तरस्यामपि ततौ विकृतौ तेनैव मन्त्रेण वचनं कर्तव्यम्। तत्प्रकृतित्वात्। तथा प्राप्त इदमुच्यते। नैतदेवम्। अर्थे[1] चाकार्यत्वादिति। एतावदर्थौ अग्निव्रीहिशब्दौ सूर्यं नीवारं च नाभिदध्याताम्। चशब्दोऽत्र तुशब्दस्यार्थे। मन्त्राणां चार्थवचनं कार्यं, न स्वरूपम्। स्वरूपे ह्यदृष्टं कल्पयितव्यम्। अर्थवचनेन इष्ट उपकारः। तस्मादूहितव्याविति ॥१॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२॥

अ० १, पा० ४, सू० ३ में देखें। **वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकामः** इसको उद्धृत करके जयन्त भट्ट ने 'न्यायमञ्जरी' भा० १ पृ० २७४ में लिखा है—

'तथा ह्यस्मत्पितामह एव ग्रामकामः सांग्रहणीं कृतवान्, स इष्टिसमाप्तिसमनन्तरमेव गौरमूलकं ग्राममवाप।'

प्रकृतौ यथोत्पत्तिवचनमर्थानां तथोत्तरस्यां ततौ तत्प्रकृतित्वादथ चाकार्यत्वात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(प्रकृतौ) प्रकृति में (यथोत्पत्तिवचनमर्थानाम्) जैसा अर्थों का उत्पत्तिवचन कहा है (तथा) उसी प्रकार (उत्तरस्यां ततौ) उत्तर कर्म में भी होगा। (तत्प्रकृतित्वात्) उस प्रकृतिवाला होने से (अर्थे) अर्थ में (चाकार्यत्वात्) विकृति के कार्य को कहने वाला होने से।

व्याख्या—यह सत्य है कि प्रकृति में जैसा उत्पत्तिवचन पदार्थों का मन्त्र में किया है, तथा उसी प्रकार उत्तर में भी कहना चाहिये। इससे विकृति में उसी मन्त्र से कथन करना चाहिये, उस प्रकृतिवाला होने से। ऐसा प्राप्त होने पर यह कहते हैं। इस प्रकार नहीं करना चाहिये। अर्थ में कार्य न होने से। इन अर्थों को अग्नि और व्रीहि शब्द सूर्य और नीवार को नहीं कहते हैं। 'च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में है। मन्त्रों के अर्थ को कहना प्रयोजन है, स्वरूप को कहना प्रयोजन नहीं। यदि पदार्थ के स्वरूप का कथन प्रयोजन हो तो अदृष्ट की कल्पना करनी होगी। शब्द के अर्थवचन (=पदार्थ के वचन) से इष्ट उपकार है। इसलिये असूर्य और नीवार की ऊहा करनी चाहिये ॥१॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से (च) भी ऊह करना चाहिये।

---

१. 'अर्थेऽकार्यत्वात्' इति पाठान्तरम्।

लिङ्गं खल्वप्यस्मिन्नर्थे भवति—**न माता वर्धते न पिता न भ्राता न सखा** इति। प्रत्यक्षं भ्रातरं सखायं च वर्धमानं पश्यामः। अतो नार्थवृद्धिप्रतिषेधसंवादोऽयम्। शब्दवृद्धिप्रतिषेधस्तु—न भ्रातृशब्दो वर्धते, न सखिशब्द इति। का च तयोर्वृद्धिः। वर्णान्तरोपजनम्। सा, एकस्मिन् भ्रातेति, द्वयोर्भ्रातराविति। एतदुक्तं भवति। न भ्रातृशब्द ऊह्यते, न सखिशब्दश्चेति। अतोऽवगम्यते, अन्य ऊह्यन्त इति। तथा न भवन्तः समाजं गच्छन्ति, न भवन्तः प्रेक्षका भवन्तीत्युक्ते नूनमन्ये गच्छन्तीति गम्यते। एवमिहापि, न भ्रातोह्यते, न सखा, इत्युक्ते नूनमन्य उह्यन्त इति लिङ्गदर्शनम् ॥२॥

स्थितं तावदपर्यवसितमेवान्तरा चिन्तान्तरं वर्तिष्यते—

[मौद्गे चरौ प्राकृतबर्हिःस्तरणमन्त्रे हरितपदस्थाने रक्तपदोहाधिकरणम् ॥२॥]

इदमामनन्ति। **मौद्गं चरुं निर्वपेच्छ्रियै श्रीकाम** इति। तत्रेदं विधीयते—**पौण्डरीकाणि बर्हींषि भवन्ति** इति। अस्ति प्रकृतौ मन्त्रः—**स्तृणीत बर्हिः परिधत्त वेदिं जामिं मा हिंसीरमुया शयाना। दर्भैः स्तृणीत हरितैः सुपर्णनिष्का इमे यजमानस्य ब्रध्न** इति। इह चोदकेन प्राप्तः, अत्र दर्भैरिति जातिशब्दः। हरितैरिति

व्याख्या—इस विषय में लिङ्ग भी होता है—न माता वर्द्धते न पिता न भ्राता न सखा। प्रत्यक्ष रूप में भ्राता और सखा की वृद्धि देखते हैं। इसलिये यह संवाद-कथन अर्थ की वृद्धि का प्रतिषेध नहीं है, शब्दवृद्धि के प्रतिषेध का है। भ्रातृशब्द नहीं बढ़ता न सखि शब्द बढ़ता है। भ्राता और सखा की वृद्धि क्या है ? वर्णान्तर का उत्पन्न होना अर्थात् वचन बढ़ना। वह वचनवृद्धि एक भ्राता होने पर 'भ्राता' शब्द का प्रयोग, दो भ्राता होने पर 'भ्रातारौ' का प्रयोग होगा। यह कहा जाता है कि भ्राता शब्द का और सखि शब्द का ऊहन नहीं होता। इससे जाना जाता है कि अन्य शब्द ऊहित होते हैं। जैसे आप लोग समूह में नहीं जाते, आप लोग नाटक आदि के प्रेक्षक होते हैं। ऐसा कहने पर निश्चय ही अन्य व्यक्ति जाते हैं, ऐसा जाना जाता है। इसी प्रकार यहां भी—भ्राता और सखा ऊहित नहीं होता, ऐसा कहने पर निश्चय ही अन्य शब्द ऊहित होते हैं ॥२॥

यह विचार यहीं ठहर गया, समाप्त नहीं हुआ। इसके मध्य में ही दूसरा विचार किया जायेगा।

व्याख्या—यह पढ़ते हैं—मौद्गं चरुं निर्वपेत् श्रियै श्रीकामः (=धन की कामनावाला धन की प्राप्ति के लिये मुद्ग के चरु का निर्वाप करे)। इस कर्म में यह विधान किया जाता है—पौण्डरीकाणि बर्हींषि भवन्ति (=कमल के बर्हि होते हैं अर्थात् बर्हि के स्थान पर कमल होता है)। प्रकृति में मन्त्र है—स्तृणीत बर्हिः परिधत्त वेदिं जामिं मा हिंसीरमुया शयाना दर्भैः स्तृणीत हरितैः सुपर्णनिष्का इमे यजमानस्य ब्रध्नः। यहां चोदक वचन से प्राप्त है। 'दर्भैः' यह जातिवाचक शब्द है। 'हरितैः' यह नैमित्तिक गुण-

नैमित्तिको गुणशब्दः । तत्र संशयः । किं जातिशब्द ऊहितव्यः, नैमित्तिकोऽविकारेण प्रयोक्तव्य उतोभावपि यथास्थानमूहितव्यौ, जातिशब्दः स्तरणे नैमित्तिकः स्तरणसाधने द्रव्य इति ।

तत एवं तावत् परीक्ष्यम् । किमयं हरितशब्दो हरितगुणविवक्षया प्रयुज्यत उत स्तरणद्रव्यगुणाभिधित्सयेति । कश्चात्र विशेषः? यदि दर्भाणां हरितगुणसम्बन्धो वक्तव्यः, व्यक्तमसावदृष्टोऽर्थः । तदा पुण्डरीकाणामप्यदृष्टायैव हरितसम्बन्धो वचनीयो भवतीत्यविकारेण प्रयोक्तव्यः । अथ स्तरणद्रव्यगुणविवक्षया प्रयुज्यते, तत्र पुण्डरीकाणामपि स्वगुणो वक्तव्यो भविष्यति । तदेतद् द्वयमपि हरितशब्दादवगम्यते । किंनु विवक्षितमिति संशयः । किं तावत् प्राप्तम् ? अविकारेण प्रयोक्तव्य इति ।

तत एतत्तावच्चिन्त्यते । हरितगुणविवक्षया प्रयुज्यत इति । कुतः ? हरितशब्दस्य मन्त्रे भावात् । न हि यो यो द्रव्यगुणः सोऽवश्यवचनीयो भवति । यस्य यस्य तु वाचको मन्त्रे शब्दोऽस्ति, स गुणो वक्तव्य इति गम्यते । हरितगुणस्य वाचको मन्त्रोऽस्ति । तस्माद्धरितगुणो वक्तव्य इति ।

ननु स एव स्तरणद्रव्यगुणस्य वाचकः । नेत्याह । न ह्यसौ स्तरणद्रव्यगुण

वाचक शब्द है । इसमें संशय है कि क्या जाति शब्द दर्भ ऊहित करना चाहिये या नैमित्तिक गुणवाचक शब्द विना विकार के ही प्रयोग करना चाहिये ? अथवा दोनों शब्द यथास्थान ऊहित करने चाहिये ? स्तरण में जाति शब्द और स्तरण साधन में नैमित्तिक द्रव्य शब्द की ऊहा करनी चाहिये ।

अतः पहले यह परीक्षा करनी चाहिये । क्या मन्त्र में हरित शब्द का प्रयोग द्रव्य के हरित गुण की विवक्षा से प्रयुक्त किया जाता है अथवा स्तरण द्रव्य की विवक्षा से? इन दोनों में क्या भेद है ? यदि दर्भों के हरित गुण का सम्बन्ध कहना है, तो यह कहना चाहिये कि हरित शब्द का कथन अदृष्ट के लिये है । तब कमलों का भी अदृष्टार्थ हरित सम्बन्ध कहना होता है, तो अविकार से हरित शब्द का प्रयोग करना चाहिये । और यदि स्तरण द्रव्य के गुण की विवक्षा से प्रयोग किया जाता है, उस समय पुण्डरीकों का भी अपना गुण कहना होगा । यह दोनों भी हरित शब्द से जाना जाता है । इसमें क्या विवक्षित है, यह संशय है । क्या प्राप्त होता है ? विना विकार के ही प्रयोग करना चाहिये ।

इससे पहिले यह विचार किया जाता है कि हरित गुण को कहने की इच्छा से हरित शब्द प्रयुक्त किया जाता है । किस कारण ? हरित शब्द के मन्त्र में विद्यमान होने से । द्रव्य का जो-जो गुण होता है, वह सभी कहने योग्य नहीं होता है । जिस-जिस का वाचक मन्त्र में शब्द है, उस गुण को कहना चाहिये, यह जाना जाता है । हरित गुण का वाचक मन्त्र में शब्द है, इसलिये हरित शब्द कहना चाहिये ।

(आक्षेप) वही हरित शब्दस्तरण द्रव्य के गुण का वाचक है । यह स्तरण द्रव्य का

इत्यनेन कारणेन हरितशब्देनोच्यते। कथं तर्हि? हरितत्वयोगाद्धरितशब्देनोच्यते। स एव हारित्यं श्रुत्याऽभिदधाति, लक्षणया स्तरणद्रव्यगुणम्। श्रुतिश्च लक्षणाया ज्यायसी। तस्माद्धरितगुणविवक्षया प्रयुज्यते, विकृतौ नोहितव्य इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

जातिनैमित्तिकं यथास्थानम् ॥३॥ (सि०)

जातिशब्दो नैमित्तिकश्चोभावप्यूहितव्यौ। तत एतद् वर्ण्यते। स्तरणद्रव्यस्य गुणविवक्षया प्रयुज्यत इति। यद्यपि हारित्यं श्रुत्या हरितशब्दोऽभिवदति, तथाऽपि हरितगुणवचनमनर्थकम्। अदृष्टं हि तत्र कल्पनीयं स्यात्। तच्चाशक्यं दृष्टे सम्भवति। स्तरणद्रव्यगुणं तु लक्षणयाऽभिवदति। तद्वचने तु दृष्टं प्रयोजनं स्तरणद्रव्यप्रत्यायनम्। एवं चेदिहापि स्तरणद्रव्यस्य पुण्डरीकस्य गुणः प्रत्याययितव्यः। तस्मात्तद्वाचक ऊहितव्यो रक्तशब्द इति ॥३॥

तत एवान्तरागर्भिणीन्यायो भवतीत्यन्यथा सूत्रं वर्ण्यते—

गुण है, इस कारण से हरित शब्द से कहा जाता है। किस कारण से? हरितत्व के सम्बन्ध से यह हरित शब्द से कहा जाता है। वही हारित्य श्रुति से कहा जाता है और लक्षणा से स्तरण द्रव्य का जो गुण है हरित, वह कहा जाता है। श्रुति लक्षणा से श्रेष्ठ है। इसलिये हरित गुण की विवक्षा से हरित शब्द प्रयुक्त होता है। हरित गुण की विवक्षा से प्रयुक्त होने के कारण विकृति में ऊहा न करनी चाहिये। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

जातिनैमित्तिकं यथास्थानम् ॥३॥

सूत्रार्थः—(जातिनैमित्तिकम्) जाति शब्द और जो नैमित्तिक शब्द दोनों हैं, वे (यथास्थानम्) यथास्थान हैं।

व्याख्या—जातिशब्द और नैमित्तिक शब्द दोनों ही ऊहितव्य हैं। इससे यह कहा जाता है कि स्तरण द्रव्य की गुण विवक्षा युक्त होती है। यद्यपि हारित्य गुण को हरित शब्द कहता है, तथापि हरित गुणवचन कहना अनर्थक होता है। हरित गुण वचन की कल्पना में वहाँ अदृष्ट की कल्पना करनी होगी। दृष्ट के प्रयोजन के होने पर अदृष्ट की कल्पना अशक्य है। स्तरण द्रव्य जो दर्भ है, वह लक्षणा से हरित गुण को कहता है। हरित धर्म के कहने पर यदि उसका प्रयोजन दृष्ट होता है स्तरण द्रव्य का बतलाना। यदि ऐसा है, तो यहां भी स्तरण द्रव्य पुण्डरीक का गुण प्रत्याययितव्य है। इसलिये पुण्डरीक के गुण को कहनेवाला रक्त गुण प्रत्यायनीय है। इसलिये पुण्डरीक के प्रसङ्ग में रक्त शब्द ऊहितव्य है ॥३॥

जैसा ऊपर व्याख्यान किया है, इस प्रकार व्याख्यान करने से अन्तर्गर्भिणी न्याय होता है, अर्थात् अधिकरण के अन्तर्गत ही अधिकरण बनता है। इसलिये अन्यथा वर्णन करते हैं—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२॥

जातिनैमित्तिकं यथास्थानम् ॥३॥

इति । इतश्च पश्यामो विकृतावूहः कर्तव्य इति । कुतः ? लिङ्गं दृश्यते । किं लिङ्गं भवति ? एवमाह—**विश्वेषां देवानामुस्राणां वपानां मेदसोऽनुब्रूहि** इति । जातिशब्दानामूहितानां समुच्चारणं भवति । तन्मन्त्राणामर्थवचनपक्ष एव कल्प्यते । ऊहेऽक्रियमाणेऽनर्थपरत्वेऽग्निच्छागशब्दावेव प्रयुज्येयाताम् । तत्रामीषामक्रियार्थानां वचनमनर्थकमेव स्यात् । न चात्रैते शब्दा विधीयन्ते, विधायकस्याभावात् । ननु प्रयोगवचनेन विधायिष्यन्ते । एवं तर्ह्यदृष्टार्थता दोषः । तस्मादस्ति ऊह इति ॥२-३॥

अविकारमेकेऽनार्षत्वात् ॥४॥

एके पुनराचार्या अविकारमनुमन्यन्ते । अस्मिन्नर्थे लिङ्गं वक्ष्यति । तस्येयं

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२॥

जातिनैमित्तिकं यथास्थानम् ॥३॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से (च) भी ऊह करना चाहिये ।

(जातिनैमित्तिकं) जाति के निमित्त से भी (यथास्थानम्) यथास्थान ऊह करना चाहिये ।

व्याख्या—इससे भी जानते हैं कि ऊह कर्त्तव्य है । किस प्रकार ? लिङ्ग दिखाई पड़ता है । लिङ्ग क्या होता है ? इस प्रकार कहते हैं—विश्वेषां देवानामुस्राणां छागानां वपानां मेदसोऽनुब्रूहि (=सम्पूर्ण देवों की गौवों के वपा और मेद का कथन करो) । जातिवाचक शब्दों का ऊहित किया हुआ भी उच्चारण होता है । मन्त्रों का अर्थवचन तभी कल्पित होता है, जबकि मन्त्र उस अर्थ को कहता है । ऊह यदि न करे तो किसी अर्थ को न कहने पर अग्नि और छाग शब्दों का ही प्रयोग करे । जिन से क्रिया नहीं की जानी, ऐसे अर्थों का वचन अनर्थक होता है । 'विश्वेषां' 'देवानां' और 'उस्राणां' क्रियाओं का विधान नहीं किया जाता, क्योंकि विधि विभक्ति का प्रयोग नहीं है । कर्म का जो प्रयोगवचन है, उस का विधान किया जाता है । यदि प्रयोगवचन से विधान करेंगे तो अर्थतः अदृष्टार्थता दोष आयेगा । इसलिये ऊह है ॥२-३॥

अविकारमेकेऽनार्षत्वात् ॥४॥

सूत्रार्थः—कुछ आचार्य (अविकारम्) विना विकार के ऊह मानते हैं (अनार्षत्वात्) आर्ष न होने से ।

व्याख्या—कुछ आचार्य विना विकार के ही प्रयोग करना चाहिये, ऐसा मानते हैं । उस अर्थ में लिङ्ग कहेंगे । उस लिङ्ग की इस सूत्र के द्वारा प्राप्ति करायी जाती है । यदि

प्राप्तिः क्रियते । यदि ह्यूह्येत, आर्षश्चोदको बाध्येत । तस्मादनूह इति ॥४॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५॥

लिङ्गमस्मिन्नर्थे दृश्यते । आग्नेये वैकृते पशावाम्नायते—**अग्नये छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि** इति । ऊहपक्षे न विधातव्यं स्यात् । विधीयते तु । तस्मादनूह इति । अपि चेदमपरं लिङ्गमग्नीषोमीये पशौ श्रूयते—**यद्येकं यूपमुपस्पृशेत् । एष ते वायो इति ब्रूयात् । यदि द्वौ, एतौ ते वायू इति । यदि बहून्, एते ते वायव इति ।** यद्यूहो भवेदेतदपि प्राप्तत्वान्न विधातव्यं स्यात् । विधीयते तु । तस्मादप्यनूह इति ॥५॥

विकारो वा तदुक्तहेतुः ॥६॥

वाशब्देन पक्षो व्यावर्त्यते[1] । यदुक्तमविकार इति तन्न । ऊहः स्यात् । अस्मिन्नर्थे पूर्वोक्तो हेतुः । अर्थे चाकार्यत्वादिति । मन्त्रार्थं ह्यनुरुध्य चोदको न मन्त्राक्षराणि,

---

ऊह का प्रयोग किया जाये तो आर्ष वचन 'विश्वेषां देवानाम्' आदि जो कहा गया है, उसका बाध होगा । इसलिये ऊह नहीं होता ॥४॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात्) लिङ्गदर्शन से (च) भी ऊह नहीं होता ।

व्याख्या—इस अर्थ में लिङ्ग दिखाई पड़ता है । वैकृत आग्नेय पशु याग में पढ़ा गया है—अग्नये छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि (=अग्नि देवता के लिये छाग की वपा और मेद का कथन करो) । ऊह पक्ष में विधान करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अग्नि देवता के वैकृत याग में ऊह होकर स्वयं अग्नि आदि शब्द उपस्थित हो जायेंगे । फिर भी विधान किया है । इससे जाना जाता है कि ऊह नहीं होता है ।

और यह दूसरा लिङ्ग भी अग्नीषोमीय पशु में सुना जाता है—यद्येकं यूपमुपस्पृशेत् एष ते वायो इति ब्रूयात् । यदि द्वौ एतौ ते वायू इति । यदि बहून्, एते ते वायव इति । यदि ऊह होवे तो प्राप्त होने से विधान नहीं करना चाहिये । विधान किया जाता है । इसलिये भी ऊह नहीं करना चाहिये ॥५॥

विकारो वा तदुक्तहेतुः ॥६॥

सूत्रार्थः—(वा) वा शब्द पक्ष की व्यावृत्ति के लिये है । (विकारः) विकार होता है (तदुक्तहेतुः) उस हेतुवाला होने से ।

व्याख्या—वा शब्द से पक्ष निवृत्त होता है । जो कहा है विकार नहीं होता, वह नहीं । ऊह होवे । इस अर्थ में पूर्वोक्त हेतु है अर्थ में कार्य न होने से । मन्त्रार्थ का अनुरोध

---

१. 'विपरिवर्तते' इति पाठान्तरम् ।

अर्थपराणि हि तानि, न स्वरूपप्रधानानि । तस्मादूहः स्यात् पूर्वेणैव हेतुना । केवलं लिङ्गपरिहारो वक्तव्यः ॥६॥

लिङ्गं मन्त्रचिकीर्षार्थम् ॥७॥

यल्लिङ्गमुक्तम्, **अग्नये छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि** इति, तन्मन्त्रचिकीर्षया विधीयते । इतरथा, ऊहितत्वादमन्त्रः स्यात् । तस्मात् पुनर्वचनम् ॥७॥

नियमो वोभयभागित्वात् ॥८॥

यल्लिङ्गमुक्तम्—**एष ते वायो** इति । तत् परिह्रियते । यदि ह्येतन्नोच्येत, यदि द्वावुपस्पृशेत्, यदि बहूनिति, सर्वं इमे मन्त्रा एकयूपे भवेयुः । उभयमपि मा प्रकृतौ भूदिति नियमः क्रियते । यदि द्वावुपस्पृशेत् **एतौ ते वायू** इति ब्रूयात् । यदि बहून् **एते ते वायव** इति ब्रूयात् । तस्मादेतदप्यलिङ्गमिति ॥८॥

—:o:—

करके ही चोदक वचन प्रयोग करता है, मन्त्राक्षर नहीं । मन्त्राक्षर अर्थप्रधान हैं, स्वरूपप्रधान नहीं हैं । इसलिये पूर्व हेतु से ही ऊह होवे । केवल लिङ्गों का पुनः वचन कहा जाता है ॥६॥

लिङ्गं मन्त्रचिकीर्षार्थम् ॥७॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गम्) लिङ्ग (मन्त्रचिकीर्षार्थम्) मन्त्र की चिकीर्षा करने के लिये है ।

व्याख्या—जो लिङ्ग कहा गया है—'अग्नये छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि' यह मन्त्र के कथन करने के लिये है कि कौनसा मन्त्र बोलना चाहिये । अन्यथा ऊहित होने से मन्त्र न माना जावे अर्थात् जो पाठ ऊहित होता है, वह मन्त्र का अवयव नहीं माना जाता है । इसलिये यह पुनर्वचन कहा है ॥७॥

नियमो वोभयभागित्वात् ॥८॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व लिङ्गरूप पक्ष की निवृत्ति करता है । (उभयभागित्वात्) लिङ्ग के उभयभागी होने से (नियमः) नियम किया जाता है ।

व्याख्या—जो लिङ्ग कहा है—एष ते वायो उसको दूर करते हैं । यदि एष ते इत्यादि न कहें, उस अवस्था में दो व्यक्ति को स्पर्श करें या बहुतों को, ये सब मन्त्र एक यूप में प्रयुक्त होवें । दोनों ही प्रकृति में न होवें, इसलिये नियम किया है—एक ही होवे । यदि दो का स्पर्श करे तो एतौ ते वायू कहे । यदि बहुतों का स्पर्श करे तो एते ते वायवः कहे । इसलिये यह भी लिङ्ग नहीं है ॥८॥

—:o:—

[लौकिकयूपस्पर्शे पुरुषार्थतया प्रायश्चित्तविधानाधिकरणम् ।।३।।]

अस्ति ज्योतिष्टोमः। तत्राग्नीषोमीये पशावाम्नायते-यद्येकं यूपमुपस्पृशेदेष ते वायो इति ब्रूयात्। यदि द्वौ एतौ ते वायू इति। यदि बहून् एते ते वायव इति। तत्रैषोऽर्थः सांशयिकः। लौकिके वैदिके च यूपोपस्पर्शने प्रायश्चित्तमुत वैदिके, अथवा लौकिके इति। किं प्राप्तम्? लौकिके वैदिके वाऽनियम[1] इति। कथम्? विशेषानाश्रयणात्।

न हि विशेष आश्रीयते लौकिके वैदिके वेति। तस्मादनियम इति। वैदिके वा। तथा हि। अस्य मन्त्रस्य समीपगतेन प्रयोजनाभिसम्बन्धो भविष्यति। इतरथा दूरगतेनाप्रकृतेन परोक्षः सम्बन्धः स्यात्। तस्माद् वैदिके यूपोपस्पर्शन इदं प्रायश्चित्तमिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

लौकिके दोषसंयोगादपवृक्ते हि चोद्यते निमित्तेन प्रकृतौ स्यादभागित्वात् ॥९॥ (सि०)

व्याख्या—ज्योतिष्टोम कहा है। वहाँ अग्नीषोमीय पशु में कहा है—यदि एकं यूपमुपस्पृशेदेष ते वायो इति ब्रूयाद्यदि द्वावेतौ ते वायू इति, यदि बहून् एते ते वायवः (=यदि एक यूप का स्पर्श करें तो 'एष ते वायो' यह मन्त्र बोले, यदि दो का स्पर्श करे तो 'ते वायू' यह बोले, यदि बहुतों का स्पर्श करे तो 'ते वायवः' ऐसा बोले)। वहाँ पर यह अर्थ सांशयिक है कि यह प्रायश्चित्त लौकिक वैदिक दोनों यूपों के स्पर्श में है अथवा वैदिक में अथवा लौकिक में? क्या प्राप्त होता है? लौकिक वा वैदिक में कोई नियम नहीं है। किस हेतु से? श्रुति में किसी विशेष का आश्रयण नहीं किया है, जिससे यह जाना जाये कि यह लौकिक यूप के स्पर्श में प्रायश्चित्त है अथवा वैदिक के स्पर्श में।

लौकिक अथवा वैदिक किसी का आश्रय नहीं किया है। इसलिये नियम नहीं है। अथवा वैदिक यूप के स्पर्श में प्रायश्चित करें। जैसे इस मन्त्र के समीप में पाठ होने का प्रयोजन सम्भव होगा। अन्यथा दूरस्थित के साथ जो प्रकृत में नहीं है, परोक्ष सम्बन्ध होगा। इसलिये वैदिक यूप के स्पर्शन में ही यह प्रायश्चित्त है।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

लौकिके दोषसंयोगाद् अपवृक्ते हि चोद्यते निमित्तेन प्रकृतौ स्याद् अभागित्वात् ।।९।।

सूत्रार्थः—(लौकिके) लौकिक यूपस्पर्श में (दोषसंयोगात्) दोष का संयोग होने से

---

१. 'चानियमः' इति पाठान्तरम्।

लौकिक उपस्पर्शने भवितुमर्हति, न वैदिके। कुतः? दोषसंयुक्तं[1] हि श्रूयत इदं प्रायश्चित्तम्—**यूपो वै यज्ञस्य दुरिष्टमामुञ्चते, यद्यूपमुपस्पृशेद्यज्ञस्य दुरिष्टमामुञ्चते। तस्माद्यूपो नोपस्पृश्य इत्यभिधाय, यद्येकं यूपमुपस्पृशेद्** इति समाम्नायते। तस्माद्यत्र दोषस्तत्र प्रायश्चित्तमिति। लौकिके च दोषो न वैदिके। वैदिके हि, अञ्जनमुच्छ्रयणं च कर्तव्यमुक्तम्। न तत्कर्तव्यं सदकर्तव्यं भविष्यति। सावकाशं चोपस्पर्शनप्रतिषेधवचनं लौकिकेऽविरुद्धं भविष्यति।

अपि च, अपवृक्ते कर्मणि चोद्यते निमित्तेन। कथम्? **यूपो वै यज्ञस्य दुरिष्टमामुञ्चत इति यत्किल यज्ञे दुरिटं तद्यूप आमुञ्चते, यत्सुकृतं तद्यजमाने** इति। सर्वमिदं प्रशंसार्थं, न विधिपदान्तरेण सम्बध्यते। इष्टशब्द एवैको विधिपदैः संबन्धमुपैति। प्रशंसापदैरपि सम्बध्यमान इह संनिहितो भवति। संनिहितत्वाच्च पदान्तरैः सम्बध्यते। यथा दण्डो मनोहरो रमणीयश्च, प्रहर शीघ्रमिति

(अपवृक्ते) कर्म समाप्त हो जाने पर (हि) ही (चोद्यते) उपस्पर्श का कथन किया है। (निमित्तेन) इसलिये निमित्त से (प्रकृतौ) प्रकृति में (स्यात्) होगा, (अभागित्वात्) वैदिक यूपस्पर्श के भागी न होने से।

व्याख्या—लौकिक उपस्पर्शन में दोष हो सकता है, वैदिक में नहीं। किस हेतु से? यह प्रायश्चित्त दोषसंयुक्त सुना जाता है—यूपो वै यज्ञस्य दुरिष्टमामुञ्चते, यद्यूपमुपस्पृशेद् यज्ञस्य दुरिष्टमामुञ्चते तस्माद् यूपो नोपस्पृश्यः (=यूप निश्चय ही यज्ञ के पाप को छोड़ता है, यदि यूप का स्पर्श करे तो यज्ञ के पाप को छोड़ता है, इसलिये यूप का स्पर्श नहीं करना चाहिये)। ऐसा कहकर यद्येकं यूपमुपस्पृशेत् ऐसा पढ़ा है। इसलिये जहां दोष है, वहीं पर प्रायश्चित्त है। लौकिक यूप के स्पर्श में दोष है, वैदिक में नहीं। वैदिक कर्म में यूप का अञ्जन, खड़ा करना कर्तव्य कर्म हैं। यदि वे कर्म नहीं किये गये तो अकर्तव्य हो जायेगा। और जिस स्पर्श के प्रतिषेध को अवकाश प्राप्त है वेद में, वह लौकिक में अविरुद्ध होगा।

और भी जो स्पर्श का निमित्त है, वह कर्म के पूर्ण हो जाने पर कहा जाता है। कैसे? यूपो वै यज्ञस्य दुरिष्टमामुञ्चते इति। यत् किल यज्ञे दुरिष्टं तद् यूप आमुञ्चते, यत् सुकृतं तद् यजमाने (=यूप निश्चय ही यज्ञ के दुरिष्ट को छोड़ता है, जो यज्ञ में दुरिष्ट है, उसको छोड़ देता है, और जो यज्ञ का सुकृत है, उसको यजमान में धारण कराता है)। यह जो कुछ कहा है, प्रशंसा के लिये है। जब तक विधायक पद न होवे, यज्ञ के साथ सम्बन्ध नहीं होता। इष्ट शब्द ही एक विधिपद के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होता है। प्रशंसा पद के साथ सम्बद्ध होता हुआ यहां समीप में होता है और समीप में होने से पदान्तरों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होता है। जैसे—'दण्डो मनोहरो रमणीयश्च प्रहर शीघ्रम्' यहां रमणीय और मनोहर का सम्बन्ध होने पर भी 'प्रहर शीघ्रम्' इन पदों के साथ सम्बन्ध

---

१. 'एवं दोषसंयुक्तं' इति पाठान्तरम्।

रमणीयमनोहरसम्बन्धेऽपि सति संनिहितत्वात् प्रहर शीघ्रमित्येतैः पदैः सम्बध्यते। एवमिष्टशब्दोऽपि संनिहितत्वात् सम्बध्यते। इष्टे यदि यूपमुपस्पृशेद् एष ते वायो इत्येवमादि ब्रूयादिति। सोऽयमिष्ट इत्यपवर्गस्य वक्ता शब्दः। अपवृक्ते चेदुपस्पर्शनं मन्त्रस्य निमित्तं, व्यक्तं न वैदिकम्। तस्माल्लौकिके यूपोपस्पर्शने प्रायश्चित्तं, न प्रकृतौ वैदिके। अभागित्वात् प्रतिषेधस्यापवर्गस्य च, वैदिके न सम्भवतीति ॥९॥

—०—

[द्विपाशिकायां विकृतावेकवचनान्तबहुवचनान्तपाशमन्त्रयोर्द्विवचनान्तेनोहाधिकरणम् ॥४॥]

अस्ति पशुरग्नीषोमीयः—यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभेत इति। तत्र पाशैकत्वाभिधायी मन्त्रः—अदितिः पाशं प्रमुमोक्त्वेतम् इति। तथा पाशबहुत्वाभिधायी—अदितिः पाशान् प्रमुमोक्त्वेतान् इति। प्रकृतौ तयोः समुच्चयं वक्ष्यति। अस्ति द्विपशुर्विकृतिः—मैत्रं श्वेतमालभेत, वारुणं कृष्णमपां चौषधीनां च संधावन्नकाम इति। तत्र चोदकेन पाशाभिधायिनौ मन्त्रौ प्राप्तौ। तयोः संशयः। किं बहुवचनान्तोऽविकारेण प्रवर्तते, एकवचनान्तस्य निवृत्तिः, उत बहुवचनान्तो,

---

होता है। इसी प्रकार 'इष्ट' शब्द भी सन्निहित होने से सम्बद्ध होता है। यज्ञ करने के पश्चात् यदि यूप का स्पर्श करे तो 'ते वायो' इत्यादि बोले। सो यह इष्ट शब्द अपवर्ग को कहनेवाला है। अपवर्ग में यदि यूप के उपस्पर्शन का निमित्त हो तो स्पष्ट है कि यह वैदिक यूप का उपस्पर्शन नहीं है। इसलिये लौकिक यूप के उपस्पर्शन में यह प्रायश्चित्त है, वैदिक यूप के उपस्पर्शन में नहीं है। वह उसका अधिकारी नहीं है। प्रतिषेध के और अपवर्ग के वैदिक में सम्भव न होने से ॥९॥

—०—

व्याख्या—अग्नीषोमीय पशुयाग है—यो दीक्षितो अग्नीषोमीयं पशुमालभेत (=जो अग्नीषोमीय पशु का आलम्भन करता है)। वहां पर एक पाश का कहनेवाला मन्त्र है—अदितिः पाशं प्रमुमोक्त्वेतम् (=अदिति पाश को इसके प्रति छोड़े)। तथा बहुत पाशों को कहनेवाला मन्त्र है—अदितिः पाशान् प्रमुमोक्त्वेतान् (=अदिति इनके प्रति पाशों को छोड़े)। प्रकृत अधिकरण में उन दोनों मन्त्रों का समुच्चय कहेंगे। एक दो पशु वाला विकृतियाग है—मैत्रं श्वेतमालभेत वारुणं कृष्णमपां चौषधीनां च सन्धावन्नकामः (मित्र देवतावाले श्वेत पशु का आलम्भन करे, वरुण देवतावाले काले पशु का जल और ओषधियों के सन्धि में अन्न की कामनावाला)। वहां पर चोदकवचन पाशाभिधायी मन्त्र प्राप्त हुए। उनमें संशय है—क्या बहुवचनान्त मन्त्र विना विकार के यथावत् प्रवृत्त होता है और एकवचनान्त की निवृत्ति हो जाती है, अथवा बहुवचनान्त निवृत्त हो जाता है

निवर्तते, एकवचनान्त ऊहितव्यः, उतोभयोरपि प्रवृत्तिरभिधानविप्रतिपत्तिश्च, उतैकवचनान्त ऊहितव्यो बहुवचनान्तोऽपि न निवर्तेत ? किं प्राप्तम् ?

अन्यायस्त्वविकारेणादृष्टप्रतिघातित्वादविशेषाच्च तेनास्य ॥१०॥ (पू०)

अन्यायस्त्वविकारेण । अन्यायनिगदो बहुवचनान्तोऽविकारेण प्रवर्तते। एकवचनान्तो निवर्तितुमर्हति । कुतः ? नास्यैकस्मिन् पाशे प्रवर्तमानस्य दृष्टः प्रतिघातः । यथैवैकस्मिन् पाशे प्रवर्तते, तथा द्वयोरपि प्रवर्तितुमर्हति । नासावेकस्य वाचकः, न द्वयोः । एवमार्षश्चोदकोऽनुगृहीतो भविष्यति । इतरथा हि, ऊह्यमाने यथाप्रकृति मन्त्रो न कृतः स्यात् । न द्वयोः पाशयोः, एकस्मिंश्च पाशे कश्चिद् विशेषोऽस्ति । तस्मादविकारेण बहुवचनान्तः प्रयुज्यते, एकवचनान्तस्य निवृत्तिरिति ॥१०॥

विकारो वा तदर्थत्वात् ॥११॥

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । विकारो वा स्यात् । एकवचनान्त ऊहेन प्रवर्तते,

---

और एकवचनान्त की ऊहा करनी चाहिये । एकवचनान्त को द्विवचनान्त के रूप में परिणत कर लेना चाहिये ? अथवा दोनों की प्रवृत्ति होती है और अभिधान के सङ्गत न होने से ? अथवा एकवचनान्त की ऊहा कर लेनी चाहिये, बहुचनान्त भी निवृत्त न होवे ? क्या प्राप्त हो आ है ?

अन्यायस्त्वविकारेणादृष्टप्रतिघातित्वाद् अविशेषाच्च तेनास्य ॥१०॥

सूत्रार्थः—(अस्य) इसका (अविकारेण) अविकार से प्रयोग करना (अन्यायः) अन्याय है। (तेन) उसके द्वारा (अदृष्टप्रतिघातित्वात्) अदृष्ट का प्रतिघाती (अविशेषाच्च) तथा विशेष न होंने से ।

व्याख्या—अविकार से बहुवचनान्त रूप में ही प्रवृत्त होता है । यह अन्याय निगद है, जो बहुवचनान्त रूप में ही प्रवृत्त होता है। एकवचनान्त निवृत्त हो सकता है। किस कारण ? एक पाश के प्रवृत्त होने पर कोई प्रतिघात नहीं देखा गया । जैसे मन्त्र एक पाश में प्रवृत्त हुआ, वैसे दो पाशों में भी प्रवृत्त हो सकता है। पाश शब्द न एक का वाचक है न दो का । इस प्रकार पाशचोदक वचन अनुगृहीत होगा । अन्यथा पद का ऊह हो जाने पर यथाप्रकृति मन्त्र नहीं प्रयुक्त होगा । दो पाश अथवा एक पाश, दोनों में कोई भेद नहीं है। इसलिये अविकार से बहुवचनान्त प्रयुक्त होता है, एकवचनान्त की निवृत्ति होती है ।

विकारो वा तदर्थत्वात् ॥११॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वोक्त पक्ष को निवृत्त करता है। (विकारः) अथवा विकार होवे (तदर्थत्वात्) उस अर्थवाला होने से ।

व्याख्या—'वा' शब्द पक्ष की निवृत्ति करता है । अथवा विकार होवे । एकवचनान्त

बहुवचनान्तनिवृत्तिरिति। कुतः? तदर्थत्वात्। यौ पाशौ विकृतौ वक्तव्यौ, तौ च प्रयोगवचनानुग्रहाद्यौगपद्येन, न पर्यायेण। तत्र न गम्यते विशेषः, पाशशब्द उच्चरिते कस्य पाशस्याभिधानं कस्य नेति। अविशेषाद् द्वयोरपि पाशयोः। तत्र तयोः कर्मत्वाभिसम्बन्धं द्वितीयाद्विवचनमेव शक्नोति वदितुं, नान्यत्। तस्माद् द्विवचनमूह्येत। बहुवचनमेकवचनं च निर्वर्तितुमर्हत इति ॥११॥

अपि त्वन्यायसम्बन्धात् प्रकृतिवत् परेष्वपि यथार्थं स्यात् ॥१२॥

अपि त्विति पक्षो व्यावर्त्यते[1], न बहुवचनं निवर्तेत[2]। यथा प्रकृतौ बहुवचनान्तमेकवचनान्तं च प्रवृत्तम्। अन्यायसम्बन्धाद् बहुवचनान्तम्। एवं विकृतावप्येकवचनान्तं द्विवचनान्तमूह्येत। अन्यायसंबन्धाच्च बहुवचनान्तं प्रवर्तेत। यदि प्रकृतौ प्रातिपदिकार्थमात्रं पक्षे प्रकाशितं, विकृतावपि तत्पक्षे प्रकाशयितव्यम्। अथ बहुवचनान्तेनैकत्वमुक्तम्, इहापि बहुवचनान्तेन द्वित्वं वक्तव्यम्। तस्मादभिधानविप्रतिपत्तिः कर्तव्येति ॥१२॥

शब्द ऊह से (द्विवचनान्त) प्रवृत्त होता है, बहुवचनान्त की निवृत्ति होती है। किस हेतु से? तदर्थ होने से। जो दो पाश विकृतियाग में वक्तव्य हैं, ये प्रयोगवचन के अनुग्रह के लिये युगपत् कहे जाते हैं, पर्याय से नहीं। उस अवस्था में यह विशेष नहीं जाना जाता है कि पाश शब्द के उच्चरित होने पर (दोनों में से) किस पाश का कथन किया है, किस का नहीं। सामान्य होने से दोनों पाशों का कथन होता है। उस अवस्था में उनके कर्मत्व सम्बन्ध को द्वितीया-द्विवचन कह सकता है, अन्य वचन नहीं। इसलिये द्विवचन का ऊह करना चाहिये, बहुवचन और एकवचन निर्वर्त्तित हो सकते हैं ॥११॥

अपि त्वन्यायसम्बन्धात् प्रकृतिवत् परेष्वपि यथार्थं स्यात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(अपि तु) 'अपि तु' से पूर्वोक्त पक्ष निवृत्त होता है। (अन्यायसम्बन्धात्) अन्याय सम्बन्ध होने से (प्रकृतिवत्) प्रकृति के समान (परेषु अपि) अन्यों में भी (यथार्थम्) यथार्थ (स्यात्) होवे।

व्याख्या—'अपितु' शब्द से पूर्व उक्त पक्ष बदलता है, बहुवचन निवृत्त न होवे। जैसे प्रकृति में बहुवचनान्त और एकवचनान्त प्रवृत्त हुआ है, तद्वत् होवे। अन्यायसम्बन्ध से बहुवचनान्त निवृत्त होवे। इसी प्रकार विकृति में भी एकवचनान्त द्विवचनान्त रूप से ऊहित होवें। और अन्यायसम्बन्ध से बहुवचनान्त प्रवृत्त होवे। यदि प्रकृति में पाश शब्द ने प्रातिपदिकार्थमात्र प्रकाशित किया है, तो विकृति में भी पक्ष में प्रकाशित करना चाहिये। और यदि बहुवचनान्त ने एकत्व कहा है, तो यहाँ भी बहुवचनान्त के द्वारा द्वित्व को कहना चाहिये। इसलिये शब्दार्थ का विरोध होता है ॥१२॥

---

१. 'विपरिवर्तते' इति पाठान्तरम्।
२. 'निवर्त्येत' इति पाठान्तरम्।

यथार्थं त्वन्यायस्याचोदितत्वात् ॥१३॥ (सि०)

तुशब्दस्तमपि[1] पक्षं व्यावर्तयति। नाभिधानविप्रतिपत्तिः कर्तव्येति। किं तर्हि? यथार्थं द्विवचनमूहितव्यं, बहुवचनमेकवचनं च निवर्तेयाताम्। तद्धि द्विपाशाभिधायिनः पाशशब्दात्परं बहुवचनमेकवचनं वा न शक्नोति कर्मसम्बन्धं वदितुम्। लोको हि शब्दार्थावगमे प्रमाणम्। न च लोके द्वयोरर्थयोर्बहुवचनान्त एकवचनान्तो वा प्रवर्तमानो दृश्यते। तस्मादूहेन द्वयोः पाशयोर्बहुवचनान्त एकवचनान्तो वा प्रयोक्तव्यः ॥१३॥

कथं प्रकृतावेकस्मिन् पाशे बहुवचनान्त इति चेत्—

छन्दसि तु यथादृष्टम् ॥१४॥

यावद् दर्शनं प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यं छन्दसि, न दर्शनमतिक्रमितव्यम्। यो हि दर्शनमतिक्रम्यान्यदपि[2] कल्पयेत्, न तेन छान्दसं कृतं स्यात्, न लौकिकं, नापि

यथार्थं त्वन्यायस्याचोदितत्वात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्वोक्त पक्ष को निवृत्त करता है। (अन्यायस्य) अन्याय के (यथार्थम्) यथार्थ रूप में (अचोदितत्वात्) कथित न होने से।

व्याख्या—'तु' शब्द भी पक्ष को निवृत्त करता है। अर्थ का विरोध नहीं करना चाहिये। तो क्या करना चाहिये? अर्थानुकूल द्विवचन का ऊह करना चाहिये, बहुवचन और एकवचन निवृत्त होवें। वह दो पाशों को कहनेवाले पाश शब्द से परे बहुवचन और एकवचन द्विपाश के कर्मसम्बन्ध को नहीं कह सकता। लोक ही शब्दार्थ के ज्ञान में प्रमाण है। लोक में दो अर्थों में बहुवचनान्त और एकवचनान्त प्रवर्तमान नहीं देखा जाता। इसलिये ऊह से दो पाशों का बहुवचनान्त का एकवचनान्त प्रयोग करना चाहिये ॥१३॥

व्याख्या—यदि कहो कि प्रकृति में एक पाश में बहुवचनान्त शब्द कैसे प्रयुक्त हुआ, तो—

छन्दसि तु यथादृष्टम् ॥१४॥

सूत्रार्थः—(छन्दसि) छन्द में (यथादृष्टम्) जैसा देखा गया है, वैसा प्रवृत्त होता है।

व्याख्या—छन्द में जितना देखा गया है, उतने का प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिये, दर्शन का अतिक्रमण नहीं करना चाहिये। जो व्यक्ति दर्शन का अतिक्रमण करे, उससे न छान्दस प्रयोग होगा, न लौकिक और न लक्षणसिद्ध। जो कहा—चोदक के अभिधान का

---

१. 'तुशब्द एतमपि' इति पाठान्तरम्।
२. 'अन्यत्रापि' इति पाठान्तरम्।

लक्षणसिद्धम् । यदुक्तं, चोदकेनाभिधानविप्रतिपत्तिश्चोद्यत इति । नैतदेवम् । अन्यायस्याचोदितत्वात् । न हि चोदकोऽन्याय्यामभिधानविप्रतिपत्तिमभिप्रापयति। किं कारणम् ? प्रकृतावेकत्वात् पाशस्य, प्रयुक्तत्वाच्च बहुवचनान्तस्य, प्रत्यक्षाऽभिधानविप्रतिपत्तिः । केयमाभिधानविप्रतिपत्तिर्नाम । यदन्यथाभिधानम्, अन्यथाऽभिधेयम् । न च प्रकृतावेकस्मिन् बहुवचनान्तं प्रयुक्तमभिधानविप्रतिपत्तिं कर्तुम् । किं तर्हि ? यत्तेन शक्यते, तत्कर्तुम् । किंचानेन शक्यते । अस्य सिद्धे प्रयोगेऽर्थमन्विच्छन्तो यदवगम्यते तदर्थः शब्द इत्यवधारयामः । अस्माच्च पाशद्रव्यस्य मोचनेन सम्बन्धोऽवगम्यते । तदर्थता शब्दस्य भवितुमर्हति । नैकत्वेन बहुत्वेन वा प्रयोजनम् ।

इह तु विकृतौ पाशस्य च पाशस्य च यौगपद्येन मोचनेन सम्बन्धो वदितव्यः । बहुवचनं च द्वयोः पाशयोरन्याय्यम् । कर्माभिधाने[1] इह पुनर्न प्रयोगः सिद्धः । किंतु प्रयोग एव चिन्त्यते कः शब्दः प्रयोक्तव्य इति । तत्र प्रयोगेऽस्मदायत्ते किमित्यवाचकं प्रयोक्ष्यामहे विद्यमाने वाचके । न चायं द्वयोश्छन्दसि दृष्टो बहुवचनान्तः । सोऽयं मन्त्रः प्रयुज्यमानोऽपभ्रंश एव स्यात्, न छान्दसः । न च बहुवचनं द्वित्वप्रत्ययार्थं लभ्यते लौकिके वैदिके[2] वा । न चाभिधित्सिते द्वित्वे द्वयोर्बहुवचनं

विप्रतिषेध कहा है । ऐसा नहीं होगा । अन्याय के चोदित न होने से । चोदक वचन अन्याय अर्थ के विरोध को प्राप्त नहीं कराता । क्या कारण है? प्रकृति में एक पाश के होने से । बहुवचनान्त के प्रयुक्त होने से अभिधान की विप्रतिपत्ति प्रत्यक्ष है । यह अभिधान की विप्रतिपत्ति क्या है ? जो अन्यथा कहना और अन्यथा दूसरे रूप में कथन करना । प्रकृति में एक में बहुवचनान्त प्रयुक्त शब्द अभिधान का कथन नहीं कर सकता । तो क्या ? जो उसके द्वारा किया जा सकता है । यह क्या कर सकता है ? शब्द के प्रयोग सिद्ध होने पर अर्थ चाहते हुए जो शब्द के द्वारा जाना जाता है, वह इस शब्द का अर्थ है, ऐसा निश्चय करते हैं । इससे पाश द्रव्य का मोचन से सम्बन्ध जाना जाता है । यही अर्थ शब्द का हो सकता है । एकत्व से और बहुत्व से कोई प्रयोजन नहीं है ।

यहां तो विकृति में पाश और दूसरे पाश का युगपत् मोचन के साथ सम्बन्ध कहना है । बहुवचन दो पाशों के कहने में अयुक्त है । उसके कथन करने में यह प्रयोग नहीं है । केवल प्रयोग का ही विचार किया जाता है । कौन शब्द प्रयुक्त करना चाहिये । इस विषय में प्रयोग हमारे हाथ में होने से अवाचक शब्द का प्रयोग क्यों करेंगे, अवाचक के विद्यमान होने पर । छन्द में यह शब्द दो में बहुवचनान्त नहीं देखा गया है । इसलिये यह मन्त्र प्रयुक्त हुआ अपभ्रंश ही होगा, छान्दस नहीं होगा । यह बहुवचन द्वित्व अर्थ के बतलाने के लिये न लोक में न वेद में प्राप्त होता है । द्वित्व के कथन करने की इच्छा होने पर दो अर्थ में बहुवचन

---

१. 'तस्याभिधाने, इह न प्रयोगः' इति पाठान्तरम् ।
२. 'वैदिके च', इति पाठान्तरम् ।

भवति। तद्यथा, देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यां कर्तव्यमिति देवदत्तयज्ञदत्तशब्दद्वयादेव द्वित्वं प्राप्तं न विभक्त्याऽभिधास्यते[1]। तथाऽपि द्विवचनमेव भवति, न बहुवचनम्। तस्माद् विकृतावूहितव्यमिति ॥१४॥

—:०:—

[बहुवचनान्तपाशमन्त्रस्य विकल्पेन प्रकरण एव निवेशाधिकरणम् ॥५॥]

अस्ति[2] पशुरग्नीषोमीयः—**यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभत** इति। तत्र पाशैकत्वाभिधायी पाशबहुत्वाभिधायी च मन्त्रौ समाम्नातौ। तयोः किमेकत्वाभिधायी प्रकरणे निविशते, बहुत्वाभिधायी प्रकरणादुत्कृष्यत उतोभावपि प्रकरणमभिनिविशते इति? किं प्राप्तम्? बहुत्वाभिधायी[3] उत्कष्टंव्य इति। कुतः? बहूनां हि स पाशानां मोचकः। न च प्रकरणे बहवः पाशाः सन्ति। तस्मात् प्रकरणेऽसम्बध्यमानो यत्र बहवः पाशास्तत्र नीयेत। यथा–**युवं हि स्थः स्वर्पती** इति **द्वयोर्यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यादिति। एते असृग्रमिन्दव** इति **बहुभ्यो यजमानेभ्यः प्रतिपदं कुर्याद्** इति प्रतिपद्विधानमुत्कृष्यते। यथा च, पौष्णसवित्रसारस्वतद्यावापृथिवीयाद्यनुमन्त्रणान्युत्कृष्यन्ते, एवं पाशबहुत्वाभिधाय्यपीति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

विप्रतिपत्तौ विकल्पः स्यात् समत्वाद् गुणे त्वन्यायकल्पनैकदेशत्वात् ॥१५॥ (सि०)

विप्रतिपत्तावेतस्यां, का विप्रतिपत्तिः? यत् प्रकृतावेकः पाशः, पाशबहुत्वाभिधायी च मन्त्रः। एतस्यां विप्रतिपत्तौ किं मन्त्र उत्कृष्यते, नेति? उच्यते।

नहीं होता। जैसे 'देवदत्त और यज्ञदत्तों को करना चाहिये' ऐसा कहने के लिये देवदत्त और यज्ञदत्त शब्द से ही द्वित्व प्राप्त विभक्ति से कथन नहीं किया जायेगा, अर्थात् द्वित्व की प्रतीति देवदत्त और यज्ञदत्त से ही हो जायेगी तो विभक्ति के द्वारा उसका कथन नहीं होगा। फिर भी द्विवचन ही होता है, बहुवचन नहीं होता। इसलिये विकृति में ऊह करना चाहिये ॥१४॥

—:०:—

विप्रतिपत्तौ विकल्पः स्यात् तत्समत्वाद् गुणे त्वन्यायकल्पनैकदेशत्वात् ॥१५॥

सूत्रार्थः—(विकल्पः स्यात्) विकल्प होता है (तत्समत्वात्) एकवचनान्त और बहुवचनान्त मन्त्रों का प्रकरण समान होने से (विप्रतिपत्तौ) विरोध में (एकदेशत्वात्) अप्रधान होने से (अन्यायकल्पना) विवक्षा के अभाव की कल्पना करनी योग्य है।

---

१. 'विधित्स्यते' इति पाठान्तरम्।

२. 'अस्ति सोमे पशु' इति-पाठान्तरम्।

३. बहुत्वाभिधायी यत्र बहवः पाशास्तत्रोत्कर्ष्टव्य' इति पाठान्तरम्।

नोत्कष्टंव्यः। ननु प्रकृतावन्यो मन्त्रः। उच्यते। तेन सह विकल्पो भविष्यति। कुतः? पाशप्रातिपदिकार्थस्य प्रकृतौ विद्यमानत्वादुत्कर्षो न न्याय्यः। ननु बहुपाशवचन एष मन्त्रः। प्रकृतौ त्वेकः पाशः। तस्मात्तत्र न सम्भवतीति। उच्यते। बहूनप्यसौ पाशान् वदन् बहुत्वाधिष्ठानं द्रव्यं प्रकाशयत्येव। यदि न प्रकाशयेत्, न पाशविशिष्टं बहुत्वं गम्येत। प्रकाशयति चेत्, तावता नः प्रयोजनम्। तस्य ह्युन्मोचनं क्रियते, न बहुत्वस्य, पाशाकृतेर्वा। तस्मात्तस्य प्रकाशनं कर्तव्यम्। तत्प्रातिपदिकेन करिष्यते, नोत्कृष्यते।

अथोच्यते। अस्त्येव ह्येकवचनान्तं प्रातिपदिकम्। तत्तस्य प्रकाशनं करिष्यतीति। अत्रोच्यते। न हीदं तस्मादन्यत्। यद्येकवचनान्तं प्रातिपदिकं नोत्कृष्यते, प्रकरणादित्युच्यते, सिद्धस्तर्ह्यनुत्कर्षस्तदेवेदमिति। ननु बहुवचनस्य बहुपाशकप्रयोगेऽर्थवत्ता। तस्माद् उत्कष्टंव्यम्। तदुत्कृष्यपाणमेकदेशत्वात् प्रातिपदिकमुत्कर्षतीति, उच्यते। गुणे त्वन्यायकल्पना स्यादिति, न प्रधाने। गुणश्च विभक्त्यर्थः। प्रधानं प्रातिपदिकार्थः। प्रातिपदिकार्थविशेषो विभक्त्याऽभिधीयते। सति प्रातिपदिकार्थे विभक्त्यर्थेन भवितव्यम्। न च विकृतौ प्रातिपदिकमस्ति। अनारभ्याप्यभिहितं[1] प्रकृतिं प्रविशति। किमङ्ग पुनः प्रकृतावेवाभिहितम्। तस्माद्यत्र प्रातिपदिकार्थस्तत्र विभक्त्यर्थो भविष्यति।

ननु विकृतावपि चोदकेन प्राप्तं प्रातिपदिकं, प्रातिपदिकार्थश्चोच्यते। बाढम्। विप्रकृष्टस्तु चोदकः। बहुवचनसमर्थकं प्रातिपदिकं चोदको नोत्कक्ष्यति। तस्मात् प्रातिपदिकमेकदेशत्वाद् बहुवचनमाक्रक्ष्यतीति। न च प्रकृतावनर्थकमेव बहुवचनं, पाशाकृतिकस्य हि तदुन्मोचने कर्मसम्बन्धं करोति। तस्माद् गुणे बहुवचनेऽन्यायकल्पना, न प्रधाने प्रातिपदिकार्थे इति। किं पुनरन्याय्यम्? यद्बहुत्वं गम्यमानमविवक्षितमित्युच्यते। तत्कल्प्यतां, न तु प्रकृतौ प्रातिपदिकस्य प्रातिपदिकार्थाभिधानमन्याय्यं कल्पयितव्यम्। अस्य हि गुणस्यावाच्यमेव वैकृतं बहुत्वं, संनिधानाभावात्। तस्मात् प्रकृतौ बहुवचनान्तस्यापि निवेश इति ॥१५॥

प्रकरणविशेषाच्च ॥१६॥

भावार्थः—अग्नीषोमीय प्रकरण में '**अदितिः पाशं प्रमुमोक्तु**' और **अदितिः पाशान् प्रमुमोक्तु**—ये दोनों मन्त्र प्रकृति में विकल्प रूप में बोलने। पाश एक और मन्त्रगत पाश शब्द बहुवचन अविवक्षित है, ऐसी कल्पना करनी चाहिये। संख्या गौण है और प्रातिपदिक मुख्य है। मुख्यानुसारी कल्पना होनी यही न्याय है ॥१५॥

प्रकरणविशेषाच्च ॥१६॥

---

१. 'अनारम्याधीतं हि' इति पाठान्तरम्।

प्रकरणविशेषाच्चैतदध्यवसीयते, प्रातिपदिकं बहुवचनमाकर्षति, न प्रातिपदिकं बहुवचनेनोत्कृष्यत इति। प्रकृतौ हि प्रातिपदिकार्थो विद्यतेऽग्नीषोमीये पशौ। बहुवचनार्थो[1] विकृतिषु। तस्मादपि बहुवचनान्तस्य प्रकृतौ निवेश इति ॥१६॥

उत्कर्षो वा द्वियज्ञवदिति यदुक्तम्, तत्परिहर्तव्यम्—

अर्थाभावात्तु नैवं स्याद् गुणमात्रमितरत् ॥१७॥

युक्तं यत्प्रतिपद्विधानमुत्कृष्यते, नास्ति प्रकृतौ यजमानद्वित्वं यजमानबहुत्वं वा। तत्र न भवेद् विषय एतयोः प्रतिपदोः। इह तु गुणमात्रं नास्ति बहुत्वम्। अन्यत्तु बहुवचनस्य प्रयोजनं, मुचिना सम्बन्धः। न चानेकप्रयोजनमन्यतमेन प्रयोजनेन न प्रयुज्यते। न हि, उल्का प्रकाशनेनाप्रयुज्यमाना भस्मना न प्रयुज्यते। तस्माद् विषमं प्रतिपद्भ्यामिदमिति ॥१७॥

द्यावोस्तथेति चेत् ॥१८॥

अथ यदुक्तं द्यावापृथिव्यादीनामनुमन्त्रणानां यथोत्कर्षस्तथाऽस्येति। तत् परिहर्तव्यम् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(च) और (प्रकरणविशेषात्) प्रकरण दोनों मन्त्रों के समान हैं। इसलिये एक भी मन्त्र का त्याग नहीं होना चाहिये ॥१६॥

अर्थाभावात्तु नैवं स्याद् गुणमात्रमितरत् ॥१७॥

सूत्रार्थः—(अर्थाभावात् तु) द्वित्वविशिष्ट रूप अर्थ बोध का प्रकृत में अभाव होने से (गुणमात्रम् इतरत्) दूसरा गुण मात्र है (नैवं स्यात्) इसलिए ऐसा नहीं होता।

भावार्थः—बहुवचनान्त पदवाले मंत्र का बहुपशुक याग में उत्कर्ष करना अर्थात् वहाँ उसका पाठ करना। **युवं हि स्थः स्वःपती** इस मंत्र का जैसे **'राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेतामिति'** इस वाक्य से प्रतिपादित दो यजमानवाले कुलाय नामक याग में उत्कर्ष होता है, वैसे ही यहां भी बहुवचनवाले पदगत मंत्र का उत्कर्ष करना। **'युवं हि स्थः स्वः पती'** यह मंत्र इस प्रकार नहीं, इसलिये कि विनियोजक विधिहीन नहीं। अतः दृष्टान्त में विषमता है। इसलिये उक्त स्थान में तो उत्कर्ष होगा। पर पाशान् पदवाले उक्त मंत्र का उत्कर्ष नहीं होगा ॥१७॥

द्यावोस्तथेति चेत् ॥१८॥

भावार्थः—दर्शपूर्णमास प्रकरण पठित जो अनुमंत्रण है **द्यावापृथिव्योरहम्** इत्यादि दृष्टान्त जो देने में आवे तो वह अयोग्य है। इस सम्बन्ध में विशेष अगले सूत्र में बताया गया है ॥१८॥

---

१. 'अप्रकृतौ हि बहुवचनार्थः' इति पाठान्तरम्।

नोत्पत्तिशब्दत्वात् ॥१९॥

नैतदनुमन्त्रणेन तुल्यम् । न हि दर्शपूर्णमासयोर्द्यावापृथिव्यादीनामुत्पत्तौ शब्दोऽस्ति । अस्ति त्विह पाशस्योत्पत्तौ शब्दः । तस्माद् विषममनुमन्त्रणेनेति ॥१९॥

—:o:—

[दर्शपूर्णमासयोर्द्विबहुपत्नीकप्रयोगे पत्नीमन्त्रस्यानूहाधिकरणम् ॥६॥]

दर्शपूर्णमासयोरामनन्ति—**प्रोक्षणीरासादयेध्माबर्हिरुपसादय, स्रुवं च स्रुचश्च संमृड्ढि, पत्नीꣳ संनह्याऽऽज्येनोदेहि** इति । तत्र पत्नीं संनह्येति चिन्त्यते । अस्ति हि यजमान एकपत्नीको बहुपत्नीकश्च । तत्र सर्वस्य प्रयोगमधिकृत्य पत्नीशब्द उच्चरित इत्येतत्पाशाधिकरणेनैवं निर्णीतम् । इदं तु संदिह्यते । किं द्विपत्नीके बहुपत्नीके च प्रयोग ऊहितव्यः पत्नीशब्द उत नेति ? किं प्राप्तम् ? अभिधानार्थत्वान्मन्त्राणामूहितव्य इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

अपूर्वे त्वविकारोऽप्रदेशात् प्रतीयेत ॥२०॥ (सि०)

अपूर्व तु—अप्रकृतिपूर्वके कर्मणि, अविकारेण प्रयुज्येत । कुतः ? ईकारान्तं हीदं पत्नीमात्रस्य वाचकम् । तत्र द्विपत्नीकं बहुपत्नीकं च प्रयोगे पत्नीशब्द उपादीयमाने द्विवचनं बहुवचनं च सामर्थ्यात् प्राप्नोति संनहनसम्बन्धं कर्तुम् ।

नोत्पत्तिशब्दत्वात् ॥१९॥

सूत्रार्थः—(न) नहीं (उत्पत्तिशब्दत्वात्) उत्पत्ति शब्द होने से ।

भावार्थः—प्रकृति में 'रशनया यूपं परिव्ययति' इस स्थान पर पाश का अर्थ बताने वाला शब्द है पर 'न हि दर्शपूर्णमासयोर्द्यावापृथिव्यादीनामुत्पत्तौ शब्दोऽस्ति' दर्शपूर्णमास में द्यावापृथिवी आदि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शब्द नहीं । इस प्रकार शबर भाष्य में उल्लेख है, इसलिये द्यावा पृथिवी आदि अनुमंत्रण के साथ भी विषमता है । भावार्थ यह निकलता है कि उक्त दोनों मंत्रों का प्रकृति में विकल्प से पाठ करना ॥१९॥

—:o:—

'दर्शपूर्णमास याग में द्विपत्नीक प्रयोग में 'पत्नी सन्नह्य' इत्यादि मंत्रों का ऊह नहीं । इस अधिकरण के सूत्र—

अपूर्वे त्वविकारोऽप्रदेशात् प्रतीयेत ॥२०॥

सूत्रार्थः—(अपूर्वे) प्रकृति में (तु) सिद्धान्तसूचक है (अविकारः) अनूह (प्रतीयेत) प्रतीत होता है । (अप्रदेशात्) अस्थान में होने से ।

समाम्नानसामर्थ्यात्त्वेकवचनेन क्रियते। न चात्र द्वित्वं बहुत्वं वा विवक्ष्यते। लक्षणत्वेन हि पत्नीशब्दस्य श्रवणात्। न चैकपत्नीकात् प्रयोगाद् द्विबहुपत्नीके प्रयोगेऽतिदेशो भवति। यथा, तत्र संख्योक्ता तद्वदिहापीति। तस्मादविकारेण पत्नीशब्दस्य प्रयोगः। अथापि कथंचिदेकत्वं विवक्ष्येत, तथाऽपि द्विबहुपत्नीके प्रयोगे संप्रतिपत्त्यभावादेकवचनार्थमेकवचनम्। तदनेकपत्नीके प्रयोगेऽविरुद्धमित्यविकारेण प्रयुज्यत इति ॥२०॥

—:o:—

[विकृतावपि द्विबहुपत्नीकप्रयोगे पत्नीमन्त्रस्याविकाराधिकरणम् ॥७॥]

अथेदानीं विकृतौ पत्नीशब्दश्चिन्त्यते। किं द्विपत्नीके बहुपत्नीके च प्रयोग ऊहितव्यो नेति? किं प्राप्तम्? द्विवाची बहुवाची वा पत्नीशब्दो द्विवचनं बहुवचनं वोपाददानः प्रकृतौ समाम्नानेन बाधितः। इह समाम्नानाभावात्ते उपादातुमर्हतीति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

विकृतौ चापि तद्वचनात् ॥२१॥ (सि०)

विकृतावप्यविकारेण प्रयोक्तव्य इति। कुतः? तद्वचनात्। यत् प्रकृतौ तद् विकृतौ कर्तव्यमिति तद्वचनम्। प्रकृतौ चैकत्वमविवक्षितम्। इहापि द्वित्वं बहुत्वमेकत्वं च न विवक्षितव्यमिति। तस्मादविकारः। अथवा, तदेव विवक्षितम्। तदनेकपत्नीकेऽप्यविरुद्धमित्यविकार एवावसीयते ॥२१॥

—:o:—

भावार्थः—दर्शपूर्णमास याग में पत्नीं संनह्याज्येनो देही यह मंत्र है। अब बहुपत्नीक दर्शपूर्णमास के प्रयोग में ऊह करना या नहीं? इसके उत्तर में बताते हैं कि बहुपत्नीक प्रयोग में पत्नीम् शब्द को बहुवचन में ऊह नहीं करना, कारण कि ऐसा अतिदेश है ही नहीं। जहां अतिदेश होता हो वहां ही ऊह हो सकता है ॥२०॥

—:o:—

द्विपत्नीक विकृति याग में भी मंत्र का ऊह नहीं होता, इस अधिकरण के सूत्र—

विकृतौ चापि तद्वचनात् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(विकृतौ च अपि) विकृतिभूत सौर्ययाग में भी (तद्वचनात्) पत्नी मात्र तात्पर्य का विषय होने से ऊह कर्त्तव्य नहीं।

भावार्थः—विकृति याग अर्थात् सौर्ययाग में भी पत्नी शब्द का ऊह नहीं होता। सौर्ययाग बहुपत्नीक प्रयोगवाला भी होता है, इसलिये पत्नी शब्द का द्विवचन में अथवा बहुवचन में ऊह नहीं करना चाहिये। इस स्थान पर संख्या अविवक्षित है केवल पत्नी में ही तात्पर्य है ॥२१॥

—:o:—

[पशुधर्मसमानविध्यपक्षे प्रास्मा इत्यध्रिगुप्रैषस्याविकाराधिकरणम् ॥८॥]

अस्ति सोमे पशुरग्नीषोमीयः-यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभत इति। तत्राध्रिगाविदं समाम्नायते—प्रास्मा अग्निं भरत, स्तृणीत बर्हिरन्वेनं माता मन्यतामनु पिताऽनु भ्राता इत्येवमादि। यदा त्वग्नीषोमीयः सवनीयाश्च समान-विधानाः, तत्रेदं विचार्यते। किमध्रिगौ, प्रास्मै, इत्येवमादिपदमूहितव्यमुत नेति? किं प्राप्तम्?

अध्रिगौ सवनीयेषु तद्वद् समानविधानाश्चेत् ॥२२॥ (सि०)

ततोऽतिदेशः क्रियते। अध्रिगौ[1] तद्वदिति। तत्र यः पत्न्यधिकरणे पूर्वपक्षः। स इह पूर्वपक्षः। यः सिद्धान्तः स इह सिद्धान्तः। ऊह इति पूर्वपक्षः। अविकार इति सिद्धान्तः ॥२२॥

—:०:—

[नीवारादिसदृशप्रतिनिधिप्रयोगे व्रीह्यादिमन्त्रस्याविकारेण प्रयोगा-धिकरणम् ॥९॥]

अस्ति प्रतिनिधिः। श्रुते द्रव्येऽप्रचरति, आगमो वा चोदनार्थाविशेषादिति। स च सदृशः, सामान्यं तच्चिकीर्षेति। तद्यदा व्रीहिष्वपचरत्सु नीवारा उपादीयन्ते प्रतिनिधित्वेन, तदा व्रीहिमन्त्रो यः समाम्नातः—स्योनं ते सदनं कृणोमि। घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि, तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमान इति। तं प्रति सन्देहः। किं नीवारेषु व्रीहिशब्दस्योहेन प्रयोग उताविकारेणेति? किं प्राप्तम्? अविकारेण व्रीहिशब्दः प्रयुज्यमानः कार्यवतो नीवारान् न शक्नोति

सवनीय पशुओं का समान विधान में 'प्रास्मा अग्निम्' इस मंत्र में ऊह नहीं, इस अधिकरण के सूत्र—

अध्रिगौ सवनीयेषु तद्वत्, समानविधानाश्चेत् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(अध्रिगौ) अध्रिगु प्रैष मन्त्र का भी (सवनीयेषु) सवनीय पशुओं में (तद्वत्) उस प्रकार ऊह नहीं होता (समानविधानाश्चेत्) जो समान विधान हो तो।

भावार्थः—प्रास्मा अग्नि भरत, इस मन्त्र में अस्मै पद का स्त्रीलिंग और द्विवचन बहुवचन में ऊह नहीं करना। कारण कि यहाँ भी प्रातिपदिक विभक्ति ही विवक्षित है, संख्या विवक्षित नहीं। और कदाचित् विवक्षित हो तो भी छान्दस व्यत्यय के द्विवचन का लाभ हो सकेगा। अतः उक्त पद का भी ज्योतिष्टोम की संस्थाओं में ऊह कर्त्तव्य नहीं ॥२२॥

—:०:—

नीवारों के व्रीहि प्रतिनिधित्व में व्रीहि शब्द का ऊह नहीं, इस अधिकरण के सूत्र—

---

१. 'अध्रिगु' इति पाठान्तरम्।

प्रकाशयितुमिति तेषु प्रकाशयितव्येषु नीवारशब्दः प्रयोक्तव्यो भवति। तस्मादूहः कर्तव्य इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

प्रतिनिधौ चाविकारात् ॥२३॥ (सि०)

प्रतिनिधौ चाविकारात्। प्रतिनिधौ[1] चेति, किं – ऊहो न कर्तव्य इत्यनुकृष्यते। किमेवं भविष्यति ? एवमविकारो भविष्यति। तत्राऽर्थमनुग्रहीष्यते। तस्मादनूहः ॥२३॥

अनाम्नानादशब्दत्वमभावाच्चेतरस्य स्यात् ॥२४॥

न[2] चैतदस्त्यनूह इति। एवमनूहो भवेत्। यदि तस्मिन् मन्त्रे व्रीहिशब्दोऽनाम्नातः स्यात्। अभावाच्चेतरस्य, यदि च नेदं द्रव्यान्तरं नीवाराख्यं स्यात्। न चेदमुभयमस्ति। तस्मादभिधानसिद्धय ऊहितव्यो नीवारशब्द इति ॥२४॥

तादर्थ्याद्वा तदाख्यं स्यात् संस्कारैरविशिष्टत्वात् ॥२५॥

प्रतिनिधौ चाविकारात् ॥२३॥

सूत्रार्थः—(प्रतिनिधौ च) व्रीहि के अलाभ में नीवार प्रतिनिधि हुये पीछे उनमें (अविकारात्) ऊह किये विना मन्त्र का पाठ करना।

भावार्थः—व्रीहि न मिले तो व्रीहि जैसे नीवारों का याग में उपयोग करना तथा मन्त्र में नीवार ऊह किये विना ही पाठ करना। **तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः** इस मन्त्र में 'व्रीहीणां' के स्थान पर 'नीवाराणां' यह पाठ करना आवश्यक नहीं।

अनाम्नानादशब्दत्वमभावाच्चेतरस्य स्यात् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(आनाम्नानात्) जो मन्त्र में व्रीहि शब्द का पाठ न होता तो ऊह न होता (इतरस्य अभावात् च अशब्दत्वम्) जो व्रीहि नीवार पद का वाच्य न होता।

भावार्थः—जो मन्त्र में व्रीहि शब्द का पाठ न होता और वह नीवार का वाचक न बनता तो ऊह न करना पड़ता, परन्तु यह दोनों नहीं अर्थात् व्रीहि शब्द का पाठ है और वह नीवार का वाचक बनता है अतः ऊह करना चाहिये ॥२४॥

तादर्थ्याद्वा तदाख्यं स्यात् संस्कारैरविशिष्टत्वात् ॥२५॥

सूत्रार्थः—(वा) पूर्वपक्ष की निवृत्ति सूचित करता है (तादर्थ्यात्) नीवार व्रीहि के अर्थ में है (संस्कारैः च अविशिष्टत्वात्) प्रोक्षणादि संस्कार भी उनके द्वारा होते हैं अतः (तदाख्यं स्यात्) व्रीहि शब्द वाच्य है।

---

१. 'प्रतिनिधौ चेति ऊहा' इति पाठान्तरम्।

२. 'न चैतदस्ति प्रतिनिधावनूह इति' इति पाठान्तरम्।

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्त्यूह इति। अविकारेण प्रयोगः। कुतः? तादर्थ्यात्। तादर्थ्यं, व्रीह्यर्थता नीवाराणाम्। ये व्रीहौ प्रोक्षणादयः संस्कारास्ते तल्लक्षितेषु विशेषेषु कर्तव्याः। तेषां च विशेषाणां केचिन्नीवारेषु विद्यन्ते। तदर्थं प्रोक्षणादयः संस्काराः क्रियन्ते। संस्कारैरविशिष्टश्चायं व्रीहिशब्दो यथाऽन्येषु[1] व्रीहिलक्षितेषु भवति, एवमेतेष्वपि नीवारेषु। तस्मादविकारेण प्रयोक्तव्य इति ॥२५॥

उक्तं च तत्त्वमस्य ॥२६॥

कथं पुनर्ज्ञायते, यो यो व्रीहिगतो विशेषः स नीवारेष्विति। उक्तं च तत्त्वमस्य। उक्तोऽस्य विशेषस्य तद्भावः षष्ठेऽध्याये सामान्यं तच्चिकीर्षा, इति। तस्मादप्यविकारः ॥२६॥

—:०:—

[पशुगणेऽध्रिगुप्रैषगतानां संसर्गिद्रव्यवाचकचक्षुरादिपदाना-
मनूहाधिकरणम् ॥१०॥]

सन्त्यध्रिगुप्रैषे संसर्गिणोऽर्थाः। तद्यथा, चक्षुः प्राण इत्येवमादयः। **सूर्यं चक्षुर्गमयतात्, वातं प्राणमन्ववसृजतात्** इति। द्विपश्वादिषु पशुगणेषु किमूहितव्य उत नेति? उच्यते। नन्वन्यायनिगदत्वादेवायं नोहितव्यः। द्वयोश्चक्षुषोरेकवचनान्तो यतः श्रूयते। उच्यते। नायमध्रिगावधिष्ठानयोः सूर्यगमनमाह। न ह्यधिष्ठाने सूर्यं गच्छतः। तेजोरश्मिवचनस्त्वयम्। एकं च तत्तेजः। तस्मान्नाय-

---

भावार्थः—नीवार व्रीहि के लिये है, प्रोक्षणादि संस्कार भी नीवार में कर्त्तव्य हैं अतः यह व्रीहि शब्द वाच्य ही है, अन्य धान्य व्रीहि वाच्य होते हैं उसी प्रकार नीवार भी। इसलिये ऊह किये विना ही व्रीहि शब्द का पाठ मन्त्र में करना चाहिये ॥२५॥

उक्तं च तत्त्वमस्य ॥२६॥

सूत्रार्थः—(च) और (अस्य) इसकी (तत्त्वम्) यथार्थता (उक्तम्) छठे अध्याय में कही गई है।

भावार्थः—छठे अध्याय में व्रीहिगत जो विशेष है वह नीवार में भी है, अतः व्रीहि वाच्य नीवार हो सकता है, इसलिये ऊह करने की आवश्यकता नहीं ॥२६॥

—०—

द्विपशुयाग में **'सूर्यचक्षुर्गमयतात्'** इत्यादि मन्त्रों में ऊह नहीं होता, इस अधिकरण के सूत्र—

---

१. 'यथा धान्येषु' इति पाठान्तरम्।

मन्यायनिगदः। द्विपश्वादिषु च वैकृतेषु प्रयोगेषु, **मैत्रं श्वेतमालभेत, बारुणं कृष्णमपां चौषधीनां च संधावन्नकाम** इत्येवमादिषु पशुभेदात्तेजसो भेदे[1] गम्यमान ऊहः स्यादिति प्राप्नोति। नन्वेकस्मिन्नपि पशावधिष्ठानभेदेन भिन्ने एव तेजसी। नेत्युच्यते। सूर्यमस्य चक्षुर्गमयतादिति, यत्पशोस्तेजस्तद्विवक्षितम्। नाधिष्ठानभेदः। पाश्वन्तरेषु पशुतेजोभेदादूह इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

संसर्गिषु चार्थस्यास्थितपरिमाणत्वात् ॥२७॥ (सि०)

संसर्गिषु चार्थस्यास्थितपरिमाणत्वात्। संसर्गिष्वर्थेषु यद्यपि पशुभेदस्तथाऽपि रश्मीनां संसर्ग एवैकीभूतास्तेषां रश्मयः। यथैव पानीयस्य तैलस्य घृतस्य वा स्तोका नानादेशेषु भिन्नाः समानदेश एकीभूता भवन्ति तद्वद्रश्मयः। तस्मादेकवचनान्तस्तेषां वाचक इत्यनूहः स्यात् ॥२७॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२८॥

लिङ्गं खल्वपि भवति—**यथा संसर्गिणो** नोह्यन्त इति। न माता वर्धते, न पिता[2], न नाभिः, प्राणो हि सः—इति प्राणस्य सिद्धमनूहं हेतुत्वेनोपदिशति। तस्मात् संसर्गिणो नोह्यन्त इति ॥२८॥

—:०:—

संसर्गिषु चार्थस्यास्थितपरिमाणत्वात् ॥२७॥

सूत्रार्थः—(संसर्गिषु) शरीर के साथ सम्बन्ध रखनेवाले अर्थों में (अर्थस्य) तेजो प अर्थ का (अस्थितपरिमाणत्वात्) अस्थित परिमाणत्व होने से ऊह नहीं होता।

भावार्थः—जिस याग में दो पशुओं का दान होता है, उसमें यह मन्त्र है—**'सूर्यं चक्षुर्गमयतात्'** यहां दो पशुओं का दान होने से चक्षु शब्द का बहुवचन में ऊह करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं। कारण कि गोलक का नाम चक्षु नहीं परन्तु देखने की शक्ति का नाम चक्षु है, वह तेज एक ही है और उसकी सूर्य के साथ उपमा दी जाती है। भावार्थ यह है कि सूर्य जिस प्रकार प्रकाश देता है, उसी चक्षु को तेज प्रदानकर पदार्थों का ज्ञान कराता है। तेज एक ही होने से बहुवचन में ऊह करने की आवश्यकता नहीं ॥२७॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२८॥

सूत्रार्थः—(च) और (लिंगदर्शनात्) लिंग वाक्य का दर्शन होने से।

भावार्थः—**न माता वर्धते न मज्जा न नाभिर्न प्राणः** इत्यादि मंत्र में माता, मज्जा, नाभि और प्राण शब्द का ऊह नहीं होता अर्थात् वे द्विवचन या बहुवचन में ऊह को प्राप्त नहीं होते, उसी प्रकार चक्षु आदि शब्द भी ऊह नहीं प्राप्त करते ॥२८॥

—:०:—

---

१. 'भेदो गम्यते' इति पाठान्तरम्। २. 'न मज्जा' इति पाठान्तरम्।

[पशुगणेऽध्रिगुप्रैषगतैकधाशब्दस्य यावत्त्वचमभ्यासाधिकरणम् ॥११॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः—**यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभेत** इति। तत्राध्रिगुप्रैषे समाम्नायते—**एकधाऽस्य त्वचमाच्छ्यताद्** इति। तद्विकृतौ द्विपश्वादिषु सन्दिह्यते, किमेकधाशब्दोऽभ्यसितव्य उताविकारेण प्रयोक्तव्य इति? किं प्राप्तम्?

एकधेत्येकसंयोगाद् अभ्यासेनाभिधानं स्यात् ॥२९॥ (सि०)

एकधेत्ययमभ्यसितव्यः। कुतः? एकसंयोगात्। **एकस्त्वचः प्रकार आच्छ्यता[1] कर्तव्य** इति। तत्र द्वयोर्बह्वीषु वा त्वक्षूत्कृत्यमानासु नैकः प्रकारो भवति। पर्यायेण हि पशुभ्य आच्छ्यन्ति। एकस्यां त्वच्याच्छ्यमानायामेकेन[2] प्रकारेणाऽऽच्छ्येयुः। तस्मादसर्वविषयो भवति, अविकृतः शब्दः प्रयुज्यमानः। तस्मादभ्यसितव्य इति ॥२९॥

अविकारो वा बहूनामेककर्मवत् ॥३०॥

वाशब्दात् पक्षो विपरिवर्तते। नैतदस्ति, अभ्यसितव्य इति। अविकारेण प्रयोक्तव्य इति। कुतः? ऐकध्यवचन एष शब्दः। एकीकुर्वेषां त्वच इति।

किं तत्रैक्यम्, एककालोपदेशो वा, एकदेशोपदेशो वा? बहूनामेककर्मवत्। यथा बहूनामेककाले कर्माणि भवन्ति—**एकधा गाः पाययति** इति। एवमिहापि—

द्विपशु याग में अध्रिगु प्रैष में एकधा शब्द का अभ्यास होता है, इस अधिकरण के सूत्र—

एकधेत्येकसंयोगादभ्यासेनाभिधानं स्यात् ॥२९॥

सूत्रार्थः—(एकधा इति) एकधा इस शब्द का (अभ्यासेन अभिधानं स्यात्) अभ्यास से अभिधान करना चाहिये (एकसंयोगात्) एक समय के उच्चारण से (असर्वविषयत्वात्) सर्व पशुओं के साथ सम्बन्ध न हो सकने से।

भावार्थः—'एकधाऽस्य त्वचमात्स्यात्' एक रीति से पशु की त्वचा का स्पर्श करना, जिस याग में बहुपशुओं का दान होता हो, उसमें एकधा शब्द की आवृत्ति करनी चाहिये। अधिक पशुओं का स्पर्श एक मनुष्य एक ही साथ नहीं कर सकता ॥२९॥

अविकारो वा बहूनामेककर्मवत् ॥३०॥

सूत्रार्थः—(वा) अथवा (अविकारः) अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं (बहूनाम् एककर्मवत्) बहु का भी एक कर्म हो सकने से।

---

१. 'आच्छ्यता तस्य' इति पाठान्तरम्।

२. त्वच्यपाच्छ्यमानायां' इति पाठान्तरम्।

ऐकध्यं त्वचः कुरु इति । बहूनां त्वेकीकरणं शक्यते कर्तुं, नैकस्यास्त्वचः । तस्माद् बह्वीषु त्वक्ष्वेकीकरणमेकधा शब्दो वदतीत्यध्यवसेयम् ॥३०॥

सकृत्त्वं त्वैकध्यं स्यादेकत्वात् त्वचोऽनभिप्रेतं तत्प्रकृतित्वात् परेष्वभ्यासेन विवृद्धावभिधानं स्यात् ॥३१॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नाधिकारः । अभ्यसितव्यः शब्द इति । एककाले कर्मण्यभिधीयमाने सहत्वं त्वचामभिहितं भवति । तत्प्रकृतावेकस्यां त्वच्यसम्भवादनभिप्रेतम् । तत्प्रकृतित्वादुत्तरासां ततीनां परेषु वर्धमानेषु पशुष्वभ्यासेनाभिधानं स्यात् ॥३१॥

—:०:—

[अध्रिगुप्रैषगतमेधपतिशब्दस्य देवतापरत्वाधिकरणम् ॥१२॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमेऽग्नीषोमीये पशावध्रिगुप्रैषे मेधपतिशब्द एकवन्निगदः ।

भावार्थः—जिस प्रकार एक ही पुरुष एक ही समय में अनेक गायों को एक रीति से पानी आदि जलाशय में पिला सकता है, उसी प्रकार एक ही पुरुष अनेक पशुओं का एक क्षण में स्पर्श कर सकता है। अत: 'एकधा' शब्द का अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं। भावार्थ यह है कि एकधा शब्द की आवृत्ति नहीं करनी ॥३०॥

सकृत्त्वं त्वैकध्यं स्यादेकत्वात्त्वचोऽनभिप्रेतं तत्प्रकृतित्वात् परेष्वभ्यासेन विवृद्धावभिधानं स्यात् ॥३१॥

सूत्रार्थः—(ऐकध्यं सकृत्वं तु) एकध्य अर्थात् एक प्रकार और एक समय ऐसा बोध होता है, इससे काल का बोध नहीं होता (एकत्वात् त्वचः) त्वच एक होने से (अनभिप्रेतम्) काल की एकता सिद्ध होने से कष्ट नहीं (तत्प्रकृतित्वात्) प्रकृतियाग में एकधा शब्द की आवृत्ति आवश्यक नहीं, परन्तु (परेषु अभ्यासेन) विकृतियाग में अभ्यास की आवश्यकता है। (विवृद्धौ अभिधानं स्यात्) कारण कि उसमें बहुपशुदेय होने से अभ्यास के अभिधान की आवश्यकता है।

भावार्थः—प्रकृतियाग में एक पशु देय रूप होने से उसमें एकधा शब्द की आवृत्ति करने की आवश्यकता नहीं, पर विकृतियाग में पशुओं की वृद्धि होने से एकधा शब्द की आवृत्ति करनी ही चाहिये। यह सिद्धान्त पक्ष है ॥३१॥

—:०:—

द्विपश्वादि पशुविकृति याग में मेधपति शब्द का देवतानुसार ऊह करना, इस अधिकरण के सूत्र—

परेषां शाखिनां द्विवन्निगदः। तं प्रति संशयो भवति। द्विपश्वादिषु पशुगणेषु किमविकारेणेतरश्चेतरश्च प्रयोक्तव्य उत स्वामिपर ऊहः कर्तव्य उत देवतापर इति? किं प्राप्तम्?

मेधपतित्वं स्वामिदेवतस्य समवायात् सर्वत्र च प्रयुक्तत्वात् तस्य चान्यायनिगदत्वात् सर्वत्रैवाधिकारः स्यात् ॥३२॥ (पू०)

अविकारः। कुतः? मेधपतित्वं स्वामिदेवतस्य, स्वामी मेधपतिर्देवता च। स्वामिना पशुर्देवताभ्यां दत्तः संकल्पितः। मेधपतये स्वामिनेऽप्यसौ भवति। तस्य कार्यं करिष्यतीति। देवताभ्यामपि ताभ्यामुत्सृक्ष्यत इति। त्रयाणामपि हि तं मेधं प्रति, आधिपत्येन समवायोऽस्ति। सर्वत्र चाऽऽधिपत्ये प्रतिशब्दः प्रयुक्त आ हिमवत आ च कुमारीभ्यः। स एष त्रयाणामेकवचनान्तो वाचको द्विवचनान्तश्च। यथा प्रकृताविवक्षितैकत्वोऽविवक्षितद्वित्वश्च सम्बन्धमात्रनिबन्धनः, एवं सर्वासु विकृतिषु। तस्मान्न विक्रियेत ॥३२॥

अपि वा द्विसमवायोऽर्थान्यत्वे यथासंख्यं प्रयोगः स्यात् ॥३३॥

अपि वा, नैतदेवम्। तयोरिह समवायः, एकवन्निगदस्य, द्विवन्निगदस्य च।

मेधपतित्वं स्वामिदेवतस्य समवायात् सर्वत्र च प्रयुक्तत्वात्तस्य चान्यायनिगदत्वात् सर्वत्रैवाधिकारः स्यात् ॥३२॥

सूत्रार्थः—(मेधपतित्वम्) मेध का स्वामीपन (स्वामिदेवतस्य) यजमान और देवता का है (समवायात्) यजमान और अग्नीषोमौ दोनों देवता मिलकर तीनों में स्वामीपन विद्यमान होने से (सर्वत्र च प्रयुक्तत्वात्) सर्व देशों में यजमान और देवता में ही यज्ञ का स्वामीपन प्रयोग होने से (तस्य अन्यायनिगदत्वात्) एक यजमान और दो देवता मिलकर तीनों में एकवचन अथवा द्विवचन का प्रयोग होना अन्याय है। (सर्वत्र एव अधिकारः स्यात्) प्रकृति में और विकृति में ऊह किये विना ही प्रयोग करना चाहिये।

भावार्थः—मेध अर्थात् यज्ञ। मेध के स्वामी देवता और यजमान होते हैं। यजमान एक है और अग्नीषोम रूप देवता दो हैं। **'आशासाना मेधपतिभ्याम् मेधम्'** यहाँ मेधपति शब्द को द्विवचन में रखा है। और किसी शाखा में **आशासाना मेधपतये मेधम्** यहाँ मेधपति शब्द एकवचन में रखा है। ये दोनों प्रयोग ठीक नहीं, कारण कि एकवचन से अथवा द्विवचन से तीन का बोध नहीं होता। इस प्रकार बन्धित अर्थ का कथन करने से निगद अन्याय्य ठहरता है, अतः प्रकृति में और विकृति में ऊह किये विना ही प्रयोग करना अर्थात् वचन को अविवक्षित समझना ॥३२॥

अपि वा द्विसमवायोऽर्थान्यत्वे यथासंख्यं प्रयोगः स्यात् ॥३३॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) अथवा (द्विसमवायः) द्विवचनान्त पद का प्रयोग (अर्थान्यत्वे)

तयोरेकवन्निगदः स्वामिनि प्रयोक्ष्यते, येषां समाम्नातः। येषां द्विवन्निगदः समाम्नातस्तेषां स देवते वक्ष्यति। तस्माद् विकृतौ बह्विषु देवतासु द्विवन्निगद ऊहेन प्रवर्तिष्यते। बहुयजमानेष्वेकवन्निगद ऊहिष्यते। एवं यथासंख्यं प्रयोगो भविष्यति ॥३३॥

स्वामिनो वैकशब्द्यादुत्कर्षो देवतायां स्यात् पत्न्यां द्वितीयशब्दः स्यात् ॥३४॥

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। स्वामिदेवतयोरुभयोर्वाचक इति। नैतदेवम्। एक एव मेधपतिशब्दः यस्माद् द्विवचनं, यस्मादेकवचनं, स एव न स्वामिदेवतयोर्वाचको भविष्यति। नन्वेकोऽपि मेधपतिरपरोऽपि प्रतीयते। कथमवाचक इत्युच्यते। यदा स्वामिनस्तदा—**मेधपतये यो मेधस्तं मेध्या दुर उपनय** इति सम्बन्धः। यदा देवतावचनस्तदा—**मेधपतये उपनयत मेध्या दुर** इति सम्बन्धः। स एष सकृदुच्चरित उभाभ्यां पदाभ्यां न सम्बन्धुमुत्सहते। वचनव्यक्तिभेदाद् वाक्यभेदः प्रसज्यते। तस्मात् स्वामिनो वाचक इत्यध्यवसीयते। अथ किमर्थं न देवतावचनः कल्प्यते? तथा हि कल्प्यमान एकवन्निगद उत्कृष्येत, एकदेवत्ये क्रतौ। तत्र प्रकरणं बाध्येत। यजमानवचने पुनः कल्प्यमाने न द्विवन्निगद उत्कृष्येत। तत्रैव यजमानयोर्दम्पत्योर्वाचको भविष्यति। तस्मात् प्रकरणानुग्रहाय स्वामिवचनः कल्प्यते। स्वामिपरस्योहो भविष्यतीति ॥३४॥

देवता तात्पर्य वाला होने से जो एकवचनान्त प्रयोग हो तो यजमानतात्पर्यक होने से (यथासंख्यं प्रयोगः स्यात्) संख्या प्रमाण से प्रयोग समझना चाहिये।

भावार्थ—अथवा देवता का तात्पर्य सखी द्विवचन का प्रयोग है, कारण कि प्रकृत में अग्नि और सोम दो देवता हैं। जो एकवचन का प्रयोग हो तो यजमान का तात्पर्य रखकर प्रयोग किया है ऐसा समझना, कारण यजमान एक है। देवता की वृद्धि अर्थात् दो से अधिक देवता हों तो बहुवचननान्त प्रयोग अर्थात् मेधपतिभ्यः ऐसा प्रयोग भी करना ॥३३॥

स्वामिनो वैकशब्द्यादुत्कर्षो देवतायां स्यात् पत्न्यां द्वितीयशब्दः स्यात् ॥३४॥

सूत्रार्थः—(वा) अथवा (स्वामिनः) दोनों मंत्रों में यजमान रूप स्वामी का ही ग्रहण है। (ऐकशब्द्यात्) एकार्थप्रतिपादक शब्द का प्रयोग होने से (देवतायाम्) जो देवता वाच्य हो तो (उत्कर्षः स्यात्) एकवचनान्त पद का उत्कर्ष करना चाहिए (पत्न्या द्वितीयः शब्दः स्यात्) यजमान वाच्य हो तो द्विवचनान्तपद वाले मंत्र में पत्नी के साथ यजमान समझने से द्विवचन भी यथार्थ हो सकता है।

भावार्थः—मेधपति शब्द से यजमान का ही ग्रहण समझना। यजमान एक है अतः एकवचनान्त का प्रयोग योग्य है, और जहाँ द्विवचनान्त प्रयोग है, वहां पत्नी सहित यजमान का बोध होता है ऐसा समझना। जो मेधपति से देवता का बोध हो तो एकवचनान्त पदवाले मंत्र में उत्कर्ष करना पड़ेगा अर्थात् एकवचन के बदले में द्विवचन का प्रयोग करना होगा।३४।

देवता तु तदाशीष्ट्वात् सम्प्राप्तत्वात् स्वामिन्यनर्थिका स्यात् ॥३५॥ (सि०)

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । न स्वामिवचनः । देवतापरो भविष्यति । कुतः? तदाशीष्ट्वात् । आशासाना मेधपतये मेधम् इति देवताभ्यां हविराशास्यते । मेधपतिभ्यां मेधमाशासाना उपनयत ताभ्याम् इति । यजमानं प्रत्याशासनानुकीर्तनमनर्थकम्, अकर्तव्यं च । स प्राप्त एव स्वामिनं[1] मेधः, किमर्थमाशास्यते? न[2] च तेन नित्यमेव स्वामिसम्बद्धेन प्रयोजनम् । याग एव हि न संवर्तेत । तस्माद् देवतावचनो मेधपतिशब्द इति ॥३५॥

उत्सर्गाच्च भक्त्या तस्मिन् पतित्वं स्यात् ॥३६॥

उत्सृष्टं च यजमानेन नायं ममेति । केवलं परकीयो रक्ष्यते । कालेन देवतया सम्भन्त्स्यत इति । कः पुनरस्य देवतया सम्बन्धः? यत् तामुद्दिश्य परिग्रहोऽस्य त्यज्यते । स च यागः प्राक् कृतः । तस्माद् यागात् परार्थं द्रव्यं नाऽऽत्मीयं, परित्यज्याऽऽस्ते । आत्मप्रधानं यत्तदात्मीयं, न यं प्रत्यात्मा गुणभूतः तादृशे तु भक्त्या पतित्वं भवति । तस्माद् देवतयोरेव तत्र मुख्यं मेधपतित्वं, भाक्तं स्वामिन इति ॥३६॥

देवता तु तदाशीष्ट्वात् संप्राप्तत्वात् स्वामिन्यनर्थिका स्यात् ॥३५॥

सूत्रार्थः—(देवता तु) मेधपति पद का वाच्य देवता (तदाशीष्ट्वात्) देवता को उद्दिष्ट करके होने से स्वामिपरक मानने में आवे तो (सम्प्राप्तत्वात्) यजमान के स्वत्व का मेध में प्राप्त होने से (अनर्थिका स्यात्) **मेधं मेधपतिभ्यामाशासाना**, यह वाक्यार्थ अनर्थक हो जाय ।

भावार्थः—मेधपति शब्द का अर्थ देवता ही समझना । कारण कि देवता को उद्दिष्ट कर जो त्याग होता है, यजमान के स्व का त्याग यजमान को उद्दिष्ट कर सम्भव नहीं होता तथा **मेधं मेधपतिभ्यामाशासाना** यह वाक्य भी मेधपति का अर्थ यजमान करने से निरर्थक होता है । अतः मेधपति शब्द का अर्थ देवता भी होता है ॥३५॥

उत्सर्गाच्च भक्त्या तस्मिन् पतित्वं स्यात् ॥३६॥

सूत्रार्थः—स्वर और (उत्सर्गात्) यजमान का देवता को उद्दिष्ट कर उत्सर्ग करने से देवता ही मेधपति है । (तस्मिन्) यजमान में (भक्त्या) गौणवृत्ति से (पतित्वं स्यात्) स्वामीपन है ।

---

१. 'स्वामिनो' इति पाठान्तरम् ।

२. 'न चानेन' इति पाठान्तरम् ।

उत्कृष्येतैकसंयुक्तो द्विदेवतेऽसम्भवात् ॥३७॥

इति यदुक्तम् तत्परिहर्तव्यम् ॥३७॥

एकस्तु समवायात् तस्य तल्लक्षणत्वात् ॥३८॥

अत्रोच्यते । यौ हि तौ द्वावग्नीषोमौ तयोर्गणे मेधपतिशब्दः । स चात्र देवतासमवेतः । तस्मिन् कर्मण्येकस्मै गणाय मेधमुपनयत, इत्युच्यते । तस्मादेकवचनान्तो गणवाची मेधपतिशब्दो नोत्कृष्यत इति ॥३८॥

संसर्गित्वाच्च तस्मात् तेन विकल्पः स्यात् ॥३९॥

अयं चान्यः परिहारः । संसर्गी अयमर्थो देवता नाम । द्वावर्थौ संसृष्टौ कदाचिदेका देवता भवति । यदि द्वयाय परिकल्पितं किंचिद् द्रव्यं, तत्र द्वयं देवता भवति । द्वावर्थौ संसृष्टावेकतां यातः । तस्मादेकवचनान्तोऽपि प्रकरणमभिनिविशते पूर्वेण च सह विकल्पेते इति ॥३९॥

एकत्वेऽपि गुणानपायात् ॥४०॥

भावार्थः—देवता को उद्दिष्टकर यजमान उत्सर्ग करता है अतः देवता ही मेधपति है। यजमान में जो मेधपतित्व कहलाता है, वह तो अमुख्य वृत्ति से है। भावार्थ यह है कि देवता यह मुख्य मेधपति है और यजमान अमुख्य मेधपति है ॥३६॥

उत्कृष्येतैकसंयुक्तो द्विदेवतेऽसम्भवात् ॥३७॥

एकस्तु समवायात् तस्य तल्लक्षणत्वात् । ३८॥

सूत्रार्थः—(एकः तु) जो एकवचनान्त प्रयोग है, उसका विकृति में उत्कर्ष करना नहीं पड़ता (समवायात्) एक से देवतागण बोधित होने से (तस्य) गण का (तल्लक्षणत्वात्) एक वचन से बोधित होना, यह लक्षण होने से।

भावार्थः—'मेधपतये' ऐसा एकवचनान्त पाठ है,उससे देवता का गण बोधित होता है। इससे बहुदेवताक विकृतियाग में एकवचनान्त पद का उत्कर्ष भी करने में नहीं आता ॥३८॥

संसर्गित्वाच्च तस्मात् तेन विकल्पः स्यात् ॥३९॥

सूत्रार्थः—(च) और (तस्मात्) इसलिये (संसर्गित्वात्) दोनों मंत्रों का प्रकृतियाग में सम्बन्ध होने से (तेन) एकार्थवाचक भी होने से (विकल्पः स्यात्) दोनों मंत्रों का विकल्प है।

भावार्थः—मेधपति शब्द देवतापरक होने से और देवतागणवाचक एकवचनान्त पद भी हो सकने से दोनों मंत्र प्रकृति के सम्बन्धी हैं और प्रकृति में उनका विकल्प है ॥३९॥

एकत्वेऽपि गुणानपायात् ॥४०॥

अन्वारुह्य वचनमिदम्। मा[1] तावद् भूदिहैकत्वमर्थः। यथाऽपि प्रकरणमनुप्रविशेतैवैकवचनान्तः। प्रातिपदिकं हि तस्य विद्यमानार्थम् एकवचनं चोपनयनसम्बन्धार्थम्। एकत्वं वाऽविवक्षितम्। तस्मान्न प्रकरणादुत्कृष्येतेति। अथोच्यते। एकत्वविशिष्टस्य विभक्तिः सम्बन्धं ब्रवीतीति। तथाऽप्यस्मत्पक्ष उपपद्यतेतराम्। सर्वोऽपि ह्येकत्वसम्बद्ध इति। अथ सम्बन्धं करोति, एकत्वं च ब्रवीतीति। न ते विशिनष्टि, अविवक्षितत्वादविरुद्धं भविष्यतीति। अथोच्यते। अविवक्षितेऽपि वचन एकत्वसम्बन्ध[2] एकवचनं भवति, नान्यत्रेति। तथा मेधपतिगतमेकत्वमस्य भविष्यति। ततः सोऽनुवदिष्यते। तस्माददोष इति ॥४०॥

—:०:—

[बहुदेवत्ये पशावेकवचनान्तमेधपतिशब्दस्य द्विवचनान्तेन विकल्पाधिकरणम् ॥१३॥]

अस्ति बहुदेवत्यः पशुः—स एतान् पशूनादित्येभ्यः कामायाऽऽलभत इति। तथा वैश्वदेवं धूम्रमालभेत इति। अस्ति तु प्रकृतावग्नीषोमीये द्विवन्निगद एकवन्निगदश्च मेधपतिशब्दः। अत्र चोदकप्राप्तः संदिह्यते। किं द्विवन्निगद ऊहितव्यः, एकवन्निगदो निर्वर्तेत, उतोभावपि परस्परेण विकल्पमानौ निविशेयातामिति? किं तावत् प्राप्तम्?

नियमो बहुदेवते विकारः स्यात् ॥४१॥ (पू०)

सूत्रार्थः—(एकत्वे अपि) एकत्व की विवक्षा हो तो भी प्रकरण में से उत्कर्ष नहीं होता (गुणानपायात्) एकत्वरूप गुण की अविवक्षा से।

भावार्थः—एकवचनान्त पद से गुणरूप एकत्व की विवक्षा न करने से दोनों मन्त्रों का प्रकरण में निवेश हो सकता है। और एकत्व की विवक्षा करे तो भी उपर्युक्त रीति से उत्कर्ष करना नहीं रहता। कारण कि बहुदेवताक विकृतियाग में एकवचनान्त पद से देवता गण का बोध होता है। इससे देवता प्रमाण में मेधपति शब्द का ऊह करना, यही सिद्धान्त पक्ष में रहस्य है ॥४०॥

—:०:—

बहुदेवत्य पशु में एकवचनान्त मेधपति शब्द का ऊह होता है, यह अधिकरण पूर्वपक्ष सूत्र—

नियमो बहुदेवते विकारः स्यात् ॥४१॥

सूत्रार्थः—(नियमः) द्विवचनान्त का ही अतिदेश होता है (बहुदेवते) बहुदेवताक विकृतियाग में (विकारः स्यात्) ऊह होता है।

---

१. 'मा लाम भूत्' इति पाठान्तरम्।

२. 'एकत्वसम्बद्धेऽर्थे' इति पाठान्तरम्।

द्विवन्निगदः समवेताभिधायित्वादूहितव्यः। एकवन्निगदोऽशक्नुवन्नभिधातुमित्येतावता दर्शनेन निवर्तते। एष नियमः। आह। ननु प्रकृतौ द्वित्वस्याविवक्षितत्वादविकारेण प्रयोगः प्राप्नोतीति। उच्यते। अविशेषकमत्र द्वित्वं, न तु तत्र समवेतं न गम्यते। न च गम्यमानं निष्प्रयोजनम्। अन्यसंख्यापरिच्छेदेन पुनः संख्येयमुपस्थापयति। तदस्य दृष्टमेव प्रयोजनम्। तस्माद् बहुष्वप्यूहो भवतीति ॥४१॥

विकल्पो वा प्रकृतिवत् ॥४२॥ (सि०)

यदुक्तम् द्विवचनान्त ऊहितव्य इति। तद् गृह्णीमः यत् त्वेकवचनान्तो निवर्तेतेति। तन्न। एकवचनान्तोऽपि प्रकृतिवदिह द्विवचनान्तेन विकल्पितुमर्हति। उक्तं हि गणाभिप्रायं तत्प्रकृतौ। संसर्गित्वाद्वा देवतानामिति। तद्वदिहापि गणाभिप्रायात्, संसर्गित्वाद्वा देवतानां विकल्पेन निवेक्ष्यत इति ॥४२॥

—:०:—

[पशुगणे एकवचनान्तमेधपतिशब्दस्योहाधिकरणम् ॥१४॥]

अस्त्येकादशिनी—**प्रैवाऽऽग्नेयेन वापयति, मिथुनं सारस्वत्या करोति, रेतः सौम्येन दधाति, प्रजनयति पौष्णेन** इत्येवमादि। अस्ति च प्रकृतावध्रिगुप्रैषे, एकवन्निगदो द्विवन्निगदश्च मेधपतिशब्दः। तस्येह[1] चोदकप्राप्तिश्चिन्त्यते। द्विवन्निगद ऊहितव्य एव। अथैकवन्निगदः किमविकारेण प्रवर्तेतेति, उत निवर्तेतेति। किं प्राप्तम्? विकल्पो वा प्रकृतिवदिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

भावार्थः—बहुदेवताक विकृतियाग में द्विवचनान्त 'मेधपतिभ्याम्' इस शब्द का ही ऊह होता है। इसका प्रकृतियाग में अर्थ समवेत है। द्विवचनान्त का बहुवचनान्त में ऊह करना ॥४१॥

विकल्पो वा प्रकृतिवत् ॥४२॥

सूत्रार्थः—(वा) अथवा (विकल्पः) विकल्प से समावेश होता है (प्रकृतिवत्) प्रकृति की भांति।

भावार्थः—प्रकृति में जैसे विकल्प से समावेश होना है वैसे विकृति में भी द्विवचनान्त का बहुवचनान्त रूप में ऊह होता है ॥४२॥

—:०:—

एकादशिनी में एकवचनान्त मेध शब्द का ऊह होता है, यह अधिकरण—

---

१. 'स इह चोदकप्राप्तश्चिन्त्यते' इति पाठान्तरम्।

अर्थान्तरे विकारः स्याद् देवतापृथक्त्वादेकाभिसमवायात् स्यात् ॥४३॥ (सि०)

विकार एवंवादशिन्यां, न विकल्पः। तत एवैकवचनान्तेन निर्वर्तितव्यम्। कुतः? देवतापृथक्त्वात्। पृथगत्र देवता। अन्यस्य पशोरन्या देवता, अन्यस्यान्येत्येवं, नात्र गणो देवतात्वेन। तदभावात् संसर्गित्वमपि नास्ति। प्रकृतौ चैतद् द्वयं कारणं, एकवचनान्तस्य निवेशे। न तदभावादिहास्ति प्रवृत्तिः। यच्चोक्तम्, एकत्वेऽपि गुणानपायादिति। परपक्षमन्वारुह्य तद्वचनं, न स्वपक्षः। तस्माददोष इति ॥४३॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये नवमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

अर्थान्तरे विकारः स्याद् देवतापृथक्त्वादेकाभिसमवायात् स्यात् ॥४३॥

सूत्रार्थः—(अर्थान्तरे) भिन्न-भिन्न देवताक याग समुदाय में (विकारः स्यात्) ऊह होता है (देवतापृथक्त्वात्) भिन्न-भिन्न देवता होने से (एकाभिसमवायात्) एक तद्धित प्रत्यय वाच्य देवता न होने से।

भावार्थः—बहुदेवताक याग में और वह देवता भिन्न-भिन्न तद्धित प्रत्यय से ही प्रतीत होने से एकवचनान्त मेधपति वाले मंत्र का बहुवचनान्त में ऊह करना चाहिये ॥४३॥

**

नवमाध्याये चतुर्थः पादः

[पशुगणेऽध्रिगुप्रैषे समस्तवङ्क्रीयत्ताप्रकाशनार्थं समस्य वचनाधिकरणम् ॥१॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः—**यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभत इति**। तत्राध्रिगुप्रैष इदमाम्नायते—**षड्विंशतिरस्य वङ्क्रय इति**। तच्चोदकेन द्विपश्वादीन् पशुगणान् संप्राप्तम्—**मैत्रं श्वेतमालभते, वारुणं कृष्णमपां चौषधीनां च संधावन्नकाम** इत्येवमादिषु। अयमर्थः सांशयिकः। किं षड्विंशतिशब्दोऽभ्यसितव्यः, किमविकारेण प्रयोक्तव्यः, किं वचनमात्रमूहितव्यम्, अथवाऽस्य पदाभ्यासः, उत समस्य वचनमिति ? किं प्राप्तम् ?

षड्विंशतिरभ्यासेन पशुगणे तत्प्रकृतित्वाद् गुणस्य प्रविभक्तत्वादविकारे हि तासामकात्स्न्येंनाभिसम्बन्धो विकारान्न समासः स्यादसंयोगाच्च सर्वाभिः ॥१॥ (पू०)

षड्विंशतिशब्दोऽभ्यसितव्यो द्विपश्वादिषु पशुगणेषु। किं कारणम् ? प्रकृतावेकस्य पशोः षड्विंशतिर्वङ्क्रय उक्ताः, इह स गुणः प्रविभक्तः—**पशौ पशौ षड्विंशतिर्वङ्क्रय इति**। तत्र यद्यविकारेण प्रयुज्येत, न कृत्स्ना वङ्क्रीरभिवदेत्। अथ समस्य वचनं क्रियते, तथा षड्विंशतिशब्दो निवर्तेत। तत्राऽऽर्षं बाधितं स्यात्। न

षड्विंशतिरस्य वङ्क्रयः इत्यादि में समास का ऊह करना होता है, इस अधिकरण के सूत्र—

षड्विंशतिरभ्यासेन पशुगणे तत्प्रकृतित्वाद् गुणस्य प्रविभक्तत्वादविकारे हि तासामकात्स्न्येंनाभिसम्बन्धो विकारान्न समासः स्याद असंयोगाच्च सर्वाभिः ॥१॥

सूत्रार्थः—(पशुगणे) द्विपशुक याग में (षड्विंशतिः अभ्यासेन) षड्विंशति शब्द का अभ्यास करना चाहिये (तत्प्रकृतित्वाद् गुणस्य प्रविभक्तत्वात्) पशुगण की प्रवृत्ति अग्नीषोमीय याग होती है। और प्रकृति में एक पशु होता है तथा एक पशु के शरीर में २६ वंक्रियां होती हैं। हर एक पशु की अस्थि का २६ संख्यारूप गुण होता है। (तासाम् अकात्स्न्येंन सम्बन्धः) जो अभ्यास करने में न आवें तो २६ संख्या रूप गुण का सम्बन्ध दो पशुओं में सम्पूर्ण नहीं हो सकता। (न समासः) दो पशुओं में ५२ शब्दों का समास नहीं करना। (विकारात्) ऐसा विचार करने से प्रकृतिगत शब्द की अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण शब्द प्राप्त होता है। (असंयोगात् च सर्वाभिः) और किसी भी एक पशु के ५२ वंक्रियों का सम्बन्ध नहीं होता।

च सर्वाभिर्वङ्क्रिभिः पशोः[1] सम्बन्धोऽस्ति । पशुद्वयस्य ताभिः सम्बन्धः । न च पशुद्वयं पशुः ।

ननु पशोः कार्ये यः पशोः स्थाने, स वङ्क्रिभिः सम्बन्धयितव्यः । तथा हि प्रकृतौ वचनं कृतम् । समस्ताभिर्वङ्क्रिभिः पशुद्वयस्य सम्बन्धे कृत एकैकस्य षड्विंशत्या सम्बन्धः प्रत्यायितः स्यात् । अत्रोच्यते । नैवं[2] प्रकृतौ कृतम् । प्रकृतौ च साक्षात् षड्विंशत्या पशुसम्बन्धः । इह परसंख्यया सम्बन्धे क्रियमाणे परोक्षयाऽवयवसंख्यया सम्बन्ध आनुमानिकः स्यात् । न च नियोगतः षड्विंशत्या, एकैकस्य सम्बन्धः प्रत्यायितः स्यात् । पञ्चविंशतिरेकस्य सप्तविंशतिरेकस्येदृशमपि तत्र गम्यते । न चैवं प्रकृतावभिधानं कृतम् । तस्मादभ्यसितव्य इति ॥१॥

अभ्यासेऽपि तथेति चेत् ॥२॥

इति चेद् भवान् पश्यति, समासवचनेऽप्राकृतः शब्द उच्चरितो भवतीति । अभ्यासेऽपि अनभ्यस्तं प्रकृतौ वचनम् । इह साभ्यासमप्राकृतं स्यात् ॥२॥

न गुणादर्थकृतत्वाच्च ॥३॥

भावार्थः—इस अधिकरण में वंक्रि शब्द खास ध्यान खींचता है । वंक्रि शब्द का अर्थ अधिकरण माला में भी माधवाचार्य ने इस प्रकार किया है—'वंक्रयो वक्राणि पश्वस्थीनि तानि अस्य पशोः षड्विंशतिसंख्यानि' वंक्रि अर्थात् यज्ञ में देय पशु के पृष्ठ भाग की वक्र २६ अस्थियां । अग्नीषोमीय याग में एक पशु का दान होता है और विकृतियाग में दो पशुओं का दान होता है अतः जब इन पशुओं का दान करने में आवे तो षड्विंशति शब्द दो समय उच्चारण करना चाहिये, कारण कि दो पशु हैं । दो पशुओं की ५२ वंक्रियां हैं, परन्तु शब्द का प्रयोग नहीं करना, कारण कि ऐसा करने से प्रकृति से भिन्न ही शब्द बन जाता है । और यदि ऐसा समझा जाय कि एक पशु के ५२ वंक्रियां हैं, यह तो नितान्त असत्य है । अतः षड्विंशति शब्द का अभ्यास करना चाहिये, ऐसा एक पूर्वपक्षवादी का मत है ॥१॥

अभ्यासेऽपि तथेति चेत् ॥२॥

सूत्रार्थः—(अभ्यासे अपि) अभ्यास में भी (तथेति चेत्) वही है, जो ऐसा कहें तो—

भावार्थः—'षड्विंशतिरस्य वंक्रयः' इस वाक्य का अभ्यास करने से भी अप्राकृतत्व रूप दोष तो आता ही है, कारण कि प्रकृति में ऐसी रीति से उक्त वाक्य का दो समय पाठ नहीं, ऐसी शंका करने में आवे तो उसका उत्तर अगले सूत्र में है ॥२॥

न गुणादर्थकृतत्वाच्च ॥३॥

---

१. 'पशोरभिसम्बन्धः' इति पाठान्तरम् ।

२. 'नैवम् । प्रकृतौ च' इति पाठान्तरम् ।

नैष दोषः। गुण एष शब्दस्याभ्यासो नाम। स मत्पक्षेऽप्राकृतः। त्वत्पक्षे पुनः शब्द एव। अङ्गगुणविरोधे च तादर्थ्यादित्युक्तम्। अर्थाच्च मयैतदश्रुतमुपादीयते, प्रविभक्तं गुणं वक्तुम्। यच्च श्रुतचिकीर्षयाऽश्रुतं क्रियते, इष्यत एव तदस्माभिः। तस्माददोषः ॥३॥

[समा]सेऽपि तथेति चेत् ॥४॥

इति चेत् पश्यसि, अभ्यासवचने चोदकोऽनुगृहीतो भविष्यति। कात्स्न्र्यंन वङ्क्रयो वक्ष्यन्त इति। समासेऽपि चोदकानुग्रहः। कात्स्न्र्येन वङ्क्रीणामभिधानात्। अपि च समासवचने यौगपद्यवचनात् प्रयोगवचनोऽनुगृहीतो भविष्यति। तस्मात् समसितव्या वङ्क्रय इति ॥४॥

नासम्भवात् ॥५॥

नैतदेवम्। मम चोदकोऽनुगृहीतः, षड्विंशतिशब्दप्रयोगात्। तव प्रयोगवचनः, समस्य वचनात्। न च सम्भवति चोदके प्रयोगवचनं प्रत्यादर्तव्यम्। बलीयान् हि चोदकः। स हि धर्माणामुत्पादकः प्रापकश्च। प्रयोगवचनः प्राप्तानामुप-

---

सूत्रार्थः—(न) नहीं (अर्थकृतत्वात् च) अभ्यास करने से सभी वंक्रियों का सम्बन्ध दोनों पशुओं के साथ समझा जा सकता है (गुणात्) समास करने से ऐसा नहीं होता।

भावार्थः—अभ्यास करने से दो पशुओं की ५२ वंक्रियां समझी जा सकती हैं, इस लिये अभ्यास सार्थक है। शब्द—यह धर्म है और अभ्यास करना शब्द का धर्म है। 'द्वापञ्चाशत्' ऐसा कहने से प्रधानभूत 'षड्विंशतिः' शब्द का बोध होता है। अभ्यास पक्ष में प्रधान की रक्षा होती है जबकि समास पक्ष में उसकी रक्षा नहीं होती। अतः अभ्यास करना ही उचित है ॥३॥

समासेऽपि तथेति चेत् ॥४॥

सूत्रार्थः—(समासेऽपि) समास में भी (तथा इति चेत्) वही है, जो ऐसा कहें तो—

भावार्थः—शब्द का मुख्य प्रयोजन अर्थ की स्मृति होनी ही है। अर्थ स्मरण के लिये ही शब्द का प्रयोग होता है। 'द्विपञ्चाशत्' शब्द के प्रयोग से भी अर्थ का स्मरण तो होता है और अतिदेश शास्त्र भी अनुकूल होता है। जो ऐसा कहने में आवे तो उसका उत्तर अगले सूत्र में है ॥४॥

नासंभवात् ॥५॥

सूत्रार्थः—(न) नहीं (असंभवात्) संभवित न होने से।

भावार्थः—दोनों को जोड़कर 'द्विपञ्चाशत्' शब्द का प्रयोग करने से अतिदेशशास्त्र

संग्राहकः। स उत्तरकालोऽर्थविप्रकर्षाद् दुर्बलः। तस्मादभ्यसितव्यं वचनमिति ॥५॥

स्वाभिश्च वचनं प्रकृतौ तथेह स्यात् ॥६॥

स्वाभिश्च वङ्क्रिभिः पशुरुपलक्षितः प्रकृतौ। इहापि तथैवोपलक्षयितव्यः। सोऽभ्यासवचने शक्यते। समासवचने हि परसंख्या समुदायस्योक्ता भवति। तथा न स्वाभिः पशव उपलक्षिता भवन्ति। तस्मादसदेतत् ॥६॥

वङ्क्रीणां तु प्रधानत्वात् समासेनाभिधानं स्यात् प्राधान्यमध्रिगो-स्तदर्थत्वात् ॥७॥ (सि०)

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदेवम्। अभ्यसितव्यः षड्विंशतिशब्द इति। किं तर्हि? समस्य वदितव्या वङ्क्रय इति। कुतः? तत्र वङ्क्रीणां प्रधानत्वात्। प्राधान्यं हि तासाम्। प्रकृतौ षड्विंशतिरेता वङ्क्रय इत्यभिसम्बन्धस्तत्रेप्सितः। षड्विंशतिरस्येति वङ्क्रयो गणिताः। ताभिर्गणिताभिः पशुरुपलक्षितः। किं कारणम्? वङ्क्रीभिर्गणिताभिर्दृष्टं प्रयोजनं कृत्स्नं पार्श्वमुद्धरिष्यत इति। न तु वङ्क्रीभिर्गणिताभिः पशावुपलक्ष्यमाणे किंचिद् दृष्टमभ्यधिकं भवति। तस्मान्न पशुसम्बन्धो विवक्षितः। एवं प्राधान्यं वङ्क्रीणाम् अध्रिगोवङ्क्रयर्थत्वान्न तस्य

अनुकूल नहीं होता। 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' उस शास्त्र प्रमाण से 'द्विपञ्चाशद्' शब्द प्रकृति प्रमाण नहीं, अतः इस प्रमाण से कथन का सम्भव नहीं ॥५॥

स्वाभिश्च वचनं प्रकृतौ तथेह स्यात् ॥६॥

सूत्रार्थः—(प्रकृतौ) अग्नीषोमीय में (स्वाभिः वचनं च) स्व सम्बन्धी वंक्रि वचन है। (तथा इह स्यात्) उस प्रकार अभ्यास हो सकता है।

भावार्थः—प्रकृति में एक पशु के ६ वंक्रियां विशेषण रूप में बताई गई हैं। अभ्यास करने से यह भाव बराबर रहता है। समास पक्ष में तो समुदायविशेष रूप में हो जाने से पशु के प्राधान्य का बोध होता है ॥६॥

वङ्क्रीणां तु प्रधानत्वात् समासेनाभिधानं स्यात्
प्राधान्यमध्रिगोस्तदर्थत्वात् ॥७॥

सूत्रार्थः—(वंक्रीणाम्) गिनने में वांक्रियों का प्राधान्य है, पशु का नहीं। (अध्रिगोः तदर्थत्वात्) अध्रिगुप्रैष का भी यही भाव है। (प्रधानत्वात्) वंक्री का प्रधानत्व होने से (समासाभिधानात्) समास का कथन करना इष्ट है।

भावार्थः—२६ वंक्रियां लाते हैं, ऐसा गिनने में पशु का प्राधान्य नहीं, परन्तु वंक्रियों का है और दो पशुओं की वंक्रियाँ ५२ हैं, ऐसा समास कर कहने में भी वंक्रि की प्रधानता

संख्यापशुसम्बन्धः प्रयोजनम् । तस्मात् समस्य वचनं कर्तव्यम् । एतावत्त्वं प्रकृतावुक्तमिति विकृतावेतावत्तेन वक्तव्येति । तस्मात् समस्य वचनं कर्तव्यमिति ॥७॥

तासां च कृत्स्नवचनात् ॥८॥

तासां च वङ्क्रीणामिदं कार्त्स्न्यमुच्यते, न पशूनाम्—ता अनुष्ठ्योच्च्यावयतात् इति, षड्विंशतिवङ्क्रयस्ताः प्रयत्नेनोद्धर्तव्या इति । इतरथा षड्विंशतिरस्य वङ्क्रयस्तं प्रयत्नेन किंचित् कुर्यादित्येवमभिसम्बन्धो भवेत् । यद्धि लक्ष्यते, तद्धि कार्यसम्बन्धार्थं प्रतिनिर्दिश्यते । तदिह षड्विंशतिरस्य वङ्क्रयस्ता इति वङ्क्रीणां प्रतिनिर्देशः कार्यार्थः । तस्मात् तासां प्राधान्यमिति ॥८॥

अपि त्वसंनिपातित्वात् पत्नीवदाम्नातेनाभिधानं स्यात् ॥९॥

अपि त्विति पक्षव्यावृत्तिः । नैतदेवम्, समसितव्या वङ्क्रय इति । किं तर्हि ? अविकृतः षड्विंशतिशब्दः प्रयोक्तव्यः । कुतः ? असंनिपातित्वात् । असंनिपाती ह्यध्रिगुः । न करणत्वेन निर्दिश्यते । यदि हि करणत्वेन निर्दिश्येत, ततोऽनेन प्रकाशितं कर्तव्यम्, न ध्यानादिनेति[1] मन्त्रान्तेन कर्मसंनिपातः स्यात् । तत्राशक्यमविकृतेन यौगपद्यं कर्तुमिति विक्रियेत, अभ्यस्येत वा । अथ पुनरेतदकरणं क्रियमाणानुवादि नयनकालमध्रिगुवचनमनेकस्मिन् पशौ चोदकेनात्र निपतितम् । तत्रैषां स्वसंख्यावतीर्वङ्क्रीरभिवदितुमशक्तं विप्रनिपन्नरूपं तत् । तस्मान्न[2] तद्वङ्क्रीणामि-

---

सूचित होती है । अतः दोनों का अर्थात् दो षड्विंशति का द्वापञ्चाशत् ऐसा समास कर उक्त वाक्य उच्चारण करना, यह सिद्धान्तवादी का मन्तव्य है ॥७॥

तासां च कृत्स्नवचनात् ॥८॥

सूत्रार्थः—(च) और (तासाम्) उन वंक्रियों का (कृत्स्नवचनात्) सम्पूर्णता से गणना-वचन होने से ।

भावार्थः—'ता अनुष्ठ्योच्च्यावयतात्' इस वाक्य में ताः पद से वंक्रियों का परामर्श होता है, अतः वंक्रियां ही प्रधान हैं ॥८॥

अपि त्वसन्निपातित्वात् पत्नीवदाम्नातेन अभिधानं स्यात् ॥९॥

सूत्रार्थः—(अपि तु) यह शब्द पक्षान्तर को बताता है (आम्नातेन) प्रकृति पाठ से (अभिधानं स्यात्) अभिधान होता है । (असन्निपातित्वात्) असंनिकृष्ट होने से (पत्नीवत्) 'पत्नीं संनह्य' इत्यादि की भांति ।

भावार्थः—जैसे बहुपत्नीक प्रयोग में 'पत्नीं सन्नह्य' इस स्थान में वचन अविवक्षित

---

१. 'ध्यानेन' इति पाठान्तरम् ।

२. 'तस्मान्न वङ्क्रीणां' इति पाठान्तरम् ।

यत्ता वदितव्या। किं तर्हि? षड्विंशतिसंख्याया सम्बन्धः कर्तव्यः। यथा, द्वि-पत्नीके बहुपत्नीके वा प्रयोगे पत्नीशब्द एकवचनान्तो न संख्यया पत्नीः परिच्छिनत्ति। किं तर्हि? एकत्वेन सम्बध्नाति। एवमिहापि। तस्मादविकारेण प्रयोगः। एवमविकारे, आर्षमनुग्रहीष्यत इति ॥९॥

विकारस्तु प्रदेशत्वाद् यजमानवत् ॥१०॥

तुशब्दात् पक्षो विपरिवर्तते। नाविकारः। ऊहः कर्तव्य इति। यद्यत्तत्संख्येष्वाहृत्य तत्संख्योच्चार्यते, तत्र वचनप्रामाण्याद्विप्रतिपन्नसंख्याकस्य शब्दस्य प्रयुज्यमानस्यादृष्टोऽर्थोऽभ्युपगम्यते। यथा प्रकृतौ पत्नीशब्दस्य। न त्विहाऽऽहृत्य षड्विंशतिशब्दोऽनेकस्मिन् पशौ प्रयुज्यते। किन्तु चोदकेनेह प्राकृतवचनं प्राप्यते। तत्र तच्चोदकः प्रापयिष्यति, नाऽऽहृत्य षड्विंशतिशब्दम्। किं तन्न्याय्यम्? यत् प्रकृतौ यन्न्याय्यं विवक्षितम्। प्रकृतौ च वङ्क्रीणामियत्ता कथिता। तस्मादिह सा प्रदिश्यते।

नन्वेतदुक्तं नाध्रिगोः करणत्वेन निर्देश इति। यदा च न करणं, तदा कथमयं वङ्क्रीयत्तावचनः। श्रुत्या षड्विंशतिसंख्यावचन एव भवितुमर्हतीति। उच्यते। यद्यपि नास्य तृतीयया निर्देशः, तथाऽपि प्रयोगवचनेनोपगृहीतः साधको भवन् कमन्यं दृष्टमुपकारं करिष्यत्यन्यतोऽवदानप्रकाशनात्। अत्रोच्यते। नास्यावदानैरभिसम्बन्धः प्रकृतयागप्रयोगवचनो[1] यागेन सम्बध्नाति। तत्र च हविःसंकीर्तनं दृष्टं प्रयोजनम्। षड्विंशतिशब्दोऽपि स्तुतये भविष्यतीति।

नैतदेवमिति ब्रूमः। प्रकरणाद्यागमा णाभिसम्बन्धे सति ऋत्विजां प्रैष इति गम्यते। लिङ्गात् तु शमितृप्रैषमेनमध्यवस्यामः। तथारूपाणि ह्यत्र वाक्यानि, दैव्याः शमितार उत[2] मनुष्या आरभध्वमिति। तथा—षड्विंशतिरस्य वङ्क्रयस्ता

है। उसी प्रकार प्रकृत स्थान में भी मन्त्रपाठ प्रकृति में और विकृति में अदृष्ट अर्थ के लिये ही है। कारण कि मंत्र से स्मृति में आनेवाली क्रिया संनिकृष्ट नहीं। मंत्रोच्चारण के समय ही वंक्रियों को गिनना नहीं होता ॥८॥

वकारस्तु प्रदेशत्वाद् यजमानवत् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(तु) पूर्वपक्षान्तर का सूचक है (बिकारः) ऊह (प्रदेशत्वात्) प्रदेश वृत्ति से (यजमानवत्) यजमान की भांति।

भावार्थः—षडविंशतिरस्य वंक्रयस्ता अनुष्ठ्योच्यावयतात्' इस वाक्य से वंक्रि की

---

१. 'प्रकृतियात' इति पाठान्तरम्।

२. 'उपहूता' इति पाठान्तरम्।

अनुष्ठयोच्चयावयताव् इति। तस्माद्वङ्क्रीयत्तावचन एषः, न षड्विंशतिसंख्यावचनः। यथा यजमानशब्द एकयजमानवाचिनि स्वसंख्यावाच्येकवचनमिति कृत्वा द्वियजमानके च प्रयोगे स्वसंख्यावचनप्रदेशादूहः क्रियते, एवमिहापीति ॥१०॥

अपूर्वत्वात् तथा पत्न्याम् ॥११॥

यदुक्तं पत्नीवदिति। युक्तं पत्न्यां, न तत्रैकपत्नीके यजमाने पत्नीशब्दः समाम्नातः। द्विपत्नीके बहुपत्नीके च प्रदेशाद् भवति यथा, एकस्याः पत्न्याः स्वसंख्यावचनः, एवं द्वयोर्बहूनां च स्वसंख्यावचन इति। तस्माद् वैषम्यं पत्न्याम् ॥११॥

आम्नातस्त्वविकारात् संख्यासु सर्वगामित्वात् ॥१२॥

तुशब्दोऽन्यं पक्षमवतारयति, न समस्य वचनं, संख्योहः स्यादिति। यथा-समाम्नातषड्विंशतिप्रातिपदिकं प्रयोक्तव्यम्। एवमविकारे, आर्षानुग्रहो भविष्यति। प्रविभक्तं गुणमभिवदितुं वचनमूहिष्यते—षड्विंशती एतयोर्वङ्क्रय इति। ननु षड्विंशती इत्यभिधाने वङ्क्रीणां प्रथमा न प्राप्नोति।

यत्ता की प्रतीति होती है। २६ संख्या का ही वाचक यह शब्द नहीं, अतः ऊह करना चाहिये। द्वियजमानक प्रयोग में 'यजमानौ' ऐसा ऊह करना पड़ता है, उसी प्रकार षड्विंशति शब्द का ऊह करना चाहिये ॥१०॥

अपूर्वत्वात् तथा पत्न्याम् ॥११॥

सूत्रार्थः—(तथा) उसी प्रकार (अपूर्वत्वात्) अपूर्व अर्थ होने से (पत्न्याम्) पत्नी में ऊह करना नहीं होता।

भावार्थः—'पत्नी संनह्य' उस स्थान पर पत्नी शब्दोत्तरवर्ती एक वचन के प्रयोग में अपूर्व अर्थ होने से ऊह नहीं करना, कारण कि केवल प्रकृति और केवल प्रत्यय का प्रयोग नहीं होता। अतः अविवक्षित एकवचन का प्रयोग किया है। परन्तु 'षड्विंशतिरस्य' इत्यादि मंत्र का फल तो इष्ट है। इस मंत्र से २६ वंक्रियों का गिनना स्मरण होता है। भले ही भिन्न समय में यह मंत्र उच्चरित किया हो और भिन्न समय में गणना की जाय। जैसे राजा की आज्ञा कालान्तर में लोग सुनते हैं और इस आज्ञा का अनुष्ठान जब आवश्यकता हो तब उसी आज्ञा को स्मरण कर सकते हैं। अतः उक्त मंत्र का ऊह अवश्य करना चाहिये ॥११॥

आम्नातस्त्वविकारात् संख्यासु सर्वगामित्वात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(तु) तु शब्द पक्ष का उत्थापन करता है। (आम्नातः) प्रकृति में प्रातिपदिक शब्द जैसी रीति से आम्नात है। (अविकारात्) उसी रीति से ऊह किये विना षड्-

उच्यते । यदा षड्विंशतिगुणः प्राधान्येन विवक्षितो भवति, तद्विशेषणार्थं संख्येयमुच्चार्यते, तदा प्रथमान्तेनापि लक्षणया संख्या विशेष्यते । यथा—इन्द्राग्नी देवता इति । यदा दिवेरैश्वर्यकर्मणोऽर्थो गुणो विवक्षितो भवति, तदैकवचनान्तं द्विवचनान्त एव इन्द्राग्नी इति शब्दो लक्षणया विशिनष्टि । तथा च प्रयोगो दृश्यते पञ्चपञ्चाशतस्त्रिवृतः संवत्सराः, पञ्चपञ्चाशतः पञ्चदशाः, पञ्चपञ्चाशतः सप्तदशाः, पञ्चपञ्चाशत एकविंशा इति संख्यावचनः शब्दस्त्रिवृत इत्यनेन लक्षणया विशेष्यते । तथा देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्राः पचदिति । एवं षड्विंशती वङ्क्रय इति । एवमविकारश्च भविष्यति । सर्ववङ्क्रिगामी[1] च षड्विंशतिशब्दो भविष्यतीति ॥१२॥

संख्या त्वेवं प्रधानं स्याद् वङ्क्रयः पुनः प्रधानम् ॥१३॥

सत्यमुपपद्यत एव वचनं षड्विंशती वङ्क्रय इति । संख्याप्रधानस्त्वेवं निर्देशः कृतो भवति । षड्विंशतिगुणः प्राधान्ये विवक्षितः । तद्विशेषणत्वेन वङ्क्रीणामुच्चारणम् । वङ्क्रयः पुनः प्रकृतौ प्रधानं, न संख्या । तदुक्तं, प्राधान्यमध्रिगोस्तदर्थत्वात् । यासां च कृत्स्नवचनादिति । तदेवं न प्रकृतिवदभिधानं कृतं भवेत् । तत्र चोदक एव बाध्येत । तस्मात् समसितव्यमेव वचनमिति ॥१३॥

अनाम्नातवचनमवचनेन हि वङ्क्रीणां स्यान्निर्देशः ॥१४॥

विंशति शब्द का पाठ करना (संख्यासु) संख्यावाचक वचन में विकार करना । (सर्वगामित्वात्) वैसा करने सब व[ङ्]क्[रि]यों का कथन हो सकेगा ।

भावार्थः—प्रकृति में षड्विंशति शब्द है, वैसे ही विकृति में स्थिर रखना और उसके उत्तर में संख्यावाचक एकवचन में विकार करना इसलिये कि षड्विंशतिर्वङ्क्रयोऽस्य इस रीति से पाठ रखना । द्विवचन रखने से दोनों पशुओं की ५२ वंक्रियों का बोध हो सकता है ॥१२॥

संख्या त्वेवं प्रधानं स्याद् वङ्क्रयः पुनः प्रधानम् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(तु)तु शब्द पक्ष का दूषण सूचित करता है । (एवं संख्या प्रधानं स्यात्)इस प्रकार संख्या का ऊह करने से संख्या प्रधान होगी । (वंक्रयः पुनः प्रधानम्) वास्तव में वंक्रि प्रधान हैं ।

भावार्थः— संख्या का ऊह करने से संख्या प्रधान रूप से समझी जाती है और वास्तव में तो वंक्रियां ही प्रधान हैं । अतः वचन का ऊह करना उचित नहीं ॥१३

अनाम्नातवचनमवचनेन हि वङ्क्रीणां स्यान्निर्देशः ॥१४॥

---

१. 'वङ्क्रिगामी च' इतिपाठान्तरम् ।

न खल्वप्यस्मिन् पक्षे सर्वमेवाम्नातमुच्यते, अनाम्नातवचनमपि प्रतीयत इति, षड्विंशती षड्विंशतय इति । अथ द्विवचनं बहुवचनं वाऽनार्षतया[1] न क्रियते, नैव[2] तासां वङ्क्रीणां कात्स्न्येनाभिधानं स्यात् ॥ १४॥

अभ्यासो वाऽविकारात् स्यात् ॥१५॥

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । न समासवचनम् । अभ्यासः स्यात् । एवमविकारो भविष्यति । तत्राऽऽर्षचोदकावनुग्रहीष्येते । सर्वं समाम्नातं कृतं भविष्यति । केवलमस्यशब्दोऽभ्यसिष्यते । कृत्स्नाश्च वङ्क्रयोऽभिहिता भविष्यन्ति ॥१५॥

पशुस्त्वेवं प्रधानं स्यादभ्यासस्य तन्निमित्तत्वात् तस्मात् समासशब्दः स्यात् ॥१६॥

तुशब्देनावधार्यते । नैतदेवम् । समस्य वचनमेवेति । कथम् ? एवं सति पशुः प्राधान्येनात्र निर्दिष्टः स्यात् —**पशोः पशोः षड्विंशतिः षड्विंशतिर्वङ्क्रयो न कश्चिदषड्विंशतिर्वङ्क्रिः पशुः** इति पशोः संख्यासम्बन्धोऽभिधित्सित एवं वचनं

अभ्यासो वाऽविकारात् स्यात् ॥१५॥

सूत्रार्थः—(वा) अथवा (अभ्यासः स्यात्) अयं पद का अभ्यास करना (अविकारात्) प्राकृत षड् विंशति शब्द के जो प्रत्यय विशिष्ट हैं, उनका विकार न होने से ।

भावार्थः—केवल 'अयम्' पद का ही अभ्यास करना प्रकृतिगत प्रत्यय विशिष्ट षड्विंशतिः पद का विकार नहीं करना । ऐसा करने से प्रकृति में श्रूयमाण वर्ण का बोध नहीं होगा ॥१५॥

पशुस्त्वेवं प्रधानं स्यादभ्यासस्य तन्निमित्तत्वात् तस्मात् समासशब्दः स्यात् ॥१६॥

सूत्रार्थः—(तु) सिद्धान्त पक्ष को सूचित करता है (एवं पशुप्रधानं स्यात्) ऐसा अभ्यास करने से पशु प्रधान रूप में होगा (अभ्यासस्य) अभ्यास करने में (तन्निमित्तत्वात्) पशु निमित्त होने से (तस्मात्) अतः (समासशब्दः स्यात्) समास शब्द का पाठ करना ही योग्य है ।।

भावार्थः—'अयं' पद का अभ्यास करने से पशु की प्रधानता समझी जाती है । कारण कि 'योग्यः पशुः षड्विंशतिवंक्रीकः' ऐसा वाक्यार्थ होता है । अभ्यास करने में भी पशु ही निमित्त बनता है । वास्तव में वंकियाँ प्रधान हैं अतः समास अर्थात् २६ का दुगना कर

---

१. 'अनार्षं तथा' इति पाठान्तरम् ।

२. 'न तासां' इति पाठान्तरम् ।

प्रसङ्गः। तं च निवर्तयन्नेष शब्दो दृष्टप्रयोजनो भवति। न हि वनिष्टुर्न लवितव्य एव। वपोद्धरणकाले वपां मन्यमानेन लवितव्यः। इतरस्मिन् पक्षे, वनिष्टुं मा राविष्टेति लवितव्ये वनिष्टावनर्थकः प्रतिषेधः। उलूकसदृशवचनं चादृष्टार्थम्। कथं पुनर्वपायामप्रयुक्तो वपां प्रत्याययिष्यत्युरूकशब्द इति। उच्यते। अवयवप्रसिद्धया, उरुशब्दस्तावद्विस्तीर्णवचनो दृष्टः। तद्यथा—उरु राजाङ्गणम्, उरु तैलिकाङ्गणम् इति। तथा उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ इति। तथा—उरु विष्णो विक्रमस्व इति। इहापि स विस्तीर्णवचन एव। तथा, कशब्दो मेदसि प्रसिद्धः। यथा, कशवाहिनो रथाः। मेदोवाहिन इति गम्यते। तस्यैकदेशः कशब्दः समुदायप्रत्ययमादधाति[1]। मेदस्विनी तस्य वपा। न विस्तीर्णं मेदो मन्यमानेन तत्सन्निकृष्टो वनिष्टुर्लवितव्य इति वपावचनता सिद्धा भवति। किं भवति प्रयोजनम्? वनिष्टुवचनपक्षे, उपमानस्योरूकशब्दस्यानूहः। वपावचनपक्ष, उरुशब्द ऊहितव्यः, कशब्दश्चेति उरुणी के, ऊरूणि कानि। अथवा, उरूके उरूकाणि, यदि समासाभिप्रायः ॥२२॥

—:०:—

[अध्रिगुप्रैषगतप्रशसाशब्दस्य बाहुप्रशंसापरत्वाधिकरणम् ॥४॥]

तस्मिन्नेवाध्रिगावाम्नायते—प्रशसा बाहू इति। तत्र सन्देहः। किं प्रशसा बाहू कृणुतात्, प्रशसेति तृतीयान्तः, प्रशसा बाहू ग्रहीतव्याविति, उत प्रशसेति द्विवचनम्, आकारे विभक्तेः कृते प्रशस्तौ बाहू कर्तव्याविति? किं प्राप्तम्?

प्रशसाऽस्याभिधानम् ॥२३॥ (पू०)

भावार्थः—'वनिष्टु' शब्द पशु शरीर में स्थित एक अवयव का वाचक है, उसके समीप उरूक भी है। उरूक शब्द से भी पशु शरीर का कोई अवयव समझना चाहिये। ऊरुविस्तीर्णमूको मेदो यत्र स उरूकः इस व्युत्पत्ति से मेदपूर्ण वपाविशेष का नाम ही उरूक है। उरूक और उलूक शब्दों के साम्य से उरूक अर्थ ऊलूक न समझना, यह इस अधिकरण का भाव है ॥२२॥

—:०:—

अध्रिगु में जो प्रशसा शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसका अर्थ प्रशंसा है, इस अधिकरण के सूत्र—

प्रशसाऽस्याभिधानम् ॥२३॥

सूत्रार्थः—(प्रशसा) प्रशसा शब्द (अस्याभिधानम्) असि के अर्थ का वाचक है।

---

१. 'समुदाये' इति पाठान्तरम्।

प्रशसाऽस्याभिधानम् । असौ हि शासशब्दः प्रसिद्धः । तथा हि तमनुवदति—**यश अथाजानिष्ट्वाऽऽह शासमाहर इति**[1] । **असिं वै शासमाचक्षत** इति । अनर्थिका च बाह्वोः स्तुतिः । स्तुतौ बाहू किमप्यदृष्टं कुरुत इति मान्त्रवर्णिकं तयोर्देवतात्वं कल्पितं स्यात् । तच्चायुक्तमन्यस्मिन् पक्षे सति । तथा शौनःशेपे भवति दर्शनम्—**अनस्त्वामग्निं शासहस्तं शासेन विशसनत्वाम् द्रष्टुमुत्सहे** इति । तस्मादसिना प्रशसेति गम्यते ॥२३॥

बाहुप्रशंसा वा ॥२४॥

अथवा बाहुप्रशंसैषा । प्रशसा बाहू कृणुतात्—प्रशस्तौ बाहू छेत्तव्याविति । तथा प्रशसाशब्दस्य दृष्टार्थता भविष्यतीति । कात्स्न्र्येन हि बाह्वोः प्रशस्तता । कृत्स्नौ बाहू उद्धरतेत्यर्थः । कृत्स्नौ च बाहू उद्धर्तव्याविति । इतरस्मिन् पक्षे स्वधितिना विशसनं क्रियते, असेश्च वाचकः शब्द उच्चार्यते । यदि वा मन्त्रवर्णिकं द्रव्यं विधीयते, असिना बाहू छेत्तव्याविति । तच्चायुक्तं, विधिविहिते स्वधितौ सति । न च न प्रशस्तौ बाहू । ताभ्यां पशुर्हि गच्छति । अवनम्य च शमीकरीरं[2] भक्षयति । तस्माद् बाहुप्रशंसा । किं भवति प्रयोजनम् ? अश्वमेधे—**शतं राजता हरितस्रवोऽसयः** । तत्रासिपर ऊहो भवति, यथा पूर्वः पक्षः । यथा तर्हि सिद्धान्तः, तथा बाहुपरेणोहेन भवितव्यम् ॥२४॥

—:०:—

[अध्रिगुप्रैषगतश्येनशलाकश्यपादिशब्दानां कात्स्न्र्येनोद्धरणप्रकाशकत्वाधिकरणम् ॥५॥]

भावार्थः—इस अग्नीषोमीय प्रकरण में प्रसशा शब्द आता है, उसका **अर्थ** असि अर्थात् तलवार होता है ॥२३॥

बाहुप्रशंसा वा ॥२४॥

सूत्रार्थः—(वा) सिद्धान्तसूचक है (बाहुप्रशंसाः) बाहु की प्रशंसावाचक यह शब्द है ।

भावार्थः—प्रशसा शब्द असि-वाचक नहीं, परन्तु प्रशंसावाचक है **'प्रशस्तौ इति बाहु-विशेषणम्'** प्रशसा यह तृतीया विभक्त्यन्त पद नहीं, कारण कि असि से कोई बाहु की प्रशंसा नहीं होती । प्रशंसौ यह द्वितीया के द्विवचन में रूप है ॥२४॥

—:०:—

अध्रिगुप्रैष में **'श्येनमस्य'** इत्यादि वाक्यगत श्येनादि शब्दों का कात्स्न्र्य वचन है । इस अधिकरण के सूत्र—

---

१. 'शासमाहर' इति पाठान्तरम् ।

२. 'शमीकरीरे' इति पाठान्तरम् ।

ऋग्वा स्यादाम्नातत्वादविकल्पश्च न्याय्यः ॥१९॥ (पू०)

आम्नाता हि ऋक्, अप्रतिषिद्धा च तस्मादश्वस्य वैशेषिकं वचनं स्यात्। तथा चाविकल्पो भविष्यति। अविकल्पश्च न्याय्यः। विकल्पे विरुद्धं वचनमन्योन्येन भवति। भवतीति चेत्, न प्रतिषेधः। नेति चेत्, न विधिः। तस्माद् वैशेषिकं वचनं कर्तव्यम् ॥१९॥

तस्यां तु वचनादैरवत् पदविकारः स्यात् ॥२०॥

अथ यदुक्तम्, ऋक् तत्र प्रतिषिध्यत इति। नैतदेवम्। तस्यां वचनात् पदविकारः स्यात्। वचनं हि भवति, न चतुस्त्रिंशदिति ब्रूयात्, षड्विंशतिरित्येव ब्रूयादिति। तत्र चतुस्त्रिंशत्पदं श्रुत्या प्रतिषिध्यते। ऋग् लक्षणया प्रतिषिध्यते। श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या। तस्माद् वैशेषिकं वचनं कर्तव्यमिति ॥२०॥

सर्वप्रतिषेधो वाऽसंयोगात् पदेन स्यात् ॥२१॥ (सि०)

ऋग्वा स्यादाम्नातत्वादविकल्पश्च न्याय्यः ॥१९॥

सूत्रार्थः—(वा) अथवा (ऋक् स्यात्) समस्त ऋचा का विधान है (आम्नातत्वात्) प्रकरण में पाठ होने से (च) और (अविकल्पः) उचित है।

भावार्थः—प्रतिषेध किये पीछे जो वैशेषिक प्राप्त होता है, वह सामासिक संख्या का प्रयोजन नहीं, परन्तु उस स्थान पर समस्त ऋचा का विधान है। कारण कि प्रकरण में उस ऋचा का पाठ है। वैशेषिक वचन का विकल्प मानना ठीक नहीं, अतः अविकल्प ही मानना चाहिये। सम्पूर्ण ऋचा इस प्रकार शाबर भाष्य में उद्धृत की गई है—**"चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोर्वङ्क्रीरश्वस्य स्वधितिः समेति अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोत परुष्परुरनुघुष्या विशस्ता ॥१९॥**

तस्यां तु वचनादैरवत् पदविकारः स्यात् ॥२०॥

सूत्रार्थः—(तस्यां तु) वह ऋचा तो (वचनात्) उक्त निषेध वचन से (ऐरवद्) **'न गिरेति ब्रूयात् ऐरं कृत्वोद्गायेत्'** इस स्थल की भांति (पदविकारः स्यात्) चतुस्त्रिंशत् पद के स्थान में षड्विंशति शब्द का प्रक्षेप करना चाहिये।

भावार्थः—उक्त निषेध वचन समस्त ऋचा का निषेध नहीं परन्तु उस ऋचा में जो चतुस्त्रिंशत् पद है, उसका ही केवल निषेध है। जैसे गिरा पद का निषेध कर उसके स्थान पर 'इरा' पद का प्रक्षेप किया है, उसी प्रकार प्रकृत स्थान में भी समझना चाहिये। पद के निषेध से समस्त ऋचा का निषेध मानने में आवे तो लक्षणा माननी पड़ेगी। और इस प्रकार मानना अनुचित है ॥२०॥

सर्वप्रतिषेधो वाऽसंयोगाद् पदेन स्यात् ॥२१॥

सर्वस्या एव वा ऋचः प्रतिषेधोऽयं, न चतुस्त्रिंशत् पदस्य। कस्मात्? पदेनासंयोगात्। चतुस्त्रिंशत्पदेन ऋचः संयोगो न स्यात्। विना तस्मात् पदान्नैव ऋक्शेषो वङ्क्रिगणनं कुर्यात्। अथ षड्विंशतिपदेन सम्बध्येत, तथाऽपि नाश्ववङ्क्रिसंख्यां ब्रूयात्। तत्र दृष्टोऽर्थो नावकल्पेत। ऊनं च वाक्यमर्थं न साधयेत्। ऊने च वाक्ये दोषश्रवणात्—मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् इति। चतुस्त्रिंशत्पदं चेहानर्थकं स्यात्। तस्मात् समस्य वचनं कर्तव्यम्। ऋचश्च विध्यन्तरेण विहितत्वाद् वैशेषिकं वचनमिति ॥२१॥

—:०:—

[अध्रिगुप्रैषगतोरूकशब्देन वपाभिधानाधिकरणम् ॥३॥]

ज्योतिष्टोमेऽग्नीषोमीये पशावध्रिगौ वचनं—वनिष्ठुमस्य मा राविष्टोरूकं मन्यमाना इति। तत्रोरूकशब्दं प्रति विचारः। किं वनिष्ठुमस्य मा राविष्टोलूकसदृशं मन्यमानाः, उतोरूकं वपां मन्यमाना वनिष्ठुं मा राविष्टेति? किं प्राप्तम्? वनिष्ठुमुलूकं मन्यमाना इति। कथमुरूकशब्द उलूकवचनः। रलयोः समानवृत्तित्वात्। पर्यङ्कः पल्यङ्कः, रोमाणि लोमानि, अङ्गुरिः अङ्गुलिः। उलूकसदृशत्वाच्च वनिष्ठोः, वपायां चाप्रसिद्धेः।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

वनिष्ठुसंनिधानादुरूकेण वपाभिधानम् ॥२२॥ (सि०)

उरूकशब्देन वपाभिधानं स्यात्। वपां मन्यमाना वनिष्ठुं मा राविष्टेत्येषा बुद्धिः क्रियमाणा दृष्टार्था। भवति हि वनिष्ठुसंनिधानाद् व्यामोहेन वनिष्ठोर्लवन-

---

सूत्रार्थः—(वा) अथवा (सर्वप्रतिषेधः) समस्त ऋचा का प्रतिषेध हो सकता है। (संयोगात् पदेन स्यात्) ऋचा के प्रथम पद के साथ संयोग होने से।

भावार्थः—समस्त ऋचा का भी निषेध हो सकता है। कारण कि उक्त निषेध वा पद ऋचा के प्रथम पद रूप में सम्बन्ध रखते हैं और जो आपने दृष्टान्त दिया है वह गिरा पद ऋचा के प्रारम्भ का नहीं है, अतः दृष्टान्त विषम है ॥२१॥

—:०:—

अग्नीषोमीय पशु में उरूक शब्द से द्रव्य का अभिधान है, इस अधिकरण के सूत्र—

वनिष्ठुसंनिधानादुरूकेण वपाभिधानम् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(वनिष्ठुसन्निधानात्) वनिष्ठु के सामीप्य से (उरूकेण) उरूक शब्द से (वपाभिधानम्) वपा का अभिधान होता है।

भवति। न च पशुसंख्यासम्बन्धः प्रकृतौ विवक्षित इत्युक्तम्। इयत्ता वङ्क्रीणां प्रकृतौ वक्तव्या। इहापि सैव चोदकेन प्रदिश्यते। तेन नाभ्यासः। स हि पशु-निमित्तकः। तस्मात् समस्य वचनं वङ्क्रीणां कर्तव्यमिति ॥१६॥

—:०:—

[अश्वमेधेऽश्वविषये वङ्क्रीयत्ताप्रकाशनार्थं वैशेषिकमन्त्राकरणपक्षे त्रयाणां पशूनामर्थे षडशीतिरेषां वङ्क्रय इति समासवचनाधिकरणम् ॥२॥]

अस्त्यश्वमेधः। तत्र सवनीयः पशुः, अश्वस्तूपरगोमृगौ च। अस्ति तु प्रकृतावग्नीषोमीये षड्विंशतिरस्य वङ्क्रय इति वचनम्। तदिह चोदकेन प्राप्तम्। तत्राश्वस्य चतुस्त्रिंशद्वङ्क्रयः तूपरगोमृगयोः षड्विंशतिः। अस्ति तु ऋक् समाम्नाता—**चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोर्वङ्क्रीरश्वस्य स्वधितिः समा** इति। **अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोत परुष्परुरनुघुष्याविशस्ता** इति। तदिदं संदिह्यते किमश्वस्य वैशेषिकमिदं वचनं कर्तव्यं तूपरगोमृगयोः समासेन, उत सर्वेषामेव समासवचनम्? किं प्राप्तम्?

अश्वस्य चतुस्त्रिंशत्तस्य वचनाद्वैशेषिकम् ॥१७॥ (पू०)

अश्वस्य चतुस्त्रिंशद् वङ्क्रयस्तस्य वैशेषिकमिदं वचनं कर्तव्यम्। कस्मात्? वचनात्। एवं चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोरित्येतद्वचनमर्थवदिति। इतरथा, एतद्

द्वापञ्चाशद् शब्द का पाठ करना ही उचित है। इसलिये इस अधिकरण का यही भावार्थ है कि षड्विंशति शब्द का समास करके ऊह करना।

चतुस्त्रिंशद्वाजिनः इत्यादि वचन से आश्वमेधिक सवनीय अश्व का चतुस्त्रिंशत् वंक्रि रूप विशेष वचन है ॥१६॥

—:०:—

अश्वस्य चतुस्त्रिंशत्तस्य वचनाद्वैशेषिकम् ॥१७॥

सूत्रार्थः—(अश्वस्य चतुस्त्रिंशत्) यह मन्त्र वाक्य (तस्य वचनात्) ३४ वंक्रियों का प्रकाश करनेवाला होने से (वैशेषिकम्) खास अश्व के लिये ही है।

भावार्थः—अश्वमेध यज्ञ में एक अश्व और अन्य दो तूपर और गोमृग सवनीय पशु हैं। उनमें **'अश्वस्य चतुस्त्रिंशत्'** यह खास अश्वपरक ही है और **षड्विंशतिरस्य वंक्रयः** ये जो अग्नीषोमीय में बताई हैं वह अतिदेश शास्त्र से यह भी प्राप्त है। तूपर और गोमृग इन दोनों पशुओं की वंक्रियां उक्त वचन से प्रकाशित होती हैं।

वचनमर्थकं स्यात् । तस्माद् वैशेषिकमश्वस्येति ॥१७॥

तत्प्रतिषिध्य प्रकृतिर्नियुज्यते सा चतुस्त्रिंशद्वाच्यत्वात् ॥१८॥ (सि०)

तत्प्रतिषिध्य प्रकृतिर्नियुज्यते, प्रकृतौ यत् कृतं वचनं तत् कर्तव्यमिति । कथम् ? न चतुस्त्रिंशदिति ब्रूयात्, षड्विंशतिरित्येव ब्रूयादिति । सा नियुज्यमाना चतुस्त्रिंशद्वाच्यत्वाद्वारयति शब्दम् । तस्मात् प्रतिषिद्धत्वाद् वैशेषिकं वचनं न कर्तव्यं सामासिकं वचनं कर्तव्यम् ।

ननु षड्विंशतिरित्येव ब्रूयादिति वचनात् प्रतिषिद्धेऽपि वैशेषिकमेव वचनं कर्तव्यमिति । नेत्युच्यते । न ह्ययं षड्विंशतिशब्दो विधीयते । किं तर्हि ? यथाप्राप्तं[1] वचनमनूद्यते । कथमवगम्यते ? एवकारकरणात् । यथाप्राप्त एवकारकरणम् । न च षड्विंशतिशब्दः प्राप्तः । षड्विंशतिसंख्याभिधानं[2] प्रकृतौ कृतम् । इहापि तदेव प्राप्तम्[3] । षड्विंशतिशब्देन तत्प्रकृतौ लक्षितमिहापि षड्विंशतिशब्दस्तल्लक्षणार्थमेवोच्चारितः । षड्विंशतिसंख्यापरेऽनेकोऽर्थो विधीयते । चतुस्त्रिंशत्प्रतिषेधः । षड्विंशतिसंख्यावचनं च । तत्र वाक्यं भिद्येत । भिद्यमान एकवाक्यरूपं बाध्येत । किं तत् ? साकाङ्क्षत्वम् । न चतुस्त्रिंशदिति ब्रूयात्, षड्विंशतिरित्येव ब्रूयादिति । एतद्धि वचनं चतुस्त्रिंशद्वचनाभावे प्राप्तमेव सत्कर्तव्यतया प्रतिषेधं प्रशंसितुमुच्चार्यते तदेवमेकवाक्यतामापद्यते । संख्यापरे बाधिता स्यात् । अनेकार्थविधानं चान्याय्यम्, एकार्थविधाने सम्भवति । भूयसी हि तत्रादृष्टकल्पना स्यात् । तस्माद्यथाप्राप्तवचनं कर्तव्यमिति ॥१८॥

आश्वमेधिक सवनीय अश्व के 'न चतुस्त्रिंशत्' इस वचन से समस्त ऋचाओं का निषेध है ॥१७॥

तत् प्रतिषिध्य प्रकृतिर्नियुज्यते सा चतुस्त्रिंशद्वाच्यत्वात् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(तत्प्रतिषिध्य) वैशेषिक वचन का प्रतिषेध कर (प्रकृतिः) अतिदेश शास्त्र विहित सामासिक वचन (नियुज्यते) विहित किया जाता है (सा) वे (चतुस्त्रिंशद्वाच्यत्वम्) चौंतीस संख्या का भी वाच्य होने से ।

भावार्थः—'न चतुस्त्रिंशद् इति ब्रूयात्' इस वचन से पूर्वोक्त विशेष वचन कहा जाता है अर्थात् ८६ वंक्रियां तीन पशुओं में मिलकर होती हैं अतः ८६ यह सामासिक बोलना । इनमें ३४ संख्या का वाच्यार्थ भी आ जायगा । अतिदेश शास्त्र एक पक्ष में अर्थात् विकल्प में वैशेषिक वचन का वारण करता है ॥१८॥

---

१. 'यथा प्राप्तिवचनम्' इति पाठान्तरम् ।

२. 'षड्विंशतिशब्देन च स्वसंख्याभिधानं' इति पाठान्तरम् ।

३. 'प्राप्तं षड्विंशतिशब्देन । ननु प्रकृतौ' इति पाठान्तरम् ।

अस्मिन्नेवाध्रिगाविदमाम्नायते—श्येनमस्य वक्षः कृणुतात्, शला दोषणी, कश्यपेवांसौ, कवषोरू, स्रेकपर्णाऽष्ठीवन्ता इति। एषु संशयः। किमाकृतिवचनमेषु भवति, उत कात्स्न्र्योद्धरणमिति? किं प्राप्तम्?

श्येनशलाकश्यपकवषस्रेकपर्णेष्वाकृतिवचनं प्रसिद्ध-संनिधानात् ॥२५॥ (पू०)

प्रसिद्धसंनिधानादाकृतिवचनम्। इह प्रसिद्धस्य संनिधौ यदभिधीयते किंचिदिदं कर्तव्यमिति, तत्राऽऽकृतिवचनं गम्यते। यथा, अमी पिष्टपिण्डाः सिंहाः क्रियन्तामिति, अर्जुनबदरा मेखलाः क्रियन्तामिति, सिंहाकृतिवचनं मेखलाकृतिवचनं च गम्यते। एवं श्येनाकृतिवक्षः कर्तव्यं, शलाकृती दोषणी, कश्यपाकृती अंसौ, कवषाकृती उरू, करवीरपर्णाकृती अष्ठीवन्ताविति ॥२५॥

कात्स्न्र्यं वा स्यात् तथाभावात् ॥२६॥

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। न चैतदस्ति, आकृतिवचन इति। किं तर्हि? कृत्स्नोद्धरणं विवक्षितम्। कृत्स्नान्युद्धृतान्येतान्येतदाकृतिकानि भवन्ति। यथा श्येनाद्याकृतिकानि भवन्ति। तथैतानि कुरुत, कृत्स्नान्युद्धरतेत्ययमर्थोऽवगम्यते। लक्षणयेदं चोद्यमानं दृष्टार्थं भवति। कृत्स्नोद्धृतैर्हि तैः प्रयोजनम्। तथा हि तदाकृतिकानामवत्तं भवति। इतरथाऽतदाकृतिकानामवद्यात्। तस्मात् कात्स्न्र्यमवगम्यत इति ॥२६॥

श्येनशलाकश्यपकवषस्रेकपर्णेष्वाकृतिवचनं प्रसिद्धसंनिधानात् ॥२५॥

सूत्रार्थः—(श्येन, शला, कश्यप, कवष, स्रेकपर्णेषु) श्येन, शला, कश्यप, कवष, स्रेक, पर्ण में (आकृतिवचनम्) सादृश्य वचन है (प्रसिद्धसंनिधानात्) प्रसिद्ध श्येन आदि पद के संनिधान से।

भावार्थः—यज्ञ में दान देने योग्य पशु के शरीर में अनेक अवयव श्येन आदि पक्षी सदृश होवे हैं ॥२५॥

कात्स्न्र्यं वा स्यात् तथाभावादध्रिगोश्च तदर्थत्वात् ॥२६॥

सूत्रार्थः—(कात्स्न्र्यं वा स्यात्) सम्पूर्ण आकृति श्येनादि जैसी ही स्वाभाविक रीति से होती है। (तथाभावात्) तत् तत् पक्षियों के साथ उस भाग के मिलते होने से (अध्रिगोस्तदर्थत्वात्) अध्रिगु नामक ऋत्विक् को पशुओं के शरीर के अवयवों की आकृति का ज्ञान होना चाहिये।

भावार्थः—उक्त पशुओं के शरीर के वक्षस्थल की आकृति सम्पूर्ण रीति से श्येन आदि पक्षियों जैसी होती है। और इसका ज्ञान अध्रिगु नामक ऋत्विज् को होना चाहिये। भावार्थ यह है कि अध्रिगु नामक ऋत्विज् को पशु के शरीर के भीतर व बाहर के अवयवों का सम्पूर्ण ज्ञान सूक्ष्म रूप से होना चाहिये ॥२६॥

अध्रिगोश्च तदर्थत्वात् ॥२७॥

अध्रिगुश्चाङ्गानामुद्धरणार्थः। अङ्गानां कात्स्न्र्येनोद्धरणं कथं स्यादित्येवमर्थः। कथम् ? एवं हि भवति वचनम्— **गात्रं गात्रमस्यानूनं कृणुतात्** इति। तस्मादपि श्येनादिभिः कृत्स्नोद्धरणं गम्यत इति। प्रयोजनं पक्षोक्तम् ॥२७॥

—:०:—

[दर्शपूर्णमासार्थोद्धृताग्निनाशे ज्योतिष्मतीष्टेरननुष्ठानाधिकरणम् ॥६॥]

अस्त्यग्निहोत्रम्—य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति इति। तत्रेदमाम्नायते—अग्नये ज्योतिष्मतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्, यस्याग्निरुद्धृतोऽहुतेऽग्निहोत्र उद्वायेद्[1] इति। यदि तु दर्शार्थेन पौर्णमासार्थेन वाऽग्निरुद्धृतोऽहुतेऽग्निहोत्र उद्वायेत्, किं ज्योतिष्मती कर्तव्या नेति ? किं प्राप्तम् ? कर्तव्येति। कुतः ? उपसंप्राप्तं हि निमित्तम्। भवितव्यं नैमित्तिकेनेति। अग्निरसावुद्धृतोऽहुतेऽग्निहोत्र उद्वातः। एतावच्च निमित्तं ज्योतिष्मत्याः। तस्मात् सा कर्तव्येति। न चात्र शब्दोऽस्ति, अग्निहोत्रार्थमुद्धृत उद्वाते कार्येति। तस्मादपि कर्तव्या।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

प्रासङ्गिके प्रायश्चित्तं न विद्यते परार्थत्वात् तदर्थे हि विधीयते ॥२८॥ (सि०)

प्रासङ्गिके—एवं लक्षणकेऽग्नावनुगते प्रायश्चित्तं न कर्तव्यम्। परार्थं हि तदुद्धरणं कृतम्। दर्शपूर्णमासार्थम्। अग्निहोत्रार्थे चोद्धृते व्यापन्ने तदाम्नातम्। तस्मान्न कर्तव्यम्। आह। ननूक्तं, नास्त्यत्र शब्दः, अग्निहोत्रार्थमुद्धृतेऽनुगते प्रायश्चित्तमिति। अत्रोच्यते। यद्यपि नास्त्येवंजातीयकः शब्दस्तथाऽप्यग्निहो-

---

दर्शयाग के लिए उद्धृत अग्नि का लोप हो तो प्रायश्चित्त रूप ज्योतिष्मती इष्टि का अनुष्ठान न करना, इस सम्बन्ध का अधिकरण—

—:०:—

प्रासङ्गिके प्रायश्चित्तं न विद्यते परार्थत्वात् तदर्थे हि विधीयते ॥२८॥

सूत्रार्थः— (प्रासङ्गिके) दर्श और पूर्णमास के लिये उद्धृत अग्नि यदि शान्त हो जाय तो (प्रायश्चित्तं न विधीयते) प्रायश्चित्त ज्योतिष्मती इष्टि कर्त्तव्य नहीं। (परार्थत्वात्) ज्योतिष्मती इष्टि अन्य के लिये होने से (तदर्थे हि विधीयते) अग्निहोत्र के लिये यह विहित है।

---

१. 'उद्वायात्' इति पाठान्तरम्।

त्रार्थमेवोद्धृतेऽनुगते प्रायश्चित्तं गम्यते । कथम् ? अग्निहोत्रप्रकरण एतदाम्नातमिति । आह । अग्निहोत्रप्रकरण आम्नानात् तस्योपकारकमिति गम्यते । नाग्निहोत्रविशिष्टमुद्धरणम् । स्वार्थं हि सर्वं क्रियते, न परविशेषणार्थेन ।

अत्रोच्यते । अग्निसम्बद्धमेतत् प्रायश्चित्तमुच्यते, नोद्वानसंबद्धम् । किमतो यद्येवम् ? यद्युद्वानसम्बद्धं भवेत्, उद्वानसम्बन्धात्नैतदुद्वानार्थमिति गम्यते । प्रकृतेनाग्निहोत्रेण प्रयोजनेन सम्बध्यते । अग्निसम्बन्धे पुनर्गुणत्वादग्नेस्तेनैव प्रायश्चित्तस्य प्रयोजनसम्बन्धः । तत्रैवमुद्धृतो व्यापन्नो भवति यदि स प्रयोजनं नाभिनिर्वर्तयति । तत्राग्निहोत्रार्थस्योद्धरणस्याग्निहोत्रनिर्वृत्तिः प्रयोजनम् । दर्शपूर्णमासार्थस्य दर्शपूर्णमासनिर्वृत्तिः । उद्धृतं चानुगतं स्वस्मै प्रयोजनायायोग्यं प्रायश्चित्तेन योग्यं क्रियते । तच्च योग्यं कुर्वत् प्रायश्चित्तमग्निहोत्रस्योपकरोति । यस्तूद्धृतो दर्शपूर्णमासप्रयोजनः, तं योग्यं कुर्वन्नाग्निहोत्रस्योपकुर्यात् । यस्त्वग्निहोत्रार्थमुद्धृतः, तं योग्यं कुर्वदग्निहोत्रायोपकरोति[1] । तस्मादग्निहोत्रार्थमुद्धृते प्रायश्चित्तम् ।

कथं पुनर्ज्ञायते, अग्निना प्रायश्चित्तस्यसम्बन्धो नोद्वानेनेति ? अग्निविशिष्टेनोद्वानेन सम्बन्ध इति श्रुत्या गम्यते । उद्वानपरीतेनाग्निनेति वाक्येन । श्रुतेर्वाक्याद् बलीयस्त्वादुद्वानसम्बन्धः प्राप्नोतीति । उच्यते । उद्वानसम्बन्धस्यापरिहार्यत्वात्, यस्योद्वायादित्यविवक्षितमेव प्राप्नोति । अदृष्टार्थत्वान्न, अनाकाङ्क्षितेन सम्बन्धः । तदुद्वानपरीतेऽग्नौ प्रायश्चित्तेन सम्बध्यमाने व्यापत्तौ सत्यामाकाङ्क्षितेन सम्बन्धो दृष्टार्थता च । तस्मादुद्वानपरीतोऽग्निः प्रायश्चित्तेन सम्बध्यत इति ।

दर्शपूर्णमासार्थमुद्धृतो यत्रानुगच्छति, तत्राग्निहोत्रस्य परकीयोऽग्निर्व्यापन्नः । परकीयं चोद्धरणमिति । तत्र प्रायश्चित्तं न स्यात् । अपि च लिङ्गं भवति । किमिति ? यस्याग्निरुद्धृतोऽग्निहोत्र इत्यनुवादः । विधौ ह्येतस्मिन् सति वाक्यभेदप्रसङ्गः । यद्यग्निहोत्रप्रयोजनमुद्धरणं, ततोऽकृतप्रयोजनमिति विवक्षायाम्, अहुतेऽग्निहोत्र इति वचनमनुवदितुमुपपद्यते । तस्मादग्निहोत्रप्रयोजन उद्धृतेऽनुगते प्रायश्चित्तं भवितुमर्हतीति । किं तर्हि तदा कर्तव्यम् ? अविशेषविहितमग्नेरुपगमे प्रसजयादिति ।।२८।।

भावार्थः—अग्निहोत्र के लिये उद्धृत अग्नि यदि शान्त हो जाय तो उसके लिये ज्योतिष्मती इष्टि कर अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिये । अर्थात् दर्श के लिये उद्धृत अग्नि शान्त हो जाय तो उसे पुनः प्रज्वलित करने के लिए ज्योतिष्मती इष्टि का अनुष्ठान नहीं करना होता । **'अतोऽग्निहोत्रार्थोद्धृतोद्वानस्य निमित्तस्य अभावात् नैमित्तिकी इष्टिर्न प्रवर्तते'** इस प्रकार न्यायमालाविस्तार में भी माधवाचार्य ने लिखा है ।।

---

१. 'कुर्वन्नाग्नि' इति पाठान्तरम् ।

[धार्याग्निनाशे ज्योतिष्मतीष्टेरनुष्ठानाधिकरणम् ।।७।।]

इदमाम्नायते—धार्यो गतश्रिय आहवनीय इति। अस्त्यग्निहोत्रस्यानुगमे प्रायश्चित्तम्—अग्नये ज्योतिष्मतेऽष्टाकपालं निर्वपेद्यस्याग्निरुद्धृतोऽहुतेऽग्निहोत्र उद्वायेद् इति।[1] तत्रैषोऽर्थः सांशयिकः। यदा धार्योऽग्निरनुगच्छति, तदा किमिदं प्रायश्चित्तं कर्तव्यं, नेति? किं प्राप्तम्? कर्तव्यमिति। उपसंप्राप्तं हि निमित्तम्। एतावदिह निमित्तम्। अग्निरग्निहोत्रार्थमुद्धृतोऽकृतप्रयोजन उद्वातीति। तच्चेह सर्वं प्राप्तम्। तस्मात् कर्तव्यं प्रायश्चित्तमिति।

ननु सर्वकर्मार्थमेतत्, न केवलायाग्निहोत्राय। उच्यते यद्धि[2] सर्वकर्मसमुदायार्थं तत्केवलस्यार्थे न भवतीत्युच्यते। यत्त्वेकैकस्मा इत्येवं सर्वार्थं तत्सर्वेभ्योऽपि प्रयुक्तमग्निहोत्राय प्रयुक्तं भवति। न चेदं सर्वकर्मसमुदायार्थम्। समुदायस्याचोदितत्वात् साधनानि प्रत्याकाङ्क्षाभावः। एकैकं तत्र कर्मोद्धरणमाकाङ्क्षति। तस्मात् सर्वार्थमपि सदग्निहोत्रार्थं भवति। एवं चेदनुगमनप्रायश्चित्तं प्राप्नोतीति। यथा, पर्युक्षणं परिसमूहनं तृणापचय इत्येवमादयः पदार्था धार्येऽग्नावहन्यहनि क्रियन्ते एवं प्रायश्चित्तमपि क्रियेत।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

धारणे च परार्थत्वात् ॥२९॥ (सि०)

धारणे च, गतश्रियोऽनुगमन इदं प्रायश्चित्तं न कर्तव्यम्। कुतः? परार्थत्वात्। न हि तदाऽग्निहोत्रार्थमुद्धरणं, यस्मिन् काले भवत्यसौ गतश्रीः। तत्रान्यार्थमुद्धृतोऽग्निः सर्वार्थं धार्यते उद्धरणं तु तदेकस्मा एवं प्रयोजनाय। धारणं तु सर्वकर्मार्थम्। न च धारणेऽग्निहोत्रार्थेऽनुगमने प्रायश्चित्तं विहितम्। किं तर्हि? उद्धरणे। परकीयं चात्रोद्धरणं, परार्थमुद्धरणम्। यदर्थमुद्धरणं तदर्थमुद्धृतेऽपि तत्प्रायश्चित्तम्। तस्मान्न तत्रेदं प्रायश्चित्तमिति ।।२९।।

धार्य अग्नि के उद्वान में प्रायश्चित्तरूप में ज्योतिष्मती अग्नि का अनुष्ठान नहीं करना, इस अधिकरण के सूत्र—

धारणे च परार्थत्वात् ।।२९।।

सूत्रार्थः—(च) और (धारणे) धार्यमाण अग्नि (परार्थत्वात्) सर्व कर्म के लिये होने से उसके उद्वान में ज्योतिष्मती इष्टि करनी चाहिये।

भावार्थः—आहवनीय यज्ञकुण्ड में से जो अग्नि लेने में आती है वह सर्व कर्म के लिए होने से अग्निहोत्र के लिए भी है ही, अतः जो वह अग्निहोत्र किये पूर्व ही बुझ जाय तो ज्योतिष्मती नाम की इष्टि करनी चाहिये ॥२९॥

---

१. 'उद्वायात्' इति पाठान्तरम्।

२. 'यदि सर्वकर्मार्थं, समुदायार्थं तत्, न केवलस्यार्थेन भवतीत्युच्यते' इति पाठान्तरम्

क्रियार्थत्वादितरेषु कर्म स्यात् ॥३०॥

अथ यदुक्तं, परिसमूहनं, पर्युक्षणमित्येवमादयः पदार्था धार्येऽपि क्रियन्ते, एवं प्रायश्चित्तमपीति । अत्रोच्यते । युक्तं तत्र परिसमूहनादीनि क्रियन्ते । चोदितानि हि तानि संस्कारार्थत्वेन, शक्यानि च, अकृतप्रयोजनानि च । उद्धरणं तु कृतप्रयोजनत्वान्निवृत्तम् । नियतदेशकालत्वाच्चाशक्यम् । तस्मादिदमतुल्यं प्रायश्चित्तेन ॥३०॥

—:०:—

[दर्शपूर्णमासार्थोद्धरणकालेऽग्निहोत्रार्थोद्धरणाङ्गमन्त्रानुष्ठानाधिकरणम् ॥८॥]

अस्त्यग्निहोत्रे, उद्धरणमन्त्रः—**वाचा त्वा होत्रा प्राणेनोद्गात्रा**, इत्येवमादिः । तत्रायमर्थः, सांशयिकः । यद् दर्शपूर्णमासार्थेनोद्धरणं क्रियते किं तत्रैष मन्त्रः कर्तव्यो वेति ? किं प्राप्तम् ? दर्शपूर्णमासार्थमप्युद्धृतेऽग्नावग्निहोत्रं हूयत एव । तत्र चेन्मन्त्रो न क्रियते, अमन्त्रोद्धृतेऽग्नौ होत्रं प्रवर्तते । तस्मान्मन्त्रेण तदुद्धरणं कर्तव्यम् । अथोच्येत । कालाभावे विगुणत्वादुद्धरणं नाग्निहोत्रस्येति । तन्न । कालमात्रं ह्यपगतम् । उद्धरणं तु विगुणमप्यग्निहोत्रस्य भविष्यतीति । एवं चेत् समन्त्रकं कर्तव्यमिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

न तूत्पन्ने यस्य चोदनाऽप्राप्तकालत्वात् ॥३१॥ (सि०)

क्रियार्थत्वादितरेषु कर्म स्यात् ॥३०॥

सूत्रार्थः—(क्रियार्थत्वात्) पर्युक्षण परिसमूहन आदि क्रिया के लिए होने से (इतरेषु कर्म स्यात्) अन्य में अनुष्ठान होता है ।

भावार्थः—आहवनीय में से जो अग्नि उद्धरण करने में आती है उसका निमित्त अग्निहोत्र नहीं, पर **'धार्यो गतश्रिय आहवनीयः' अथो ह वै गतश्रियः—ब्राह्मणः शुश्रुवान् ग्रामणी राजन्यः । श्रौतौ गौनमो भारद्वाजः'** इस कल्पसूत्र के आधार पर गतश्रीत्व धारण का निमित्त है । अग्निहोत्र निमित्त नहीं । अतः अग्निहोत्र किये पहले अग्नि का उद्वान हो जाय तो ज्योतिष्मती नामक इष्टि नहीं करनी चाहिये । 'निमित्ताभावात् नास्ति सेष्टिः' निमित्त-विना वह कर्त्तव्य नहीं, इस प्रकार श्री माधवाचार्य ने भी लिखा है । द्रष्टव्य—न्यायमाला-विस्तार का यह अधिकरण ॥३०॥

—:०:—

न तूत्पन्ने यस्य चोदनाऽप्राप्तकालत्वात् ॥३१॥

सूत्रार्थः—(उत्पन्ने) परार्थ उत्पन्न अग्नि में (यस्य चोदना) जो अग्निहोत्र का विधान है उसमें (न तु) मन्त्र नहीं बोलना (अप्राप्तकालत्वात्) भिन्न काल होने से ।

परार्थमुत्पन्नेऽग्नौ यस्याग्निहोत्रं प्रवर्तते चोदनेति कर्म ब्रूमः । न तत्र मन्त्रः कर्तव्य इति । न तदग्निहोत्रस्योद्धरणम् । अतः परकीय उद्धरणे न कर्तव्यमिति । उच्यते ननूक्तं, विगुणमुद्धरणमग्निहोत्रस्यैव भविष्यति, न गुणाभावे प्रधानाभावोऽपीति । अत्रोच्यते । न गुणः कालः । निमित्तमसौ भवतीत्येतदुक्तम् । अतो निमित्ताभावे क्रियमाणमश्रुतं कृतं भवति । तस्मान्न तदुद्धरणमग्निहोत्रस्येति । न चेदुद्धरणमग्निहोत्रस्य, तस्मादत्र मन्त्रो न कर्तव्यः । कृतोऽपि ह्यसावनर्थक इति ॥३१॥

—:o:—

[प्रायणीयेष्टौ पयसि प्रदेयधर्माननुष्ठानाधिकरणम् ॥९॥]

ज्योतिष्टोमे समाम्नायते—**आदित्यः प्रायणीयः पयसि चरुः इति** । तत्र सन्देहः । किं प्रदानार्थाः पयोधर्माः पयसि कर्तव्या उत नेति ? यदि प्रदानार्थमेतत् पयः, ततः कर्तव्याः । अथ श्रपणार्थं, न कर्तव्याः । कथं संशयः ? सप्तमीनिर्देशाच्छ्रपणार्थं पय इति गम्यते । देवतासम्बद्धस्य तु चरोरधिकरणे पयसि श्रूयमाणे वाक्यभेदाशङ्का । अतः संशयः ।

किं तावत् प्राप्तम् ?

प्रदानदर्शनं श्रपणे तद्धर्मभोजनार्थत्वात् संसर्गाच्च मधूदकवत् ॥३२॥ (पू०)

प्रदानार्थमिति । कथम् ? आदित्यश्चरुर्भवति । स च पयसीत्येवमनेकार्थविधाने वाक्यं भिद्येत । द्वावपि चेमावर्थावितो[1] वाक्यादवगम्येते । यद्यन्यतरदेतयोर्विधीयते, तदाऽन्यतरदविधीयमानं गम्यते । अतो न वाक्यभेदः । यथा च न वाक्यभेदस्तथाऽऽश्रयितव्यम् । तत्राधिकरणसम्बन्धे विधीयमाने देवतासम्बन्धानगतिर्नविकल्पेत, प्रमाणान्तरेणाप्राप्तत्वात् । देवतासम्बन्धे विधीयमाने हि ये निर्दिश्येते

भावार्थः—'अग्निहोत्रं वाचा त्वा होत्रा' इत्यादि नित्य उद्धरण के मन्त्र हैं । अब जिहोंने दर्शयाग के लिये उद्धरण किया हो उनके लिये उपर्युक्त मन्त्र नहीं बोलना । अमन्त्रक ही उद्धरण करना, कारण अग्निहोत्र और उद्धरण का समय भिन्न है ॥३१॥

—:o:—

'प्रायणीयचरु में प्रदान धर्मों का अनुष्ठान नहीं । इस अधिकरण के सूत्र पूर्वपक्ष—

प्रदानदर्शनं श्रपणे तद्धर्मभोजनार्थत्वात् संसर्गाच्च मधूदकवत् ॥३२॥

सूत्रार्थः—(श्रपणे) पयस् के श्रपण में (प्रदानदर्शनम्) देवता को उद्दिष्ट कर जैसे प्रदान देखने में आता है उसी प्रकार पयस् का भी प्रदान करने में आता है । (मधूदकवत्)

---

१. "चेहार्थौ' इति पाठान्तरम् ।

चरुपयसी, तयोर्निर्देशसामर्थ्याद्वाक्येन संसृष्टं गम्यते। तच्च देवतया सम्बध्यते। तत्रार्थात् पयआधारश्चरुर्भवति।

आह। वाक्येन द्वे चरुपयसी गम्येते। न तयोः संसर्गः। उच्यते। यदा द्वे गम्येते, तदा प्रयोगवचनेन यौगपद्यमेतयोर्गम्यते। तत्रार्थात् संसर्गः। एकत्वाच्च वाक्यस्य समुच्चयः। तेनात्र निर्देश एव विवक्षितो नाधिकरणसम्बन्धो गम्यमानोऽपि विधीयते। एवं नु निर्देशः क्रियते, संसृष्टे चरुपयसी कथं गम्येयातामिति। तत्र चरुसंसृष्टं पयश्चरौ त्यज्यमाने नियतं त्यज्यते। तदस्य प्रदानदर्शनं भवति। पयसा श्रप्यमाणस्य तस्य प्रदानं कथं स्यादिति सप्तमी निर्दिश्यते। तस्माद् भोजनार्थं यागार्थमेतत् पयः। भोजनमिति सारूप्याद्यागमाह। तस्माच्च पयः प्रदानार्थं पयोधर्मैः सम्बध्यते।

आह। न त्यागमात्रं यागः। देवतामुद्दिश्य यस्त्यागः स यागो भवति। उच्यते। अयमप्यदितिदेवतामुद्दिश्य त्यागः क्रियत इति। आह। न पयसोऽदितिर्देवता। न ह्युद्देशमात्रेण देवता भवति। या यस्य श्रूयते सा तस्य देवतेति। चरोश्चैषा श्रूयते, न पयसः। उच्यते। उभयस्य निर्देशात्। उभयेन देवता सम्बध्यते संसृष्टेन, मधूदकवत्। यथा, दधि मधु घृतं धाना उदकं तत्संसृष्टं प्राजापत्यमिति भवति। एवमेवेदं द्रष्टव्यम्। यद्यपि सप्तमीनिर्दिष्टं, सप्तम्यर्थस्याविधित्सितत्वान् निर्देशमात्रस्य विवक्षितत्वात्। यथौदने दधि दत्त्वाऽभ्यवहर्तव्यमिति, ओदनस्य निर्देशमात्रं विवक्ष्यते, नाधिकरणत्वम्। एवमिहापि द्रष्टव्यम्। तस्मात् प्रदानार्थं पयः। प्रदानार्थश्च पयोधर्माः कर्तव्या इति ॥३२॥

संस्कारप्रतिषेधश्च तद्वत् ॥३३॥

एवं च कृत्वा प्रदेयसंस्काराणां केषांचित् प्रतिषेध उपपन्नो भवति—**अयजुषा वत्सानपाकरोति, अपवित्रवति गां दोहयति** इति। प्राप्ते हि प्रतिषेधो न्याय्य इति ॥३३॥

अतः मधु और उदकवत् (संसर्गात्) मिलित होने से (भोजनार्थत्वात्) याग के लिए होने से (तद्धर्म) प्रदेय द्रव्य को जो धर्म कर्त्तव्य होते हैं वे धर्म प्रदेय पयस् के भी कर्त्तव्य हैं।

भावार्थः—ज्योतिष्टोम में इस प्रकार का श्रवण है—**'आदित्यः प्रायणीयः पयसि चरुः'**। इस वाक्य से जैसे चरु प्रदेय द्रव्य है, और उसी प्रकार पय भी प्रदेय द्रव्य है। ऐसा स्पष्ट समझते हैं। चरु का देवता जैसे आदित्य है, वैसे ही पय का देवता भी आदित्य है। अर्थात् देवता को उद्दिष्ट कर दोनों का त्याग कर्त्तव्य है, याग में त्याग आवश्यक होता है। अतः प्रदेय द्रव्य पय के जो धर्म वत्सापाकरण आदि हैं, वे भी कर्त्तव्य हैं ॥३२॥

संस्कारप्रतिषेधश्च तद्वत् ॥३३॥

सूत्रार्थः (च) और (संस्कारप्रतिषेधः तद्वत्) कई संस्कारों का भी प्रतिषेध है।

तत्प्रतिषेधे च तथाभूतस्य वर्जनात् ॥३४॥

तत्प्रतिषेधे—पयःप्रतिषेधे, तथाभूतमपि लोके वर्ज्यते । पयसा सिक्तं, पयः शृतं च । न चैष श्रपणार्थस्य[1] द्रव्यस्य धर्मः । यथा श्रपणार्थं[2] पानीयम् । तत्प्रतिषेधे, तैले पीते पानीयं न पातव्यमिति विलेप्यं यवागूश्च पीयते । न च यथाभूतस्य वर्जनात् पयो लोक एवं भवति । भोजनार्थं हि तत् । तथा हि लोके पयः, तद्वदिहापि भवितुमर्हतीति सामान्यतो दृष्टं व्यपदिष्टम् ॥३४॥

अधर्मत्वमप्रदानात् प्रणीतार्थे विधानादतुल्यत्वाद-संसर्गः ॥३५॥ (सि०)

अधर्मत्वं[3] तु पयसः । नास्य प्रदेयपयोधर्मा[4] भवेयुरित्यर्थः । कुतः ? अप्रदानात् । न हीदं प्रदीयते । ननु चरौ प्रदीयमाने प्रदायिष्यत इत्येवमर्थं पयसि श्रपणमुच्यते[5] । नेत्याह । शृतश्चरुः कथं स्यादित्येवमर्थं हि तज्ज्ञायते । शृतैस्तण्डुलैः

भावार्थः—कई एक प्रदेय द्रव्य के संस्कारों का भी प्रतिषेध है । इससे स्पष्ट होता है कि प्रदान के धर्म कर्त्तव्य हैं । जो कर्त्तव्य ही हों तो उनका निषेध भी न हो तो जैसे कि 'अयजुषा वत्सानपाकरोति' यजुष् मन्त्र द्वारा वत्सों का अपाकरण नहीं करना, यह वाक्य धर्म का निषेध बताता है ॥३३॥

तत्प्रतिषेधे च तथाभूतस्य वर्जनात् ॥३४॥

सूत्रार्थः—(च) और (तत्प्रतिषेधे) उस पय का जो प्रदेयत्व रूप में प्रतिषेध मानने में आवे तो (तथाभूतस्य वर्जनात्) पयोमिश्रित चरु द्रव्य का भी निषेध हो जाय ।

भावार्थः—जो पय में प्रदेयत्व का निषेध मानने में आवे तो पय में बनाये चरु का भी निषेध हो जाय । जैसे वैद्य किसी रोगी को दूध पीने के लिये मना करे तो उसे दूधवाले पदार्थ भी छोड़ने पड़ते हैं । इसमें दूध में पकाये चरु का भी निषेध हो जाता है । जो दूध अर्थात् पय में प्रदेयत्व का निषेध मानने में आवे तो । सिद्धान्त सूत्र—

अधर्मत्वमप्रदानात् प्रणीतार्थे विधानादतुल्यत्वादसंसर्गः ॥३५॥

सूत्रार्थः—(अधर्मत्वम्) प्रदेय द्रव्य धर्मत्व नहीं । (अप्रदानात्) पयस् विधि का विषय बनने से, कारण कि 'पयसि' यह सप्तमी विभक्ति है । जिसका विधान करना हो उसमें सप्तमी विभक्ति नहीं होती । (प्रणीतार्थे) प्रणीता के लिये (विधानात्) विधान होने से (अतुल्यत्वात्) तुल्य न होने से (असंसर्गः) संसर्ग नहीं ।

---

१. 'श्रपणार्थस्य' इति पाठान्तरम् । २. 'श्रपणार्थं' इति पाठान्तरम् ।
३. 'अधर्मकं तु पयः' इति पाठान्तरम् ।
४. 'प्रदेयधर्मा' इति पाठान्तरम् ।
५. 'श्रयणं' इति पाठान्तरम् ।

प्रयोजनमस्ति । य ह्यन्यथा चरुर्भवतीति । न तु प्रत्तेन पयसा नैतद् तथ्यं श्रूयते । कथम् ? प्रणीतार्थे विधानात् । ननु वाक्यभेद एवं भवतीति परिहापित एष पक्षः । संसृष्टमत्र हविर्भवतीत्युक्तम् । उच्यते । अतुल्यत्वादसंसर्गः । अतुल्ये चरुपयसी । प्रत्यक्षतोऽधिकरणत्वेन पयः श्रूयते । प्रदेयत्वेन चरुः । पयसो यद्वाक्येन प्रदेयत्वं गम्यते, तदधिकरणश्रुत्या बाध्यते । यत्तु वाक्यभेदप्रसङ्ग इति । तन्न । न हि पयसि चरुरिति सम्बन्धो भविष्यति । कथं तर्हि ? पयसि आदित्य इति । उभावादित्य-शब्देन संभन्त्स्येते । आदित्यः पयसि, आदित्यश्चरुरित्युभौ चरुपयःशब्दावादित्य-प्रधानावित्येकं वाक्यं भविष्यति, न वाक्यभेदप्रसङ्गः । पयआधार आदित्यो भविष्यति । तस्मान्न पयसि प्रदेयधर्मा भवितुमर्हन्ति ।।३५।।

परो नित्यानुवादः स्यात् ।।३६।।

अथ यल्लिङ्गमुक्तम्—अयजुषा वत्सानपाकरोति, अपवित्रवति गां दोहयति इति । नैतदेवं सति[1], अस्यार्थस्य साधकं भवति । किं तर्हि ? एतन्नित्यानुवादकम् । नित्यमेतमर्थं सन्तमनुवदति । नैवाप्रदेयत्वाद्यजुषा वत्सा अपाक्रियन्ते । न पवित्र-वति गौर्दुह्यते । ननु नित्यानुवादोऽनर्थकः । उच्यते । न वयं प्रयोजनवत्तामप्रयो-जनवत्तां वा विचारयामः । किमेतस्माद्वाक्याद् गम्यत इति परीक्षामहे । अस्माच्च वाक्यादिदं गम्यते, न यजुषा वत्सा अपाक्रियन्ते, न पवित्रवति गौर्दुह्यत इति । तच्चास्याप्रदेयत्वादप्राप्तं यजुः पवित्रं चेति ।।३६।।

विहितप्रतिषेधो वा ।।३७।।

अथवा, विहितस्यैव प्रतिषेधो द्रष्टव्यः । विहितं केषांचित्, यजुषा वत्सान-पाकरोति, पवित्रवति गां दोग्धीति । तस्य प्रतिषेधोऽर्थवानेव भवतीति ।।३७।।

भावार्थः—पयसि चरुः यहां चरु तो प्रथमान्त होने से विधेय नहीं बन सकता । उसी प्रकार 'दधि मधु घृतमापो धानाः' इत्यादि की भाँति संसर्ग भी नहीं, कारण कि दृष्टान्त में सभी प्रथमान्त हैं, जब कि दार्ष्टान्तिक पयस् में सप्तमी विभक्ति लगी है और उससे पयस् चरु का अधिकरण है, यह समझ में आता है ।।३४।।

परो नित्यानुवादः स्यात् ।।३६।।

सूत्रार्थः—(परः) अन्य (नित्यानुवादः स्यात्) नित्य विधि का अनुवाद है ।

भावार्थः—'अयजूषा वत्सानपाकरोति' इस वाक्य से वत्सापाकरण का निषेध प्रतीत होता है, यह तो मात्र अर्थवाद है ।।३६।।

विहितप्रतिषेधो वा ।।३७।।

सूत्रार्थः—(वा) अथवा (विहितप्रतिषेधः) शाखान्तर में जो विहित हैं उनका प्रति-षेध है ।।३७।।

---

१. 'सत्यस्यार्थस्य' इति पाठान्तरः ।

वर्जने गुणभावित्वात्तदुक्तप्रतिषेधात् स्यात् कारणात् केवलाशनम् ॥३८॥

अथ यदुक्तम्—पय प्रतिषेधे, पयसा सिक्तं, पयसा संसृष्टं च वर्ज्यत इति। तत्र ब्रूमः। युक्तं हि लोके यत्संसृष्टस्य वर्जनं, तदेव हि तत्र प्रतिषिध्यते। नित्यं ह्यु पसर्जनीभूतं भोजने पयः प्रचरति। यच्च प्रचरति, तत्प्रतिषेधोऽर्थवान्। यन्न प्रचरति, तस्य ह्यप्रसङ्गात् प्रतिषेधोऽनर्थकः। ननु केवलमपि लोके पय उपभुज्यते। उच्यते। कारणात् केवलाशनं, व्रतमौषधं वा यस्य स केवलमुपयुङ्क्ते। न त्वेतत् प्रचुरम्। तस्मात् प्रायेण गुणभूतत्वात् पयसः पयोयुक्तमेव न भक्षयितव्यमित्येवमर्थः पयःप्रतिषेध उच्यते ॥३८॥

व्रतधर्माच्च लेपवत् ॥३९॥

अथ कस्मान्नायमन्यः परिहार उच्यते। व्रतवदेतद् द्रष्टव्यमिति। यथा, ब्रह्मचारिणा मांसं न भक्षयितव्यमित्युक्ते दर्विगतमपि लेपं वर्जयन्ति, एवमिहापि पयो न पातव्यमित्युक्ते पयसः सिक्तं पयसा संसृष्टं वर्जयिष्यन्तीति ॥३९॥

रसप्रतिषेधो वा पुरुषधर्मत्वात् ॥४०॥

भावार्थः—शाखान्तर में 'यजुषा वत्सानपाकरोति' ऐसा विधान है, उसका उक्त स्थल में प्रतिषेध है, ऐसा समझा जाता है। अतः प्रधानधर्मों का अनुष्ठान कर्त्तव्य नहीं ॥३७॥

वर्जने गुणभावित्वात् तदुक्तप्रतिषेधात् स्यात् कारणात् केवलाशनम् ॥३८॥

सूत्रार्थः—(तदुक्तप्रतिषेधात्) 'पयो वा भुङ्क्ष्व' ऐसा प्रतिषेध होने से (वर्जने) पयः संसृष्ट अन्न वर्जन में (गुणभावित्वात्) अप्रधान होने से (कारणात्) इस कारण के लिये (केवलाशनम्) केवल ओदन का अशन हो सकता है।

भावार्थः—तुम दूध का सेवन मत करो, ऐसा प्रतिषेध किसी रोगी को वैद्य ने किया हो तो दूधयुक्त भात का भी निषेध हो सकता है कारण कि दूध भोजन में गौणवस्तु है और भात मुख्य है। अतः विना दूध केवल भात का भोजन हो सकता है, परन्तु दृष्टान्त में चरु दूध में ही रांधने का विधान है। इसलिये यह ओदन रूप चरु दूध में से पृथक् नहीं हो सकता इस कारण से चरु के साथ 'पयो मा भुङ्क्ष्व' का जो दृष्टान्त दिया है वह अनुचित है ॥३८॥

व्रतधर्माच्च लेपवत् ॥३९॥

सूत्रार्थः—(च) और (व्रतधर्मात्) व्रत धर्म होने से (लेपवत्) लेप की भांति।

भावार्थः—ब्रह्मचारी के लिये मधु और मांस आदि त्याज्य हैं। अब जो-जो मधु के लेपवाला या मांस के संसर्गवाला पदार्थ खाये तो उसके व्रत का लोप हो जाता है, उसी प्रकार अप्रदेय पय के संसर्गवाले चरु के देने में भी अदृष्ट का लोप होना चाहिये ॥३९॥

रसप्रतिषेधो वा पुरुषधर्मत्वात् ॥४०॥

न त्वेष परिहारः। परिहारान्तरनिवृत्त्यर्थो वाशब्दः। कुतः? पुरुषधर्मत्वाद् व्रतस्य। अदृष्टार्थं ब्रह्मचारिणो मांसाभक्षणम्। तत्र तावदपि यो भक्षयति, यावति मांसरसमात्रं[1] विदितं भवति तस्यापि दोषः, न श्लेष्मप्रकोपादि किंचिद् दृष्टमपेक्षते। न तु पयःप्रतिषेधे तथा। तस्मात् पूर्व एव परिहार इति ॥४०॥

—:०:—

[अभ्युदितेष्टौ दधिशृतयोः प्रदेयधर्मानुष्ठानाधिकरणम् ॥१०॥]

इदं समाम्नायते—वि वा एनं प्रजया पशुभिरर्धयति, वर्धयत्यस्य भ्रातृव्यं, **यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति, स त्रेधा तण्डुलान् विभजेद्, ये मध्यमास्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्, ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुं, येऽणिष्ठास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम्** इति। शृते चरुं, दधंश्चरुमित्येतदुदाहरणम्। तत्रैषोऽर्थः सांशयिकः। किं शृते दधनि चेज्यार्थाः पयोधर्माः कर्तव्या उत नेति? किं प्राप्तम्? न कर्तव्या इति। कुतः? अप्रदानार्थत्वात्। प्रणीतार्थे विधानादतुल्यत्वाच्च चरुणा न संसर्ग इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

अभ्युदये दोहापनयः स्वधर्मा स्यात् प्रवृत्तत्वात् ॥४१॥ (सि०)

सूत्रार्थः—(वा) अथवा (रसप्रतिषेधः) रस का प्रतिषेध है। पुरुष (धर्मत्वात्) पुरुष का धर्म होने से।

भावार्थः–पुरुष का धर्म राग है। इस राग से पुरुष मधु का (मदिरा का) उपयोग करता है। अतः पदार्थ में जब ब्रह्मचारी को मधु के रस का ज्ञान हो जाय, इसलिये लेप का निषेध है। मधु का किसी भी पदार्थ के साथ संसर्ग होना, इसमें कारण पुरुष की भूख है परन्तु चरु में जो पयस् का सम्बन्ध है वह तो शास्त्र प्राप्त है। शास्त्र प्राप्त संयोग का निषेध नहीं हो सकता। अतः उसमें **'प्रणीताधर्मा उत्पवनादयस्तत्र कर्त्तव्याः'** प्रणीता के धर्म उत्पवन आदि कर्त्तव्य हैं। वत्सापाकरण आदि प्रदेय धर्मों का अनुष्ठान कर्त्तव्य नहीं ॥४०॥

—:०:—

अभ्युदय इष्टि में दधि और शृत में प्रदेय धर्मों का अनुष्ठान करना होता है। इस अधिकरण के सूत्र—

अभ्युदये दोहापनयः स्वधर्मा स्यात् प्रवृत्तत्वात् ॥४१॥

सूत्रार्थः=(अभ्युदये) चन्द्रोदय निमित्तक अभ्युदय इष्टि में (दोहापनयः) दधिशृत रूप द्रव्य में से पूर्व देवता का विभाग और अन्य देवता के सम्बन्ध का विधान है।

---

१. 'मांसमात्रं' इति पाठान्तरम्।

अभ्युदये निमित्ते योऽयं दोहो देवताया अपनीतः स स्वधर्मा स्यात्। इज्यार्थश्च तत्र पयोदधिधर्माः कर्तव्याः। कुतः? इज्यार्थमेव हि तत्पयो दधि च प्रवृत्तम्। यतश्चेज्यार्थम्, अतोऽस्येज्यार्थाः प्रवृत्ता एव धर्माः। तद्धर्माणां प्रवृत्तावस्ति कारणं निवृत्तौ नास्ति। ननु प्रणीतार्थे दधिपयसी विधीयेते। नेत्याह। वाक्यं हि तदा भिद्येत। चरौ देवतार्थे, चर्वर्थयोश्च दधिपयसोः।

आह। ननु चरोरपि देवतासम्बन्धो दधिपयसोरपि तथा। न भविष्यति वाक्यभेद इति। नैवं शक्यम्। विभागः कर्तव्य इति पूर्ववाक्यं वृत्तम्, त्रेधा तण्डुलान् विभजेदिति। तदनन्तरं विभागविशेषपरमिदं भवति वाक्यम्। ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुं, येऽणिष्ठास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुमिति। अत्राविशेषाद्दधिपयसोरपि विभागो वक्तव्यः। यदि च दधिपयसी विभक्तव्ये सति प्रणीतार्थे अप्युच्येयातां, ततो भिद्येत वाक्यम्। अतो नैतयोः प्रणीतार्थे विधानम्।

अविधीयमाने च सप्तम्यर्थे प्रातिपदिकार्थो देवतया सम्भन्त्स्यते। वाक्यसामर्थ्यादुभे च दधिपयसी देवतया सम्भन्त्स्येते चरुणा सह। दधनि चरुरेको भाग इन्द्राय प्रदात्रे भवतीति। यथा विभज्यमानेषु नानाद्रव्येषूच्येत रुक्मपात्र्यां समाहार्या मणयः। एको भागो देवदत्तस्य। रजतपात्र्यां सुवर्णं निहितम्। अपरो भागो विष्णुमित्रस्येति, सह पात्रीभ्यां द्वौ भागौ गम्येते। विभागविशेषपरत्वाद्वाक्यस्य। पात्र्योश्च विभक्तत्वादनुवादश्च[1] सप्तम्यर्थो गम्यते। एवमिहापि विभागपरत्वादेव वाक्यस्य, विभक्तत्वाच्च दधिपयसोरेको भाग इति गम्यते। अर्थप्राप्तत्वाच्च सप्तम्यर्थोऽनुवादो भविष्यति। तस्मात् प्रदानार्थे दधिपयसी। प्रदानार्थाश्च दधिपयसोर्धर्माः कर्तव्याः ॥४१॥

शृतोपदेशाच्च ॥४२॥

इतश्च प्रदानार्थे दधिन पयसि चेज्यार्था धर्माः कर्तव्या इति। कुतः? सिद्धवच्छृतोपदेशो भवति। शृते चरुं, दधंश्चरुमिति। स सत्सु धर्मेषूपपद्यते। इतरथा

(प्रवृत्तत्वात्) याग के लिये पूर्व से दधि और पयस् प्रवृत्त होने से (स्वधर्मा स्यात्) प्रदेय द्रव्य धर्मवाले अपनय होते हैं।

भावार्थः—अभ्युदय इष्टि में शृत अर्थात् पाकाश्रय पयस् और दधि इन दोनों में से ही पूर्व देवता का विभाग और अन्य देवता का सम्बन्ध जोड़ने में आता है ॥४१॥

शृतोपदेशाच्च ॥४२॥

सूत्रार्थः—(च) और (शृतोपदेशात्) शृत—पाकाश्रय इस प्रकार निर्देश होने से।

भावार्थः—शृत अर्थात् पाक का जो आश्रय हो तो वह। ऐसे सिद्धवत् जो निर्देश हैं

---

1. 'तदनुवादश्च' इति पाठान्तरम्।

श्रपणं[1] न क्रियेतेति। तत्र सिद्धवच्छृतोपदेशो नावकल्पेत। तस्मादपि पश्याम इज्यार्था दधिपयसोर्धर्माः कर्तव्या इति ॥४२॥]

—:०:—

[पशुकामेष्टौ दधिशृतयोः प्रदेयधर्माननुष्ठानाधिकरणम् ॥११॥]

अस्ति पशुकामेष्टिः, यः पशुकामः स्यात् सोऽमावास्यामिष्ट्वा वत्सानपाकुर्यात्। ये क्षोदिष्ठास्तानग्नये सनिमतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्, ये मध्यमास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुं, ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुमिति। शृते चरुं, दधंश्चरुमित्येतदुदाहरणम्। अत्र सन्देहः। किं शृते दधनि चेज्यार्था दधिपयोधर्माः कर्तव्या उत नेति? किं प्राप्तम्? पूर्वेणाधिकरणेन कर्तव्या इति। समाना हि श्रुतिर्भवतीति। सिद्धवच्च शृतोपदेशः सत्सु प्रदानार्थेषु धर्मेषूपपद्यते।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

अपनयो वाऽर्थान्तरे विधानाच्चरुपयोवत् ॥४३॥ सि०

अपनयो वा धर्माणां भवेत्। अर्थान्तरे ह्येतत् पयो विधीयते दधि च श्रपणार्थे न प्रदानार्थे। सप्तमीसंयोगात्। चरुपयोवत्। यथा प्रायणीये चरौ पयसि प्रदेयधर्मा न क्रियन्ते, सप्तमीसयोगात्। एवमिहापि ॥४३॥

लक्षणार्था शृतश्रुतिः ॥४४॥

अथ यदुक्तं सिद्धवच्छृतोपदेशो भवतीति। नैष दोषः। श्रयणेन द्रव्यं लक्ष-

---

वे प्रदेय धर्म में ही घट सकते हैं। अतः दही और पाकाश्रय पयस् में अभ्युदेय के समय इष्टि के धर्म करने उचित हैं ॥४२॥

—:०:—

पशुकामेष्टि में दही और शृत में प्रदेय धर्मों का अनुष्ठान नहीं होता। इस अधिकरण के सूत्र—

अपनयो वा अर्थान्तरे विधानाच्चरुपयोवत् ॥४३॥

सूत्रार्थः—(चरुपयोवत्) चरु और पयस् की भांति (अर्थान्तरे विधानात्) श्रपण रूप कार्यान्तर में विधान होने से (अपनयः) इज्या के धर्म का अभाव है।

भावार्थः—'आदित्यः प्रायणीयः पयसि चरुः' यहाँ जैसे पयस् में प्रदेय धर्मों का अनुष्ठान नहीं होता उसी प्रकार पशुकामेष्टि में दही और शृत में इज्या के धर्म कर्त्तव्य नहीं कारण कि उनका उपयोग श्रपण में होता है।

---

१. 'श्रयणं' इति पाठान्तरम्।

यिष्यति । अर्थप्राप्तं हि चरौ श्रयणं तत्सम्बद्धं लक्ष्यते । श्रयणत्वति द्रव्ये चरुरिति । तस्मात् प्रदेयधर्मा न भवेयुरिति ॥४४॥

—:०:—

[ज्योतिष्टोमे श्रयणार्थेषु पयआदिषु प्रदेयधर्माननुष्ठानाधिकरणम् ॥१२॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति, सक्तुभिर्मन्थिनं, धानाभिर्हारियोजनं, हिरण्येन शुक्रम्, आज्येन पात्नीवतम् । तत्र संशयः । किं श्रयणानां प्रदेयधर्मा भवन्ति, उत नेति । कुतः संशयः ? यदि प्रदेयानि श्रयणानि, तत एषु प्रदेयधर्मा भवन्ति, अथ न प्रदेयानि, न भवन्तीति । किं प्राप्तम् ?

श्रयणानां त्वपूर्वत्वात् प्रदानार्थे विधानं स्यात् ॥४५॥ (पू०)

प्रदेयानि[1], प्रदेयधर्मैः सम्बध्येरन्निति । श्रयणाद्धि द्रव्यं जायते । पयोमिश्रश्च सोमो भवति संमिश्रे च हूयमाने पयोऽपि होमेन सम्बध्यते । यदि पयोमिश्रश्च सोमो भवति तत्र सोमस्य पयसा मिश्र्यमाणस्य न कंचिदुपकारं पश्यामः । यागस्य तूपकारो भवति निर्वृत्तिर्नाम । यदि होमेन सम्भन्तस्यत इति मिश्रणाभिप्रायः । तत् उपकारकं मिश्रणं दृष्टेनोपकारेण । श्रुतो हि गुणवान् यागः प्रत्यक्षः पयसा निर्वर्त्यत इति । सोमोपकारः कल्प्यः स्यात् । तस्मात् पयसा सोमो मिश्र्यते । स मिश्रितः प्रयोगवचनेन कथं संबध्यत इति । न च प्राकृतं मिश्रणं केनचिद् द्रव्येण प्राप्तम् । यत्रेदं द्रव्यान्तरं पयो विधीयत इति । अपूर्वत्वात् सोमस्य । तस्मात् प्रदानार्थस्य पयसो विधानं स्यात् । प्रदेयपयोधर्माश्चात्र कर्तव्या इति ॥४५॥

गुणो वा श्रयणार्थत्वात् ॥४६॥ (सि०)

ज्योतिष्टोम में प्रदेय धर्मों का अनुष्ठान नहीं, इस अधिकरण के सूत्र—

श्रयणानां त्वपूर्वत्वात् प्रदानार्थे विधानं स्यात् ॥४५॥

सूत्रार्थः—(श्रयणानां तु) पयः आदि श्रयणों का (प्रदानार्थे विधानं स्यात्) याग के लिये विधान है (अपूर्वत्वात्) अपूर्व कर्म होने से ।

भावार्थः—'पयसा मैत्रावरणं श्रीणाति' यहां पय में इज्या धर्म कर्त्तव्य है। उक्त वाक्य में सोम के साथ पयस् का मिश्रण करना बताया है। सोम प्रदेय है, अतः पयस् में सोम का जो क्रय आदि धर्म हैं वह पय में भी कर्त्तव्य है ॥४५॥

गुणो वा श्रयणार्थत्वात् ॥४६॥

सूत्रार्थः—(वा) अथवा (गुणः) सोमरस का गुणभूत पय है (श्रयणार्थत्वात्) पयस् का उपयोग श्रयण अर्थात् मिश्रण के लिये है ।

---

१. 'प्रदेयानि श्रयणानि' इति पाठान्तरम् ।

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। गुणभूतं पयः स्यात् सोमस्य, न प्रदेयद्रव्यम्। प्रदेयत्वेनाश्रवणात्। सोमार्थेन च श्रुतत्वात् ॥४६॥

अनिर्देशाच्च ॥४७॥

न होमेन प्रयोगवचनेन वाऽस्य सम्बन्धः। अनिर्देशः परार्थत्वात्। न च प्रत्यक्षेणापि पयस्त्यागे यागनिर्वृत्तिः पयसा। प्रत्यक्षदेवतासम्बद्धो हि त्यागो यागः। न चात्र पयसो देवतासम्बन्धः। मैत्रावरुणं ग्रहं गृह्णातीति वचनं, न मैत्रावरुणं पय इति। तस्माद् दृष्टोपकाराभावाददृष्टः सोमसंस्कारोऽभ्युपगम्यते। तस्मान्न प्रदेय-धर्मैः सम्बध्यत इति ॥४७॥

श्रुतेश्च तत्प्रधानत्वात् ॥४८॥

इतश्च सोमार्थं पयः। कुतः? श्रुतिर्हि सोमप्रधाना भवति। द्वितीयाविभक्तिः श्रूयते। तस्माच्छ्रूयणेन सोम एवेप्स्यत इति ॥४८॥

अर्थवादश्च तदर्थवत् ॥४९॥

अर्थवादश्च श्रयणश्च सोमार्थस्य भवति। स मित्रोऽब्रवीत्, पयसैव मे सोमं

भावार्थः—सोमरस प्रधान है, पयस् गौण है। कारण कि दूध तो केवल मिश्रण के लिये है।

अनिर्देशाच्च ॥४७॥

सूत्रार्थः—(च) और (अनिर्देशात्) पयस् देवता के साथ निर्देश नहीं।

भावार्थः—मैत्रावरुण—यह सोम का विशेषण है। और इससे सोम द्रव्य का मित्र और वरुण के साथ का सम्बन्ध ज्ञात होता है। पयस् के साथ किसी देवता का सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता, अतः पयस् गौण है, इससे उसमें प्रदेय के धर्म कर्त्तव्य नहीं ॥४७॥

श्रुतेश्च तत्प्रधानत्वात् ॥४८॥

सूत्रार्थः—(च) और (श्रुतेः) द्वितीया विभक्ति की श्रुति होने से (तत्प्रधानत्वात्) सोम की प्रधानता स्पष्ट होती है।

भावार्थः—'पयसा सोमँ श्रीणाति' यहाँ द्वितीया विभक्ति सोम के लिये है, पयस् के साथ तो तृतीया विभक्ति है। द्वितीया विभक्ति प्रधानता सूचित करती है, अतः सोम ही प्रधान है, पयस् नहीं। अतः सोम ही प्रदेय है पयस् नहीं। इससे पयस् में प्रदेय के धर्म, जो क्रय आदि हैं वे कर्त्तव्य नहीं ॥४८॥

अर्थवादश्च तदर्थवत् ॥४९॥

सूत्रार्थः—(च) और (अर्थवादः) अर्थवाद भी (तदर्थत्वात्) सोम की प्रधानता सूचित करता है।

श्रीणन् इति। न हि भवति पयो मे दद्युरिति। कथं तर्हि? सोमं पयसा संस्कुर्युरिति। तस्मादपि सोमार्थं श्रयणम् ॥४९॥

संस्कारं प्रति भावाच्च तस्मादप्यप्रधानं स्यात् ॥५०॥

संस्कारं प्रति श्रयणवचनं भवति। यत्र संस्काराः श्रूयन्ते तत्रेदं श्रूयते, पयसा मैत्रावरुणं श्रीणातीत्येवमादि। तस्मात् संस्कारप्राये श्रवणादयमपि संस्कार एवेति गम्यते। भवति हि प्रायोवृत्त्या तद्बुद्धिः। यथाऽग्रचप्राये लिखितोऽग्रच इति गम्यते। तस्मात् प्रदेयधर्मैर्न सम्बध्यत इति। ५०॥

—:०:—

[परस्वद्यागे पर्यग्निकरणान्ताङ्गरीतिविधानेन तदुत्तराङ्गप्रतिषेधाधिकरणम् ॥१३॥]

अश्वमेधे समामनन्ति—**ईशानाय परस्वत आलभेत** इति। तत्प्रकृत्य श्रूयते—**पर्यग्निकृतानारण्यानुत्सृजन्ति** इति। तत्र संशयः। किमारण्यानामालम्भ उत्सर्गार्थो[1] एव, द्रव्योत्सर्गश्चायं, किं कर्मशेषप्रतिषेधः, पर्यग्निकरणान्तः संस्कृता उत्स्रष्टव्या इति। किं प्राप्तम्?

पर्यग्निकृतानामुत्सर्गे तादर्थ्यमुपधानवत् ॥५१॥ (पू०)

भावार्थः—'पयसैव मे सोमं श्रीणातु' यह अर्थवाद वाक्य है इसमें भी सोम की प्रधानता और पयस् की अप्रधानता प्रतीत होती है। जो पयस् सोम तुल्य होता तो 'पयो मे देहि' ऐसे वरदान की याचना वाला अर्थवाद होता। इससे भी स्पष्ट होता है कि पयस् में प्रदेय के धर्म कर्त्तव्य नहीं ॥४९॥

संस्कारं प्रति भावाच्च तस्मादप्यप्रधानं स्यात् ॥५०॥

सूत्रार्थः—(संस्कारं प्रति) संस्कार के लिये (भावात्) होने से (तस्मात् अपि) इससे भी (अप्रधानं स्यात्) पयस् अप्रधान है।

भावार्थः—पयस् तो सोम के संस्कार के लिये है, याग के लिये नहीं। इसलिये कि पयस् तो प्रदेय द्रव्य सोम का संस्कार द्रव्य है, इससे वह अप्रधान है। अतः इसमें प्रदेय के धर्म कर्त्तव्य नहीं ॥५०॥

—:०:—

अश्वमेध में ईशानाय परस्वतः' इस वाक्य से यागान्तर का विधान है।

इस अधिकरण के सूत्र—

पर्यग्निकृतानामुत्सर्गे तादर्थ्यमुपधानवत् ॥५१॥

सूत्रार्थः—(पर्यग्निकृतानाम्) पर्यग्निकृत परस्वतों को (उत्सर्गे) छोड़ देने से (तादर्थ्यम्) उसके लिये होता है (उपधानवत्) चरु के उपधान की भांति।

---

१. 'उत्सर्गार्थाः एवं' इतिपाठान्तरम्।

द्रव्योत्सर्गोऽयम्, आलम्भश्चोत्सर्गार्थी एवेति। कुतः ? एवमुत्सर्गमप्राप्तं विदधत्तस्य सतां ब्रुवन् श्रुत्या वक्ष्यति। इतरथा, उत्सर्गं प्राप्तमनुवदेत्। वाक्यार्थस्य प्रतिषेधस्य सत्तां ब्रूयात् प्रत्ययः। श्रुतिश्च वाक्याद् बलीयसी। एवं च सति देवतासम्बन्धो ग्रहणे। ईशानमुद्दिश्य परस्वन्त आलब्धव्याः। पर्यग्निकरणं कृत्वा त्यक्तव्या इति। उपधानवत्। यथा, एतत् खलु साक्षादन्नं, य एनं चरुमुपदधातीत्युपधानार्थमेव चरोरुपादानम्। एवमिहाप्युत्सर्गार्थी एवाऽऽलम्भो भविष्यति ॥५१॥

शेषप्रतिषेधो वाऽर्थाभावादिडान्तवत् ॥५२॥ (सि०)

कर्मशेषप्रतिषेधो वाऽस्मिन् वाक्य उच्यते। कुतः ? अर्थाभावात्। ईशानाय परस्वत आलभेत, इत्यस्य वाक्यस्य न कश्चिदर्थो भवेद् यद्युत्सर्गार्थी आलम्भः स्यात्। कथम् ? आलम्भकाल एवाध्वर्युर्जानीयात्, नेम ईशानाय दास्यन्त इति। तस्यैवं जानतो नैवं संकल्पो भवति, ईशानाय दातुं ग्रहीतव्या[1] इति। अशक्यार्थत्वादनर्थकमिदं वाक्यं भवति। स एष संकल्प एवमवकल्पते, यदीशानाय दातव्याः। तस्मादालम्भवचनेन शब्देन दानमेव विधीयत इति गम्यते। यदा च दानं विधीयते, तदा—पर्यग्निकृतानुत्सृजन्तीति, उत्सर्गमनूद्य, एवमुत्सृजन्तीति विशेषविधानार्थं भवति शास्त्रम्।

कथं पुनरत्र विशेषो विधीयते, किंकालः पर्यग्निकरणे। एतस्मिन् काल उत्सृजन्तीति। नेत्याह। नात्र कालवचनः शब्दः श्रूयते। काले च विधीयमाने कालान्तरं प्रतिषिध्यते, नाङ्गान्तराणि। अथ किं पर्यग्निकरणवदुष्टव्यमिति। तदपि नास्ति। न ह्यत्र पर्यग्निकरणभावना कीर्त्यते। तस्यां च सत्यां पर्यग्निकरणात् प्राञ्चः पराञ्चश्च पदार्थाः सर्वे प्रतिषिध्येरन्। कथं तर्हि निर्वृत्ते पर्यग्निकरण उत्स्रष्टव्य इति ? किमेतस्यामवस्थायामिति ? नेत्याह। चोदकादेवैतत्

भावार्थः—अश्वमेध प्रकरण में इस प्रकार वाक्य है—'ईशानाय परस्वतः आलभते, तां पर्यग्निकृतमुत्सृजति' यहाँ परस्वत् शब्द वन्य पशु विशेष का वाचक है। परस्वत् को अग्नि के पास लाकर उसे छोड़ देना, अर्थात् उसका उत्सर्ग करना। उसका त्याग अर्थात् किसी को दान में नहीं देना। जैसे 'चरुमुपदधाति' चरु का उपधान करने में आता है, उसी प्रकार 'पर्यग्निकृतमुत्सृजति' पर्यग्नि हुये परस्वत् का उत्सर्ग करना ॥५१॥

शेषप्रतिषेधो वार्थाभावादिडान्तवत् ॥५२॥

सूत्रार्थः—(वा) सिद्धान्त सूत्र है (शेषप्रतिषेधः) पर्यग्नि किये पीछे प्राकृत अंग का प्रतिषेध है (अर्थाभावात्) कर्त्तव्य अर्थ न होने से (इडान्तवत्) आतिथ्य में इडान्त कर्म जैसे अन्य का निवर्त्तक है, वैसे।

---

१. 'गृह्णमिति' इति पाठान्तरम्।

प्राप्तम्। एतदवस्थः पशुरुत्सर्जनीय इति। अवस्थान्तरप्रतिषेधस्य च नायं शब्दो वाचकः। चोदकप्राप्ते हि काल उत्सृज्यमाने कृतपर्यग्निकरण एवासौ भवति। यदि त्ववस्थायाः प्रतिषेधः स्यात्, पर्यग्निकरणादूर्ध्वमुत्सर्गात् प्राक् पदार्थाः प्रतिषिध्येरन् न पराञ्चः।

कस्तर्ह्यर्थः। पर्यग्निकरणे कृते यादृशो भवति तादृशस्त्याज्य इति। ननु चोदकेनैव तदङ्गोऽसौ प्राप्तः। उच्यते पुनरस्यैतदङ्गवत्ता श्रूयते, अङ्गान्तरपरिसंख्यार्थम्। एतैरेवाङ्गैरङ्गवानुत्स्रष्टव्यः। एवं चोदकप्राप्तानि परिसंख्यायन्ते नान्यान्यङ्गानि भवन्तीति। कथमेष शब्द एवं परिसंख्यातुं शक्नोतीति चेत्। शक्नोतीति ब्रूमः। कथम्? प्रत्यक्षेण वाक्येन तैरङ्गैर्निराकाङ्क्षीकृते प्रधाने शेषैरङ्गैः सह चोदकेन परोक्षा सत्येकवाक्यता न भविष्यतीति। तस्मात् कर्मशेषप्रतिषेध इति ॥५२॥

पूर्ववत्त्वाच्च शब्दस्य संस्थापयतीति चाप्रवृत्ते नोपपद्यते ॥५३॥

पूर्ववांश्च भवति शब्दो यागप्रवृत्तिपूर्वकः। आज्येन शेषं संस्थापयतीति। यदि याग एष प्रारब्धस्ततः संस्थापयतीति समाप्तिसादृश्यादुपपद्यते। यागस्य हीदं यागान्तरं समाप्त्या सदृशम्। यदि हि पूर्वो न यागः प्रवृत्तः स्यादुत्सर्गमात्रं, न तस्य यागः समाप्त्या सदृशः। तत्र संस्थापयतीति नोपपद्यते। तस्मादपि शेषकर्मप्रतिषेधः ॥५३॥

प्रवृत्तेर्यज्ञहेतुत्वात् प्रतिषेधे संस्काराणामकर्म स्यात् तत्कारित्वाद् यथा प्रयाजप्रतिषेधे ग्रहणमाज्यस्य ॥५४॥

इदं प्रयोजनसूत्रम्। यदि द्रव्योत्सर्गो विधीयते ततः संस्काराणामकर्म स्यात्। कुतः? संस्कारप्रवृत्तेर्यज्ञहेतुत्वात् तत्प्रतिषेधे यज्ञाभावे, किमिति संस्काराः

भावार्थः—आतिथ्य में इडान्त कर्म अन्य प्राकृत कर्त्तव्य का निषेध करता है, उसी प्रकार पर्यग्निकृत कर्म किये पीछे अन्य कोई विधेय अंश न रहने से उक्त दो वाक्यों में उत्तर वाक्य निष्फल हो जाता है ॥५२॥

पूर्वत्वाच्च शब्दस्य संस्थापयतीति चाप्रवृत्तेनोपपद्यते ॥५३॥

सूत्रार्थः—(च) और (शब्दस्य पूर्वत्वात्) पूर्व शब्द यज्ञ सूचक होने से (संस्थापयति इति) समाप्ति सूचक शब्द भी होने से (अप्रवृत्ते न च) जो पूर्वयाग प्रवृत्त न होता तो (उपपद्यते) उत्सर्ग मात्र हो सकता।

भावार्थः—पूर्व जो वाक्य बताये हैं उनमें पहला वाक्य याग का प्रतिपादन करता है, कारण कि उसमें द्रव्य और देवता का उल्लेख है। द्रव्य और देवता यही स्वरूप हैं तो अन्य वाक्य भी याग का सूचक है कारण कि उसमें द्रव्य की सूचना है ॥५३॥

क्रियेरन्। यज्ञकारिता हि ते। यथा प्रयाजाभावे तदर्थमाज्यं न गृह्यते, ग्रहणमाज्यस्य न क्रियते। अप्रयाजास्ता अननुयाजा इति यत्र श्रूयते, तत्र प्रयाजाभावे तदर्थमाज्यं न गृह्यते। एवमिहापि संस्कारा न कर्तव्या इति ।।५४।।

क्रिया वा स्यादवच्छेदादकर्मं सर्वहानं स्यात् ।।५५।।

यदा तु कर्मशेषप्रतिषेधपक्षस्तदाऽपि किं न कर्तव्याः संस्कारा इति। नैतदेवम्। क्रिया स्यादवच्छेदपक्षे। यागो हि तदा भवति। तस्मात् सर्वे यागपदार्थाः कर्तव्याः। यदि न यागो भवेत्ततोऽकर्म। संस्काराणां सर्वहानं स्यात्। यागस्तु तदा भवति। तस्मात् कर्मशेषप्रतिषेधपक्षे सर्वं कर्तव्यमिति ।।५५।।

—:०:—

[आज्येन शेषं संस्थापयतीति वाक्ये कर्मान्तरविधानाधिकरणम् ।।१४।।]

पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजति, इति प्रकृत्य श्रूयते। आज्येन शेषं संस्थापयतीति। तत्र सन्देहः किमाज्यं पूर्वस्मिन् प्रतिनिधिभूतम्, अथवाऽऽज्यद्रव्यकं पूर्वस्मात् कर्मान्तरं विधीयत इति। किं प्राप्तम्?

आज्यसंस्था प्रतिनिधिः स्याद् द्रव्योत्सर्गात् ।।५६।। (पू०)

प्रतिनिधिरिति। कुतः? पात्नीवतमिति द्रव्यमुच्यते। उत्सृजतीति तत्रैवोत्सर्गः श्रूयते। शेषमित्युपयुक्तेतरद्विद्यमानं गम्यते। तत् आज्येन संस्थापयतीति

क्रिया वा स्यादवच्छेदादकर्मसवहानं स्यात् ।।५५।।

सूत्रार्थः—(वा) अथवा (अकर्मसर्वहानं स्यात्) क्रिया मात्र का हान हो (अवच्छेदात्) पर्यग्निकरण किये पीछे उत्तरांग का व्यवच्छेद होने से (क्रिया) अर्थात् याग का विधान है।

भावार्थः—पूर्व वाक्य जैसे याग का प्रतिपादन करता है, वैसे 'तं पर्यग्निकृतमुत्सृजति' यह वाक्य भी याग का प्रतिपादन करता है। यह वाक्य निरर्थक नहीं और 'परस्वत्' आरण्यक पशु विशेष का दान किया जाता है, ऐसा भाव इस अधिकरण का है ।।५५।।

—:०:—

'आज्येन मेषं संस्थापयति' इस वाक्य से कर्मान्तर का विधान हैं।

इस अधिकरण के सूत्र—

आज्यसंस्था प्रतिनिधिः स्यात् द्रव्योत्सर्गात् ।।५६।।

सूत्रार्थः—(आज्यसंस्था) आज्य की समाप्ति (प्रतिनिधिः स्यात्) प्रतिनिधि होती है (द्रव्योत्सर्गात्) पूर्वद्रव्य का परित्याग होने से।

पशोः कार्यं आज्यं श्रुतं भवतीति । ननु पूर्वकर्म परिसमाप्तमित्युक्तम् । अत्रोच्यते । द्रव्योत्सर्गवचने प्रत्यक्षे शेषशब्दे वाऽपरिहृते पुनरसमाप्तं पूर्वकर्मत्याशङ्क्यते । तस्मात् प्रतिनिधीयत आज्यमित्याशङ्कामहे । संस्थापयतीति चापूर्वे नोपपद्यते ॥५६॥

इतश्चाऽऽशङ्कामहे—

समाप्तिवचनात् ॥५७॥

समाप्तिवचनमिदं भवति, संस्थापयतीति । तेन मन्यामहे, यत्पूर्वं पशुनाऽऽरब्धं तदुत्सृष्टे पशावाज्येन परिसमाप्यत इति । अपूर्वस्यात्र कर्मण उच्यमानस्याऽऽरम्भ एव वक्तव्यो भवति । यतस्त्वनभिधायाऽऽरम्भं परिसमाप्तिरेवोच्यते, ततोऽवगच्छामः । पूर्वस्यैव परिसमाप्तिः, नापूर्वकर्म चोद्यत इति ॥५७॥

चोदना वा कर्मोत्सर्गादन्यैः स्यादविशिष्टत्वात् ॥५८॥ (सि०)

कर्मान्तरचोदना वा । कुतः ? पूर्णस्य कर्मणः परिसमाप्तत्वात् । ननूक्तं द्रव्योत्सर्गे शेषवचने वाऽपरिहृते पूर्वकर्मणोऽसमाप्तिराशङ्किता भवति । अत्रोच्यते । इदं द्वयमपि परिह्रियते । संस्थापयतीति प्रकृतेन पात्नीवतशब्देन संबध्यते । तत्रायमर्थः । पात्नीवतं संस्थापयतीति । स एष यागो विधीयते । संपूर्वश्च स्थापयतिः प्रयुज्यते । अवश्यं कश्चिद्धातुः पूर्वो[1] भावनावचनस्य प्रयोक्तव्य इति, तत्राविरुद्धो भावनायामुच्यमानायामर्थप्राप्तः संस्थापयतिरालभतिरिव प्रयुज्यते शेषशब्दश्चैवं सादृश्यात् प्रयुज्यते । द्रव्योत्सर्गश्चाविरुद्ध एव याग उच्यमाने ।

भावार्थः—आज्य की समाप्ति जो बताई है, उसमें आज्य शब्द पूर्व द्रव्य के प्रतिनिधित्व का सूचक है । 'पात्नीवत्' देवता वाला है । द्रव्य आगे बताया है, उसका प्रतिनिधि आज्य पद वाच्य है, ऐसा पूर्वपक्षवादी का मत है ॥५६॥

समाप्तिवचनाच्च ॥५७॥

सूत्रार्थः—(च) और (समाप्तिवचनात्) समाप्ति का वचन होने से ।

भावार्थः—'आज्येन शेषं समापयेत्' आज्य अर्थात् घृत से अवशिष्ट कर्म समाप्त, जो कर्मान्तर का विधान होता जो 'आज्येन कर्मारभेत' इस प्रकार वाक्य होना चाहिये था । अतः अन्य कर्म का विधान नहीं ॥५७॥

चोदना वा कर्मोत्सर्गादन्यैः स्यादविशिष्टत्वात् ॥५८॥

सूत्रार्थः—(चोदना वा) अपूर्व कर्म का विधान है (कर्मोत्सर्गात्) पूर्व कर्म की समाप्ति होने से (अन्यैः अविशिष्टत्वात् स्यात्) अन्य वाक्य के साथ समानता होने से ।

भावार्थः—'पात्नीवतमालभते पर्यग्निवतमुत्सृजति आज्येन शेषं संस्थापयति' इस

---

१. 'संपूर्वो भाववचनश्च' इति पाठान्तरम् ।

तस्माद्यथाऽन्ये निर्वपत्यादयः कर्मान्तरविधाने भवन्ति, एवं तैरविशिष्टत्वात् संस्थापयतिरपि भवितुमर्हतीति ॥५८॥

अनिज्यां च वनस्पतेः प्रसिद्धां तेन दर्शयति ॥५६॥

प्रसिद्धां वनस्पतेरनिज्यामत एव दर्शयति[1]। कथम् ? यत्त्वष्टारं च वनस्पतिमावाहयसि । अथ वैतो यक्ष्यसि । त्वाष्ट्री नवमी प्रयाजेज्या, वानस्पत्या दशमी। अत्रैवैताविष्टी विद्यात्, इत्यङ्गान्तरेणानुग्रहं ब्रुवन् वनस्पतीज्याया अभावं दर्शयति। शेषपरिसमाप्तौ सत्यां वनस्पतिं जुहोतीति वनस्पतीज्या क्रियते । अथ परिसमाप्तं पूर्वं कर्म, ततो लुप्ता स्यात् । तत्राभावदर्शनमुपपद्यते । तस्मात् पूर्वकर्म परिसमाप्तम् । इदमपि कर्मान्तरमिति ॥५६॥

संस्थतादेवतत्वात् स्यात् ॥६०॥

अथ यदुक्तं, संस्थापयतीति चापूर्वे नोपपद्यत इति । तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते । असंस्थायां संस्थावचनमेतत्—तदपि पूर्वं पात्नीवतमिति समानदेवतत्वात् समाप्तिसादृश्यं ज्ञायते । तत्र तत्पात्नीवतमारब्धमिह परिसमाप्तमिति[2]। स एष

वाक्य में 'आज्येन शेषं संस्थापयति' इस भाग से एक दूसरे कर्म का ही विधान होता है यद्यपि इसमें यागवाचक कोई पद नहीं, फिर भी जैसे अन्य वाक्य है जैसे कि 'सौर्यं चरुं निर्वपेत्' यहाँ भी यागवाचक पद नहीं होने पर भी वह इस यागरूप कर्मान्तिर का विधान करता है ॥५८॥

अनिज्यां च वनस्पतेः प्रसिद्धान्तेन दर्शयति ॥५६॥

सूत्रार्थः—(प्रसिद्धान्तेन) प्रसिद्ध चरम अवयव से (वनस्पतेः) दशम प्रयाज का (अनिज्याम्) याग के अभाव को (दर्शयति) बताता है ।

भावार्थः—यह सूत्र याग के अभाव को सूचित करता है । इसलिये शेष कर्म की निवृत्ति है, ऐसा समझना । यह कथन उपर्युक्त 'पात्नीवत' याग सम्बन्धी है ॥५६॥

संस्था च तद्देवतात्वात् स्यात् ॥६०॥

सूत्रार्थः—(संस्था च) संस्था यह शब्द समाप्ति का वाचक है (तद्देवतात्वात् स्यात्) पत्नीवद् देवता के होने से ।

भावार्थः—'आज्येन शेषम्' इत्यादि से कर्मान्तर का विधान है । इसमें भी देवता का श्रवण न होने से सन्निहित पत्नीवद् देवता का ही ग्रहण होता है । अतः दोनों पूर्व और उत्तर कर्मों का साजात्य होने से पत्नीवद्देवताक जो कर्म आरम्भ किया है, वह इस कर्म से

---

१ 'पठति' इति पाठान्तरम् ।

२ 'परिसमाप्तमिति, सादृश्यात्स' इति पाठान्तरम् ।

साद्दश्यात् संस्थापयतीति शब्दोऽवकल्पत इति ॥६०॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये नवमाध्यायस्य
चतुर्थः पादः
सम्पूर्णश्च नवमोऽध्यायः ॥

अर्थात् 'आज्येन समापयेत्' इत्यादि से प्रतीत हुये कर्म से समाप्त करना चाहिये । इस उपर्युक्त अधिकरण में 'आज्येन शेषं संस्थापयति' इससे भिन्न याग विधान प्रतीत होता है ॥६०॥

इति श्री मीमांसादर्शनमाष्ये नवमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥९।४॥

इति अजयमेरु(अजमेर)मण्डलान्तर्गत-विरञ्च्यावासा (विरकच्यावासा) भिजनेन
सारस्वत-कुलावतंसस्य तत्रभवतः श्रीमतः सूर्यरामस्य प्रपौत्रेण
श्रीरघुनाथस्य पौत्रेण श्रीयमुनादेवी-गौरीलालाचार्ययोः पुत्रेण
पूर्वोत्तरमीमांसापारदृश्वनां महामहोपाध्यायाद्यनेकविरुदभाजाम्
श्रीचिन्नस्वामिशास्त्र्यपरनाम्नां वेङ्कटसुब्रह्मण्य-शास्त्रिणाम्
अन्तेवासिना भारद्वाजगोत्रेण त्रिप्रवरेण
वाजसनेयचरणेन माध्यन्दिनिना

युधिष्ठिर-मीमांसकेन
विरचितायां
मीमांसा-शाबरभाष्यस्य वैदिकतत्त्व-प्रकाशिन्यां हिन्दी-व्याख्यायां
व्योमशरखनयनाख्ये (२०५०) वैक्रमाब्दे
कार्त्तिक्यमावस्यादीपावल्यां शनिवारे
नवमाध्यायस्य व्याख्या पूर्णतामगात् ।

॥ नवमोऽध्यायः पूर्तिमगात् ॥

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

[प्रकाशित वा प्रसारित कुछ प्रामाणिक ग्रन्थ]

१. ऋग्वेदभाष्य—(संस्कृत हिन्दी वा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित) प्रतिभाग सहस्राधिक टिप्पणियां, १०-११ प्रकार के परिशिष्ट व सूचियां प्रथम भाग ५०.००, द्वितीय भाग ४०.००, तृतीय भाग ५०.०० ।

२. यजुर्वेदभाष्य-विवरण—ऋषि दयानन्दकृत भाष्य पर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण । प्रथम भाग १४०.००, द्वितीय भाग ६०.०० ।

३. तैत्तिरीय संहिता—मूलमात्र, मन्त्र सूची सहित । ६०.००

४. तैत्तिरीयसंहिता-पदपाठः—५० वर्ष से दुर्लभ ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन, बढ़िया सुन्दर जिल्द १२५.०० ।

५. अथर्ववेदभाष्य—श्री पं० विश्वनाथजी वेदोपाध्यायकृत । १-३ काण्ड ५०.००; ४-५ काण्ड ५०.००, ६ काण्ड ४०.००, ७-८ काण्ड ४०.००, ९-१० काण्ड ४०.००, ११-१३ काण्ड ३५.००, १४-१७ काण्ड ३०.००, १८-१९ काण्ड २५.००, बीसवां काण्ड २५.०० ।

६. ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका—पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित एवं टिप्पणियों से युक्त । सजिल्द ३५.०० ।

७. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट—भूमिका पर किये गये आक्षेपों के ग्रन्थकार द्वारा दिये गए उत्तर । ५.००

८. भूमिका-भास्कर—स्वामी विद्यानन्द सरस्वती । दोनों भाग ३००.००

९. माध्यन्दिन (यजुर्वेद) पदपाठ—शुद्ध संस्करण । ६०.००

१०. गोपथब्राह्मण (मूल)—सम्पादक श्री डा० विजयपालजी विद्यावारिधि । सबसे अधिक शुद्ध और सुन्दर संस्करण । ६०.००

११. कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी—(ऋग्वेदीया) षड्गुरुशिष्य विरचित संस्कृत टीका सहित । टीका का पूरा पाठ प्रथम बार छापा गया है । विस्तृत भूमिका और अनेक परिशिष्टों से युक्त । १२५.००

१२. ऋग्वेदानुक्रमणी—वेङ्कट माधवकृत । इस ग्रन्थ में स्वर छन्द आदि आठ वैदिक विषयों पर गम्भीर विचार किया है । व्याख्याकार—विजयपालजी विद्यावारिधि । ४०.००

१३. वैदिक-साहित्य-सौदामिनी—स्व० श्री पं० वागीश्वर वेदालङ्कार । काव्यप्रकाश साहित्यदर्पण आदि के समान वैदिक साहित्य पर शास्त्रीय विवेचनात्मक ग्रन्थ । सजिल्द ६०.००

१४. वैदिक छन्दोमीमांसा—यु० मी० । नया संस्करण ३०.००

१५. वैदिक स्वर-मीमांसा—यु० मी० । ,, ,, ३५.००

१६. उरु-ज्योति— डा० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित वेदविषयक स्वाध्याय योग्य निबन्धों का संग्रह । सुन्दर छपाई । पक्की जिल्द २०.००

१७. वैदिक जीवन—श्री विश्वनाथजी विद्यामार्तण्ड द्वारा अथर्ववेद आधार पर वैदिक जीवन के सम्बन्ध में लिखा गया अत्यन्त उपयोगी स्वाध्याय योग्य ग्रन्थ। अजिल्द १५.००, सजिल्द २०.००

१८. वैदिक गृहस्थाश्रम—पूर्व लेखक द्वारा अथर्ववेद के आधार पर लिखित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। सजिल्द ४०.००

१९. शतपथब्राह्मणस्थ अग्निचयनसमीक्षा—लेखक पं० विश्वनाथजी वेदोपाध्याय। सजिल्द ४५.००

२०. बौधायन-श्रौत-सूत्रम्—(दर्शपूर्णमास) भवस्वामी और सायणाचार्य की व्याख्या सहित। मूल्य ५०.००। अग्न्याधान प्रकरण और आधान पद्धति—सुबोधिनी वृत्ति सहित। ५०.००

२१. दर्शपूर्णमास-पद्धति—पं० भीमसेन कृत, भाषार्थ सहित ३०.००

२२. कात्यायनगृह्यसूत्रम्—(मूलमात्र) अनेक हस्तलेखों के आधार पर हमने इसे प्रथम बार छापा है। २५.००

२३. श्रौतपदार्थ-निर्वचनम्—(संस्कृत) अग्न्याधान से अग्निष्टोम पर्यन्त आध्वर्यव पदार्थों का विवरणात्मक ग्रन्थ। सजिल्द ४०.००

२४. श्रौत-यज्ञ-मीमांसा—(संस्कृत तथा हिन्दी)। ३०.००

२५. संस्कार-विधि—शताब्दी संस्करण, ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट। राजसंस्करण ५०.०० सस्ता संस्करण १२.०० अच्छा कागज सजिल्द १५.००।

२६. वेदोक्त-संस्कार-प्रकाश—पं० बालाजी विट्ठल गांवस्कर द्वारा मूल मराठी में लिखे गये ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद। २५.००

२७. अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय—इस में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, सुपर्णचिति सहित सोमयाग, चातुर्मास्य, वाजपेय आदि यागों का वर्णन है। २०.००

२८. निरुक्त-श्लोकवार्त्तिकम्—केरलदेशीय नीलकण्ठ गार्ग्य विरचित एक मात्र मलयालम लिपि में ताडपत्र पर लिखित दुर्लभ प्रति के आधार पर मुद्रित। आरम्भ में उपोद्घात रूप में निरुक्त-शास्त्रविषयक संक्षिप्त ऐतिह्य दिया गया है। (संस्कृत) सम्पादक—डा० विजयपाल विद्यावारिधि। उत्तम कागज, शुद्ध छपाई तथा सुन्दर जिल्द सहित। १२५.००

२९. अष्टाध्यायी (मूल)—शुद्ध संस्करण ६.००

३०. अष्टाध्यायी-भाष्य—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत। प्रथम भाग ६०.००, द्वितीय भाग ४०.००, तृतीय भाग ५०.००। पूरा सैट १५०.००

३१. धातुपाठ—धात्वादिसूचीसहित, सुन्दर शुद्ध संस्करण। ५.००

३२. क्षीरतरङ्गिणी—क्षीरस्वामीकृत। पाणिनीय धातुपाठ की सबसे प्राचीन एवं प्रामाणिक व्याख्या। सजिल्द ७०.००

३३. धातुप्रदीप—मैत्रेयरक्षित विरचित पाणिनीय धातुपाठ की व्याख्या सजिल्द ५०.००

३४. वामनीयं लिङ्गानुशासनम्—स्वोपज्ञव्याख्यासहितम् । १०.००

३५. संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि—लेखक श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु । प्रथम भाग २५.००, द्वितीय भाग २५.००

३६. महाभाष्य—हिन्दी व्याख्या—(द्वितीय अध्याय पर्यन्त) यु० मी० प्रथम भाग—(प्रथम खण्ड ६५.००, द्वितीय खण्ड ६०.००), द्वितीय भाग ५०.००, तृतीय भाग ७५.००

३७. उणादिकोष—ऋ० द० स० कृत व्याख्या तथा पं० यु० मी० कृत टिप्पणियों एवं ११ सूचियों सहित । अजिल्द २०.००

३८. दशपादी-उणादिवृत्ति—माणिक्यदेव विरचित वृत्ति । ५०.००

३९. भागवृत्तिसंकलनम्—अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्ति । १०.००

४०. अष्टाध्यायीशुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः—डा. विजयपाल विरचित पी० एच० डी० का महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध (संस्कृत) ५०.००

४१. सूर्य-सिद्धान्त—हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याता—श्री उदयनारायणसिंह । आरम्भ में १४६ पृष्ठ की महत्त्वपूर्ण भूमिका है । ६०.००

४२. अनासक्तियोग—लेखक—पं० जगन्नाथ पथिक । ४०.००

४३. विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम् (सत्यभाष्य-सहितम्)—पं० सत्यदेव वसिष्ठ कृत आध्यात्मिक वैदिक भाष्य । ४ भाग सम्पूर्ण मूल्य २००.००

४४. शुक्रनीतिसार—स्वामी जगदीश्वरानन्द कृत प्रतिपद पदार्थ और व्याख्या सहित बढ़िया कागज, पक्की सुन्दर जिल्द । ६०.००

४५. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसक कृत नया परिष्कृत परिवर्धित संस्करण । तीनों भागों का मूल्य १५०.००

४६. मीमांसा-शाबर-भाष्यम्—आर्षमतविमर्शिनी हिन्दी व्याख्यासहित व्याख्याकार—युधिष्ठिर मीमांसक । प्रथम भाग ६०.००, II ५०.००, III ५०.००, IV ४०.००, V ५०.००, VI ५०.००, VII ५०.०० ।

४७. मीमांसा-शाबर-भाष्यम्—(मूल मात्र) प्रथम भाग ६०.००

४८. प्रपञ्चहृदय तथा प्रस्थानभेद (संस्कृत) २५.००

४९. नाडीतत्त्वदर्शनम्—श्री पं० सत्यदेव जी वसिष्ठ । ६०.००

५०. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन—चार भाग प्रत्येक भाग ३५.००

५१. सत्याग्रह-नीति-काव्य—आ० स० सत्याग्रह १९३९ हैदराबाद जेल में पं० सत्यदेव वसिष्ठ द्वारा विरचित हिन्दी व्याख्या सहित । ३०.००

पुस्तक प्राप्ति-स्थान—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) १३१०२१

रामलाल कपूर एण्ड संस, २५९६ नई सड़क, देहली

उजागर भवन, बिरहाना रोड, कानपुर